त्रैमासिक
शोध-पत्रिका

प्रधान सम्पादक
[illegible]

भाग ४८
अङ्क १-४

जनवरी-दिसम्बर
सन् १९९७ ई०

सहायक सम्पादक
डॉ० [illegible]

एकेडे

हिन्दुस्तानी

त्रैमासिक

[संयुक्ताङ्क]

भाग २८ — जनवरी-दिसम्बर

अंक १-४ — सन् १९६७ ई०

प्रधान सम्पादक

बालकृष्ण राव

सहायक सम्पादक

डॉ० सत्यव्रत सिन्हा

मूल्य संयुक्तांक : १० रुपया

वार्षिक १० रुपया

प्रकाशन तिथि दिसम्बर १९६९

कविता का क ख ग श्री राम वर्मा १७ महाजनी टोला इलाहाबाद ।

इतिहास और ऐतिहासिक नाटक—डा० धनंजय c o श्री पतिराम यादव प्राध्यापक, ईश्वर शरण कालेज, इलाहाबाद-४ ।

बंकिमचन्द्र के उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद और उनकी लोकप्रियता—डा० गोपाल राय, हिन्दी विभाग, पटना कालेज, पटना ।

पदमावत की अर्थ मीमांसा—डॉ० पारसनाथ तिवारी, हिन्दी विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।

अक्षर—डॉ० कैलाश चन्द्र भाटिया, हिन्दी विभाग, अलीगढ़ विश्वविद्यालय, अलीगढ़ ।

संस्कृत भाषा-साहित्य : उद्भव और विकास—डॉ० राजेन्द्र मिश्र, संस्कृत विभाग, प्रयाग विश्वविद्यालय, इलाहाबाद ।

ब्रज और गुजरात का सांस्कृतिक सम्बन्ध—डॉ० ओमप्रकाश सक्सेना, अतरसुइया, इलाहाबाद ।

पृथ्वीराज रासो : महोबा समय—डॉ० कस्तूरचन्द्र जैन, हिन्दी विभाग, शासकीय विज्ञान महाविद्यालय, जबलपुर ।

कवि-मानस का विश्लेषण—सत्यप्रकाश मिश्र, मधवापुर, इलाहाबाद ।

रसाभास का ऐतिहासिक क्रम से पर्यवेक्षण—डॉ० प्रशान्त कुमार वेदालंकार, सरस्वती भवन, जी० टी० रोड, शक्तिनगर, दिल्ली ।

. शब्द और अर्थ : हिन्दी-संत-साहित्य के संदर्भ में—डॉ० राजदेव सिंह, पंजाब विश्वविद्यालय स्नातकोत्तर प्रादेशिक हिन्दी केन्द्र, रोहतक ।

. परसन साहित्य : एक सांस्कृतिक मूल्यांकन—डॉ० विमलेशकांति वर्मा, c o, डॉ० स्नेहलता श्रीवास्तव, बी-१, स्टाफ क्वार्टर्स, इन्द्रप्रस्थ कालेज, दिल्ली ।

: जायसी का स्थितिकाल—हरिप्रसाद नायक, दलसिंह सराय, दरभंगा ।

: प्रतिपत्तिका :

(१) रहस्य कथाएँ : एक विवेचन—प्रतिभा पाण्डेय

(२) कवि तोष और सुधानिधि—किशोरीलाल गुप्त

(३) जैसलमेर के कतिपय लोकविश्वास—मोहनलाल पुरोहित

४) सोवियत संघ में बौद्ध संस्कृति एवं कला—उदय नारायण सिंह

(५) नामदेव की हिन्दी-पदावली की भाषा का स्वरूप—डॉ० राजनारायण मौर्य

(६) भक्तियुगीन हिन्दी-काव्य में नारी भावना—जहूर जायसी

नये प्रकाशन समीक्षकों की दृष्टि में

कविता का क ख ग

• श्रीराम वर्मा

सोचने और बोलने तथा रचने में परस्पर संबंध होता है। ये सापेक्ष क्रियाएँ हैं। कल तक यह माना जाता था कि सोचना पहले होता है, बोलना बाद में। लेकिन आज यह सिद्ध हो गया है कि बोलना पहले होता है। इसलिए भाषा एक ऐसी महत्त्वपूर्ण इकाई है जो किसी भी चिन्तन को अनायास और सायास भी (वाचन और लेखन के स्वरूप की दृष्टि से) रूप देती है, और चूँकि चिन्तन को रूप देती है, इसलिए वह पहले होती है। भाषा-वैविध्य और उसका विकास, उसकी निश्चिति, उसके विशेष वाक्य-रचना-विधान, उसकी भौगोलिक-शारीरिक दृष्टि से उच्चारण या सुविधाप्रद रूप, चिन्तन-वैविध्य तथा चिन्तन-वैशिष्ट्य को रूप देते हैं। इस प्रकार और विविधतापूर्ण अन्तर को अनुवाद और वाक्य-रचना तथा शब्दों के माध्यम से देखा जा सकता है। भाषा व्यक्ति, जाति, स्थान, चिन्तन की दिशा, सबको व्यक्त कर देने में सक्षम है। इसीलिए विषय भाषा का आन्तरिक रूप भर होता है, अतिरिक्त कुछ नहीं। भाषा वस्तु-जगत का सहज परिणाम ही नहीं है, बल्कि निरन्तर पल्लवित बौद्धिक संघटना की, उसके प्रतिफलन की संमूर्ति भी है। इसीलिए भाषा अनवरुद्ध सर्जन तथा 'अवरुद्ध सर्जन' (सभ्यता) दोनों से नितांत संबद्ध है, अंत:संबद्ध है।

जिस भाषा का प्रयोग कोई भी करता है, उसकी रुचि और उसका चिन्तन उसमें उजागर होते हैं। साथ ही उसका परिवेश भी। इनके परिणामस्वरूप हम देखते हैं कि हिन्दी में क्रियाओं तक में यौनीकरण पाया जाता है। जापानी में हृदय के लिए कई शब्द हैं, अरबी में ऊँट के लिए हजारों शब्द हैं और एस्कीमो में बर्फ के विविध प्रकारों के लिए विविध शब्द। भाषा के बदलते ही विश्व दृष्टि बदल जाती है। इसीलिए प्रवहमान मानव चेतना के साथ भाषा या प्रवहमान भाषा के साथ मानव-चेतना बदलती रहती है। शब्द और अर्थ में एक या अनेक सम्बन्ध होता है। क्योंकि उसके पीछे परिस्थितियाँ और संदर्भ होते हैं। ये परिस्थितियाँ और संदर्भ एक शब्द को अर्थों के एक परिवार में रूपान्तरित करते रहते हैं, उनके कोण और रंग रचते रहते हैं। इसीलिए मनुष्य के पास, मनुष्यरूपी शिशु के पास भाषारूप खेल है जिससे वह सदा खेलता रहता है। शब्द कुछ नहीं होते, उनका कोई अर्थ नहीं होता, वे न पुराने होते हैं न नये न वे मरते हैं न जाते वे केवल होते हैं सदर्भ और स्थिति उन्हें अर्थवान बनाती है वे संकेत मात्र हैं 'चिह्न मात्र हैं केवल ये सौमित्र मला केयर और कल्ल क्या

जान (बालकृष्ण राव) एक जाति या एक जीवित समुदाय उस उन अर्थ/अर्थों का सर्वथा मार देता है, तब उसका सकतक वह शब्द भी राख हो जाता है।

भाषा के दो संस्थान हैं। (कारनेप) एक अभिव्यक्तिपरक, दूसरा प्रातिनिधिक। भाषा जो व्यक्त करती है, वह किसी एक का उसके संस्कृत या संस्कारगत का व्यक्तीकरण होता है, पर उसके साथ उसका अनुभव, निजी अनुभव होता है। पर हम उस निजी पक्ष को न? कर कर निर्वैयक्तिक पक्ष को ही पकड़ पाते हैं। (बर्ग साँ) इसीलिए कुछ नये कुंजी शब्द एक पीढ़ी या एक युग को व्यक्त करने के लिए गढ़ लिये जाते हैं। बहुत ज्यादा उपयोग या बहुत ज्यादा परिचय के कारण आविष्कृत शब्द, वैयक्तिक रंगों की अभिव्यक्ति के लिए विशिष्ट अनुभूति वाले आविष्कृत शब्द निर्वैयक्तिकता की अन्तिम सीमा पर सामान्य होकर मर जाते हैं। मर नहीं जाते, बल्कि कविता से गद्य में चले जाते हैं। "गद्य एक ऐसा अजायबघर है जहाँ कवियों की बिंबात्मक अनुभूतियों के जीवंत प्रतीक जड़ता को प्राप्त कर सदा के लिए संरक्षित हो जाते हैं।" (बर्ग साँ) कविता में उन शब्दों का पानी उतर चुकता है। भाषा की यह रीति, यह जड़ता, यह आदत इंद्रियों और बुद्धि को इतनी ग्रस्त करती है। इसमें एक लाभ यह अवश्य होता है कि शब्द परिवर्तमान संस्कृति द्वारा स्थिरीकृत सभ्यता के चिह्न हो जाते हैं और उन स्थानीय बोलियों से भी उठ जाते हैं, जिनसे वे जन्म ले सके थे और जो उनकी धात्री थी।

बोलना और तब सोचना, यह क्रम समूह का, सामान्य का और पूरी जाति का होता है। रचनाकार अपने माध्यम के स्तर पर न समूह होता है, न सामान्य, न पूरी जाति। वह उनका या तो प्रतिनिधि होता है या अन्वेषक या दोनों। इसीलिए वह बोलता है और तब सोचता है, सोचता है और तब बोलता है। उसका क्रम अनुलोमी-प्रतिलोमी है। इसीलिए उसकी भाषा उस समूह की, उस सामान्य को, उस जाति की प्रतिनिधि हो सकती है। यानी 'जनता में जीता है शब्द, कविता उसे मूर्यत्व देती है।' पर उसके सामने अन्वेषण की समस्या सदैव बनी रहती है, क्योंकि 'कभी बासन अधिक घिसने से मुलम्मा छूट जाता है।' (अज्ञेय) वस्तुतः जन-भाषा को रचनाकार अनुभूति के कोन पर उठाकर स्थापित करता है। उसे वैशिष्ट्य दे देता है। ऐसा वैशिष्ट्य, जो अब तक नहीं था। एक तरह से रचनाकार को भाषा के अभिव्यक्तिपरक और प्रातिनिधिक संस्थानों के बीच 'सैंडविच' रहना होता है। इसी 'सैंडविच्ड' स्थिति में उसकी अन्वेषण-प्रक्रिया गतिमान होती है। अपनी इस प्रक्रिया में जहाँ वह सफल हुआ, स्वयं दुहराने लग जा सकता है, कुंजी शब्दों का व्यवहार करने लग जा सकता है, और अंततः वह रूढ़ियों का शिकार हो जा सकता है। ऐसे रचनाकार की रचना अर्थ नहीं देती, अर्थ-पतित होने लगती है, अनार्थिक हो जाती है। इस 'सैंडविच्ड' स्थिति के कारण रचनाकार की संपूर्ण प्रक्रिया दुहरी होती है और यदि वह जागरुक है तो वह इन रूढ़ियों से बचा रह सकता है, अन्यथा नहीं। रूढ़ि और प्रौढ़ि के अन्तर को पहचान करना कठिन नहीं है। जब तत्सम और तुन्दिल शब्द और जन्मना छरेरे और फुर्तीले शब्द, दोनों एक साथ या अलग-अलग या केवल एक प्रकार के ही सही, नये अर्थों में ढल रहे हों या अर्थ को आगे ले जाते हों तब रूढ़ि नहीं होती किंतु इसका विपरीत उसे रूढ़िजर्जर बना सकता है

रूढ़ियों के बनने का एक मुख्य कारण यह भी है कि हम शब्द को अच्छी चीज़

मानकर रचना के नाम पर या तो उनका संग्रह प्रस्तुत कर देते हैं या रचना में उन्हें लोभवश स्थान दे देते हैं। और सत्य यह है कि 'वस्तुएँ केवल तथ्य है।' (विटगेंस्टाइन, जयन्त भट्ट) इसलिए वस्तु का, 'अच्छी चीज़' का नहीं, तथ्य का मूल्य है। शब्द यदि तथ्य को, अनुभव को व्यक्त नहीं करते, तो 'अच्छी चीज़' भले हों, उनकी सजावट का मूल्य कुछ नहीं हो सकता। दूसरे, भाषा में हमारा अतीत और हमारी परंपराएँ अंतर्निहित रहती हैं। उनको या तो हम नया संदर्भ नहीं देते या उन्हें विकसित नहीं करते, उपभोग मात्र करते रहते हैं, इसलिए भाषा जड़ हो जाती है, याद की हुई तस्वीर बन जाती है। फलत: रचना में आयी हुई संस्कृति अपनी समग्रता में मुरझा जाती है और देश-जाति का पुष्प डाल से लटका भर रहता है। यही रचनाकार का निकम्मापन है, जहाँ वह भाषा के खँडहर पर गर्व करता है।

भाषा बिना अनुभव के 'कुछ नहीं' है। भाषा अनुभव है। है। और इसीलिए चेतन, अवचेतन और उपचेतन मन को देखते हुए मनुष्य कुएँ या तलघर की तरह गहन और रहस्य-पूर्ण है। इसमें 'अँधेरे, अँधेरे में सीढ़िया, सीढ़ियों पर काई और गीलापन और अंतत: अथाह काला जल' (मुक्तिबोध) है। यहीं से भाषा प्रारंभ होती है और चांदनी का सैलाब, मूँगिया पत्थर की उद्दीप्ति, आँखों की चमक लिये ऊपर आती है। इसीलिए भाषा स्वयं उपलब्धि है। जिस रचनाकार की भाषा उपलब्धि बन जाय, निश्चय ही वह महान है। भाषा अपने प्रवह स्वभाव के कारण और आगे जाती है, क्योंकि भाषा सातत्य का एक रूप है।

इसीलिए रचनाकार अपने समय के साथ भाषा की तलाश करता है। एक ओर (बर्गसाँ) 'कामन सेंस' उसे आंदोलित करता है, दूसरी ओर (सार्त्र) स्वातंत्र्य-भरा दायित्व-बोध। यानी वह चुनाव करता है। उसके पहले उसका निजी अनुभव होता है जो उसके कर्मों और जीवन-संबंधों से रूपायित होता है, उस अनुभव में क्या मूल्यवान है, या क्या मूल्यवान नहीं है, इसके चुनाव के बाद क्या अन्वेषित किया जाना है, यह प्रश्न भी मथता रहता है, अनास्था के साथ मथता रहता है। फिर यह भी कि उसकी दृष्टि किन आसंगों और आकर्षणों से परिचालित हो रही है, यह प्रश्न भी बना रहता है। इस प्रश्न के मूल में हम पश्चिम के पाप और पूर्व की अविद्या और दोनों के समांतर या द्वयर्थी रूप भी देख-परख सकते हैं, शायद यह भी देख सकते हैं कि रचना के पार्श्व में कोई दर्शन आरोपित या अंतर्हित या अन्वेषित है अथवा दर्शनाभाव या दर्शनाभास (जैसे आज के भारत में) है किंवा नहीं।

कोई भी वस्तु तथ्य रूप में धुँधली होती है। यानी एक कुहासा होता है, वह नहीं होती, अत: तथ्य होता है। क्योंकि चीजें एक-दूसरे में घुली-मिली, एक-दूसरे को काटती, प्रक्षिप्त करती अनंतता में सँवरी हुई, स्वयं एक 'होना' हैं। किरणें भी गुरुत्वाकर्षण से प्रभावित हैं, इसलिए दृष्टि का दर्शन सत्य नहीं है, माया है। (आइन्स्टाइन, रसेल, शंकर), केवल उसकी धारणा यानी तथ्य सत्य है। इसलिए एक 'सही नाम' (नकेन) उस 'तथता' को समझने के लिए रखना या मानना आवश्यक होता है। यह देखना, किंतु वर्गहीन देखना होता है क्योंकि वह सर्जन होता है। सर्जन वर्गनिरपेक्ष होता है। वर्गत्व सर्जन से निरपेक्ष है: वर्गत्व सुविधा है या फिर द्वाप रचना पर वह स्वयं सर्जन नहीं है सर्जन वर्ग से उठा हुआ ही हो

सकता है। अन्यथा वह अवर है या नहीं है। सर्जन पश्चिम की केवल पाप-दृष्टि भी नहीं है, न ही पूर्व की अविद्यामूला चिंता ही है। वह इनसे आगे या परे है।

सर्जन बाह्य के संदर्भ में या सामने अंतःसत्य का उद्‌घाटन है, जो न इंद्रियातीत है, न बुद्धि से अगोचर। सर्जन भेद की तह में अभेदता का धागा है, 'ब्रह्मसहोदर', अनवहेलनीय 'आनन्द-कन्द'। चूँकि सर्जन के रूप विविध हैं, इसलिए इन विविध रूपों की प्रक्रिया और शास्त्र भी विभिन्न दीख जाते हैं। पर सर्जन के ये विविध 'रूप मात्र हैं केवल', अंततः सब कुछ 'एकमेव' सर्जन ही है, इसलिए प्रक्रिया भी मूलतः एक है और शास्त्र भी मूलतः एक ही है।

पर इतने से, इतना जान लेने से ही रचना नहीं हो जाती। उसे प्रेषणीय बनाना होता है, जहाँ रचनाकार अलग हो जाता है। रह जाता है केवल मधु। रचना हो जाती है स्वयंभू, अद्वितीय, आवश्यंध्यातथ्य। ज्ञाता पार्श्व में, नेपथ्य में चला जाता है, ज्ञान रह जाता है शुद्ध, निर्विकल्प, नवनीतवत्। रचनाकार जब अपनी लीनता की स्थिति से, सृष्टि से, ज्ञेय-ज्ञान-ज्ञाता के अभेदत्व से मुक्त होता है, एक से दो होता है, तब वह रचना से सर्वथा अलग एक इकाई होता है। दोनों की सत्ताएँ स्वतंत्र और पृथक् हो जाती हैं। प्रेषणीयता इसी से और यहीं से शुरू होती है और अनिवार्य हो जाती है। इसके बिना निजी अनुभूति, चाहे जितनी सूक्ष्म, हस्तामलकवत् या मूल्यवान हो, पूर्ण रचना या रचना की पूर्णता की हकदार नहीं होती।

वह अनुभूति, जो एक क्षण में पूर्व समस्त क्षणों के अनुभवों का प्रतिफल या उन्नयन होती है, मूल्यवान अनुभूति होती है। किंतु, उसकी मूल्यवत्ता का कोई अर्थ तभी है, जब वह अद्वितीय हो। 'क्षण में प्रवहमान अद्वितीयता' अनुभूति की ही होती है, लेकिन वह भी निजी रह जा सकती है, यदि उसे प्रेषणीय नहीं बना लिया जाता। यह तभी संभव है, जब चेतना से स्मृति (को नहीं) के सम्मोह को क्षण भर के लिए अलग रख दिया जाय। तब साधारण से साधारण अनुभव भी संपूर्ण अस्तित्व से प्रस्तुत हो सकता है; जो 'कठौता' है, 'आँख' हो जा सकता है। कथ्य, शिल्प और लेखक के नैतिक तनावों का निकट संबंध इसीलिए होता है। (फ्रेडरिक जे० हाफमैन) रचनाकार की तनाव की स्थिति विकास की दृष्टि से उसकी प्रारंभिक स्थिति है, तनाव का अंत शम में होता है। उसके बीच कई प्रकार की द्वंद्वात्मक या पृथक्-पृथक् स्थितियाँ हो सकती हैं; होती हैं। तनाव, तनाव और शम के बीच मोहक उल्लास, निरीहता आदि। शायद शम बड़े और महान रचनाकार का गुण होता है। तनाव में, उसकी शिखरारोही तीव्रता से रचनाकार उठ जाय, यह अलग बात है। इसीलिए उसकी भाषा तनाव की स्थितियों में चमकदार, लावाभरी, विशृंखल और आकर्षक होती है; बीच की स्थितियाँ लें, तो उल्लास में ऐंद्रजालिक या जादुई और निरीहता में सादी, खादी के धागों से बुनी-बटी या उस निरीहता में, घिग्घी के बँधने में, सींक और पत्तियों की नाव से समुद्र पार करने जैसी विवश इच्छा के कारण भाषा उस निरीहता से ऊपर उठ जाती है। ऐसी भाषा की शुरुआत कभी-कभी थकी हुई भाषा से होती है यह थकी हुई भाषा कभी-कभी स्वयं मजनबीपन समाप्त होते ही सर्वथा नयी और सशक्त लगने लगती है निरीहता के कई

'शेड्स' होते हैं, इसीलिए वह निरीहता महत्त्वपूर्ण है जो समग्र ब्रह्मांड को देखकर मनुष्य मे शक्ति-स्फोट के लिए, विश्व-दर्शन के बाद अर्जुन को सचेतन युद्ध के लिए प्रेरित करती है। सच्ची निरीहता शमस्तहोदरा है।

रचनाकार जानता है, बल्कि सोचता है कि वह जानता है कि मैं केवल मैं नहीं हूँ। मै एक जीवंत संस्कृति हूं। जब मैं चलता हूं तो संस्कृति मेरे साथ चलती है। जो शासक है, शासक का कुत्ता है, उसके पीछे चारामी चलते हैं। संस्कृति केवल रचनाकार के साथ चलती है। राजनेता और दार्शनिक, रचनाकार मे छोटे है, क्योंकि वे पूर्ण नहीं है, समग्र नहीं है। लेकिन राजनीति और दर्शन रचनाकार के अंतःप्रकरणों के लिए तालाब के भीतर से निकलने वाले स्वर्ण-नील कमलों की भांति, उसकी गार्हपत्य अग्नि के लिए ज्यामितिक आधान की तरह उपयोगी होता है। रचनाकार के ऊपर है कि वह संपूर्ण ज्ञान को अवभृथ-जल की भाँति स्वीकार करे, उसे अपने तालाब में डाल न दे। रचनाकार के सामने पारंपरिक ज्ञान का मोहक मिथक रहता है (जॉर्ज सेंट्याना) जो उसे प्रेत या जीवंत चक्रवर्ती, दोनों बना सकता है। यह उसके ऊपर है कि वह उससे स्वयं क्या बनता है। या तो वह 'प्रेरणा की आग' (मोजार्ट) मे तप कर, वैश्वानर को जानकर (नचिकेता) निखर सकता है या जलकर राख हो सकता है। उसके (भारतीय के) सम्मुख फिर यह नहीं होता कि पश्चिम उसे कुंठित कर दे। वह 'दिशाहारा' नहीं होता; वह 'सर्वहारा' होकर भी सर्वसम्मान्य होता है, उसके बाल प्लेटिनम की तरह चमकने लगते हैं। (वि० दे० ना० साही) वह कालातीत, देशातीत ब्रह्मांड-व्यक्ति हो जाता है। (तॉल्सतॉय) तो भी उसकी रचना मे कुछ महान घटित ही हो जाय, नही कहा जा सकता। यह तो राष्ट्रनायकों और बौद्धिकों के ऊपर ही निर्भर करता है कि वे जो बोधव्य है, रचना मे कहां तक पाते हैं और देते हैं।

लेकिन रचनाकार जीवित रहते, रचनारत रहते पूर्ण नहीं होता। वह हर बार पूर्ण होकर भी अपूर्ण रह जाता है। बुद्ध होकर भी बोधिसत्व रहता है। पूर्णता के शिखरों पर अधिरोहण करके भी शून्य की स्थितियों मे लौट-लौट आता है। मुक्त होकर भी बंध-बिंधा रहता है। वह संबोधि का, मुक्ति का, पूर्णता का सातत्य है; गतिपूर्ण चेतना-प्रवाह है। 'सादगी व पुरकारी,' 'अहूर तरलीय', 'इतिहास-चक्र', 'सामाजिक अवरोध' की क्रियाएँ, प्रयत्न और भूल की प्रयोगात्मक स्थितियां (हुचिसन) और 'आधुनिकता', सब उसकी भीतरी आवश्यकताएं है और सब उसके लिए जोखम भी है। आंदोलन, वाद, ज्ञान, विज्ञान, तकनीक, जीवन-पद्धतियां, परिवेश के नाम पर समग्र अतीत और वर्तमान संसार उसके लिए आवश्यक है और जोखम भी। वे सब उसे आगे ले जा सकते हैं, वे सब उसे पीछे ले जा सकते है; उसे डुबा सकते है। इसीलिए वह स्वयं के प्रति इतना सचेत होता है कि उसका सत्य होता है 'हम मरिहैं, मरिहैं संसारा।' (कबीर) लेकिन रचनाकार के रचनारत रहते उसकी कोई भी रचना केवल एक संभाव्य उत्तर होती है; उत्तरों की इतिश्री नहीं होती। उत्तरों की इतिश्री कपड़े की सिली हुई आँख मे ही सम्भव है अन्यथा वह मृत्यु है, और कुछ नहीं।

हमने भाषा को रचना का सर्वस्व कहा है वही सच है लेकिन रचना में भाषा का रूप कैसा होता है, यह प्रश्न अभी भी शेष है भाषा एक संकेत है और संकेत आंगिक

भी होते हैं। बल्कि पहले संकेत रहे होंगे, फिर चित्र, गाँठो और मुद्राओ का विकास हुआ होगा, तब कहीं भाषा आयी होगी। भाषा अपने पूर्व के अभिव्यक्ति-माध्यमों का सूक्ष्म रूपान्तरण है।

बच्चों की असम्यक् भाषा इस सम्यक् भाषा से कहीं अधिक अर्थवान, छविमय और जीवन्त अतः आनन्दप्रद होती है। बच्चों में वक्र आंगिक अभिव्यक्ति उनकी भाषा के साथ जुडी या उसमें निहित रहती है; उनके कोमल, चिकने, खुरदरे न हुए उच्चारण-स्थान और पहचान न होने के कारण, सीखने में भूल करते रहने के कारण, अनभ्यास या स्थान की अपूर्णता या अविकास के कारण स्थान-विपर्यय ग्रहण करते रहते हैं, जिससे एक विशिष्ट आकर्षण और लालित्य आ जाता है। प्राकृत भाषा के पार्श्व में समूह का बचपन रहता है, इसलिए संस्कृत की वयस्कता के सम्मुख वह अधिक आकर्षक या मर्ममोहक होती है। उसमें जैसे आँख और कान, 'गिरा' और 'नयन' निकट या मिले हुए से होते हैं। भदेस और साहित्यिक के बीच इस तरह की भाषा में स्वयंभूत ईश्वरता होती है। शायद यह सर्जनधर्मा भाषा होती है। इसी प्रकार की या इसी की तरह सर्जनधर्मा भाषा की तलाश रचनाकार करता है। कहा भी जाता है कि रचनाकार के सर्जन में बचपन और उसकी स्मृतियों का सबसे बड़ा योग रहता है।

नसेड़ियों और पागलों या घुमक्कड़ों, सैलानियों और व्यापारियों या प्रकृति के निकट या उसके बीच रहने वालों की भाषा में अलग और भिन्न रंग और गंध होती है। नसेड़ियों की आँखों में, पागलों की चीत्कार और उनकी आंगिक चेष्टाओं में एक भिन्न आकर्षक भाषा होती है। घुमक्कड़ों आदि के पास देश-देश के शब्द और पर्याय और विचित्र वाक्य-रचना और आंगिक संकेत भी अभ्यासवश होते हैं। उनकी भाषा से कुछ पाना या सीखना बड़ा मुश्किल होता है। उसमें देश-देश के भूगोल और इतिहास की गंध होती है। कभी-कभी परतंत्रता के कारण भी एक देश की भाषा भी ऐसी हो जाती है। तागाभांग और बांग्लाहिन्दी और प्राय: लेखकों के कलम से निकली हिन्दी ऐसी ही भाषाएँ हैं। सागर, नदी, पर्वत, मैदान, रेगिस्तान और जंगलों के वासी अपनी भाषा उनसे रचते हैं। गहनता, गति, गरिमा, सहजता, वैशिष्ट्य और बीहड़पन ऐसे लोगों की भाषा में खूब मिलता है। ऐसे लोगों के पास कुछ पर्याय भी होते हैं जो अन्य लोगों की भाषाओं में नहीं होते। पर्याय सूक्ष्म अंतर के द्योतक होते हैं और विशिष्ट भौगोलिक-ऐतिहासिक स्थिति या चिंतन से जुड़े होते हैं। इसलिए इनकी भाषा का विशेष मूल्य होता है। इस तरह की सारी भाषाओं की अद्वितीयता मुख्यतः यही होती है कि उनमें शब्द अधिक ऐंद्रिय, इतने कि इंद्रियातीत अर्थों तक जाने वाले, प्रासंगिक, नाटकीय, स्वयंभू और सहज, चमत्कारिक और इसीलिए आकर्षक होते हैं। आदिम भाषाओं में आदिम जातियों की वन्य गंध सहज ही मिल जाती है। इस वन्य गंध में शक्ति और सहज सम्पन्नता होती है। नृत्य-गीतों, तंत्र-मंत्रों और लोकगीतों में यह गंध केवल देखने के लिए ही नहीं है सर्जन के लिए चुनौती भी है।

शब्द नामक भाषा की इकाई अपने प्रयोग के आलोकस्फुरित के कारण कविता में सबसे अधिक होती है, क्योंकि वह वाक्य विन्यास से ऊपर उठी

महिमा' या 'उज्ज्वलतम गरिमा' रच देती है; हमें 'आठ अंगुल भूमि से 'ऊपर' (ऋग्वेद) उठा देती है।

दो शब्दों के बीच का अंतराल भी कविता में महत्वपूर्ण होता है। दो दाँतों के बीच एक चमकीन आभा घटित हो जाती है जो मसूड़े को एक नया रंग दे देती है और दाँतों पर भी उस आभा की छाया-प्रतिछाया साँवला गोरापन, साँवली उज्ज्वलता रच देती है। दो शब्दों के बीच का अंतराल अर्थ को ऐसी ही छविमय संहति देता है।

मुद्रण की सुविधा ने शब्द से हटकर अक्षर और ध्वनि तक को कविता के लिए मूल्यवान बना दिया है, जिसमें शब्द का टूटना, शब्द का जुड़ना, पंक्तियों का विशिष्ट संयोजन सब किन्हीं चमत्कारी अर्थों के वाहक हो जाते हैं। विराम-चिह्न या उनका न होना, यहाँ तक कि टाइप के टेढ़े-तिरछे, पतले-मोटे रूप और निरर्थक ध्वनियाँ, सब अर्थवान हो जाते है। विभिन्न प्रकार की क्रियाओं, प्रतिक्रियाओं तथा अंतर्साम्यों या विरोधों के द्वारा एक बिंब उद्घाटित होता है, जो रेखा, टोन तथा ढंग या माप, भार एवं गुण का चित्रविधान प्रस्तुत करता है। (पाल क्ली) कविता का शब्द नाटकीय स्वगत और प्रभाववादी चित्रकला की समान दृष्टि के समान्तर है। यही कवि की वस्तुपरकता तथा वैज्ञानिक दृष्टि की संहति है। डेविड रेकार्ड के चित्रों में ऊलजलूल माध्यम शायद इतने महत्वपूर्ण नहीं है जितने मुद्रण के ये रूप। पर बिना संयोजन के यह सब पागलपन भी हो सकता है। अन्यथा एक शब्द, एक अक्षर, एक विराम-चिह्न स्वयं एक रङ्गमंच है, नाटक है, सृष्टि के सौन्दर्य का रहस्योद्घाटन है। नाटक में दृश्य तत्त्व स्थूल होता है, उसका ग्रहण सूक्ष्म होता है; कविता में दृश्य केवल सूक्ष्म होता है क्योंकि संकेत भर, मुद्रण के ढंग भर काम करते है, उसका ग्रहण सूक्ष्मतर या सूक्ष्मतम होता है। शब्द-शक्तियाँ और अलंकार और गुण उसकी आंतरिक सम्भावना की सृष्टि करते है, बिम्ब उनकी कलात्मक संघटना को रूपान्तरित करता हुआ सुरक्षित रखता है; बिंब, शब्द को चित्रकल्पन के संक्रांत बिंदु पर तीर की तरह छोड़ता है, फन्तासी उसके उद्भावन का सम्यक् बनाती है और मुद्रण की ये विधियाँ उसे रंगमंचन प्रदान करती है। पर इतना निश्चित है कि कविता में शब्द को तोड़ना, शब्द को बाँटकर देखना है, उसे समाप्त नहीं करना है। कविता में निरर्थक शब्द भी अपने विशिष्ट प्रयोग और अर्थ-सृष्टि के कारण सार्थक है। ध्वनि भी शब्द ही है। शब्दों का प्रयोग इस प्रकार भी होता है हो सकता है कि व्यंग्यार्थ उनके आङ्गिक नृत्य में सम्भव हो जाय। शायद लक्ष्मीकान्त वर्मा इसी को 'शरारतपूर्ण सहसंयोजन' कहते हैं और जो दिक्, काल और गुरुत्वाकर्षण को कवि की ओर से एक चुनौती है, जिसमें कुलाँचें, उछल-कूद, नृत्य-गति के जटिल पैटर्न, हाथियों के झुण्ड की मौसमी केलि-क्रीड़ा, मुर्गों की लड़ाई, भीड़ की गति-ध्वनि, फेरीवालों की पुकारें, समुद्र-तट पर बोझा ढोने वालों की लयात्मक ध्वनियाँ, शिल्प-सौन्दर्यमंडित कुण्ड, धोबियों के कपड़े पछाड़ने की आवाजें (कैथराइन डनहम), घंटा-ध्वनि के समांतर डीजल इंजन की चीत्कार (स्पेंडर), समुद्र-गर्जना के समांतर सायरन की तीखी बेधक आवाज़, 'अफराये डाँगर' के समांतर ठिलती आती रेलगाड़ियों का स्वर और विद्युद्दाम के इन्द्रधनु-टंकार के समांतर 'अंगारनैन' ट्रकों के दल का गर्जना अन्ततः सब घनीभूत द्रष्टव्य और समुद्र में नगर की तरह डूबे हुए-से हैं

इसलिए कविता हस्वाक्पदीय है। यदि कविता ऐसी है तो नाटक से सूक्ष्म होने के कारण महत्तर हो जाती है। ऐसी नहीं है तो नाटक के संदर्भ में छोटी और पुरानी भी है।

ह्रस्वाक्पदीय कविता के अवर हो जाने की सम्भावना है जैसे कि किसी भी कविता के रद्दी हो जाने की। यह प्रयोग की सफलता-असफलता, सार्थकता-असार्थकता पर ही निर्भर करता है। अपने आगे-पीछे आने वाले शब्दों के सम्बन्ध तथा सन्दर्भ के प्रासंगिक अर्थ और उस शब्द के अन्य सन्दर्भों में प्रयुक्त अर्थ तथा संयोगों की वृद्धि या ह्रास के द्वारा शब्द के संगीत या अर्थ का उदय होता है। (इलियट) काल और गति को व्यंजित करने वाली लय के सूक्ष्म भेदाभेद, शब्द के संगीत या छंद या छंदोमुक्ति से रंग और रेखा तक में बदल जाने के कारण बहुत हो गये हैं, अतः सांगीतिक अन्वेषणों से लाभ भी उठाया गया है। झूठी अनुनासिकता को नकारा गया है, छंद-प्रस्तार की विधियाँ बदली हैं तुक और ताल के नये नियम विकसित हुए हैं और इस विकास में पश्चिम और पूर्व की सीमा-रेखाएँ भी टूटी हैं। यहाँ तक कि स्वाम के अनुसार, ऋतु और पहेली के अनुसार, अवचेतन संसार की खोज के अनुसार कविता की समीकरणात्मक अनुभूति की दशमलव प्रणाली से लेकर स्वास्थ्य और विटामिन विश्लेषक पर उतर जाने वाली बड़ी और महान कविताएँ भी लिखी गयी हैं और लिखी जा रही हैं। इंजीनियर के पुल-निर्माण और कवि के शब्दोत्तोलन में कहीं न कहीं समानता देखी गयी है। (इलिया एह्रेनबर्ग) कवियों के विभिन्न जीवन तथा विशिष्ट अनुभव-जगत के कारण विशिष्ट शब्द, बिम्ब, मिथक और पद्धतियाँ भी आयी हैं। बिम्ब और लय के मामले हमारे देश में अवश्य इतना नहीं हो सका है। केवल लोकज तत्त्व, आदिम जातियों का प्रतिनिधान तथा सुर आधुनिक प्रवृत्ति के अतिरिक्त एक नया जोड़ कहा जा सकता है। पश्चिम के शासन आयात और अनुकृतियाँ यहाँ अवहेलनीय हैं।

हमारी कविता निकटतम वर्तमान की है। (लारेंस) बीसवीं सदी का काव्य मानस भ तर्क या आलोचना मात्र है। (कार्ल शिपेरो) आज का रचनाकार अनिर्णीत, प्रतिनव, सामयिक प्रभावों का प्रचारक हो गया है। क्षणाभिभूत इनका व्यक्तित्व खो जाता है। (डी० जुर्गी) अखबारी प्रश्नों की अभिव्यक्ति के आधार पर कोई भी रचनाकार महान् नहीं माना जा सकता। निजी प्रश्न महत्त्वपूर्ण हैं। (स्पेंडर) और कोई भी कलाकार केवल विचारों या दर्शन का प्रचारक या प्रसारक नहीं होता। कोई भी कलाकार अपने दृष्टिकोण को ही नहीं रखता; दृष्टिकोण तो साधारण लोगों का होता है, जो कलाकार नहीं होते। (आस्कर वाइल्ड और कुछ अन्य)

ये कुछ सूत्र हैं आज की कविता को समझने के लिए। इसके लिए 'क्षण' को समझ लेना अनिवार्य है। क्षण की अनुभूति विशिष्ट होने के नाते अतीत के, परम्परा के, कलात्मक प्रौढ़ि तथा रूढ़ि के अनुभव की प्रतिभापूर्ण प्रतिक्रिया या विकृति या संयोजित विसंयोजन या अभिमत्व या प्रतिफलन है और वह या वही मूल्यवान है। काल के संदर्भ में अतीत और भविष्य वर्तमान के पूर्वापर पक्ष भर हैं सत्य है वर्तमान जो अतीत का निथरा हुआ जल है और जो भविष्य का अंतरीप बनाता है इसलिए निकटतम वर्तमान का अनुभव एक ओर अतीत -

प्रति चुनौती है, उससे आगे जाना है और है भविष्य के लिए एक महत्त्वपूर्ण देन। इसके विपरीत जो कुछ है, वह अनुभूति का कचरा है, न-कुछ है, सर्जन नहीं है।

जिसे कल 'राग' कहा जाता था, आज वह 'राग बोध' में विकसित हो गया है या रूपान्तरित हो गया है। यह बौद्धिक-वैज्ञानिक-तकनीकी युग के मानस पर पड़े प्रभाव का प्रतिफल है। इसलिए कविता का तार्किक हो जाना संगत है। रचना यदि याद की हुई तस्वीर नहीं है, तो वह 'जीवन की आलोचना' हो है—तर्कपूर्ण आलोचना, प्रायः गणितसम्मत।

अखबारी प्रश्न और निजी प्रश्न में द्वैत सम्बन्ध है। कभी ये अद्वैत भी हो सकते हैं। अखबारी प्रश्न निजी हो सकता है। स्वयं में अस्वयं हो जाने की स्थिति में अखबार और निज एकाकार हो सकते हैं। अखबार निज होकर या निज अखबार होकर खड़ा हो सकता है। जो अखबारी है, वह भी किसी संदर्भ में, किसी स्थिति में इतना मूल्यवान हो सकता है कि आज तक के निजी से अधिक घनीभूत, गहन, प्रेरक और भयानक या प्रीतिप्रद हो जाय।

अनुभूति के साथ चुनाव का प्रश्न सदैव रहता है। चुनाव की स्थिति में निजी से अखबारी और अखबारी से निजी अधिक महत्त्वपूर्ण हो सकता है। किसी ने कविता को, इस 'जीने के कर्म की परिभाषा' को, इस 'जीवन की आलोचना' को 'अखबार' की संज्ञा यूँ ही नहीं दी है। पर रचना यदि अपने समय से उठ नहीं पाती, 'वकित पल्लवन' जैसी अनुभूति नहीं देती, तो वह अखबारी ही कही जायगी; उसमें निहित अनुभूति मिथ्या या मृत या क्षणिक ही कही जायगी। वस्तुतः क्षणिक को कालातीत होने देना और अखबारी को इतना महत्तर बना देना कि वह सम्यक् और सत्य बन जाय, जरूरी है। इसके लिए विचार या दर्शन को पी जाना, आत्मसात् कर लेना, अपना बना लेना जरूरी होता है या स्वयं अपना दर्शन, अपने विचार सृष्ट करना जरूरी होता है। इसके बाद भी उसे प्रेषणीय बनाना आवश्यक होता है और वह भी इस हद तक कि वह औरों से भिन्न भी हो, सुन्दर भी हो और तद्वत् नहीं, आत्मवत् हो। 'आत्मवत्' इसलिए कि कृति अनुकृति न बने, दर्शन या अन्य देश या जाति या व्यक्ति उस पर हावी न हो जाय, और कृति गलत, ओढ़ी हुई या उपनिवेशवादी लगने न लगे। और ऐसा भी न हो कि विचार हों, दर्शन हो, लेकिन रचना न हो, रचना, रचना के फ़ार्मूलों से बुनी हुई चटाई हो।

प्रेषणीयता के लिए अनुभूति के कथ्यतत्व का क्षण सदैव अनिवार्य होता है।

हम जिस युग में साँस ले रहे हैं, उस युग में साँस से लेकर सर्जन तक के लिए पहले से अधिक अनुशासन और परिश्रम की आवश्यकता है। सर्जन अब किनारे पर है, यंत्र केंद्र में है। यंत्र आवर्तन और प्रसारण में सक्षम है; सर्जन उसका धर्म नहीं है। इसलिए यंत्र को मानवीय संस्पर्श देना सबसे बड़ा और महत्त्वपूर्ण दायित्व है। लेकिन भौतिक विकास की क्षिप्र गति के संदर्भ में हमारी अनुभावन-क्षमता मंद पड़ गयी है। क्या इसे वैसी गति दी जा सकती है? शायद तब तक नहीं, जब तक हम स्वयं यंत्र-मानव न हो जायँ। गति के नाम पर न दिखायी पड़ने वाली यंत्र-गति के सामने दिखायी पड़ने वाली तेजी जरूर उत्पन्न हो सकती है, बस। इस यंत्र-युग ने जहाँ हमें मानवीय संदर्भ में अर्थहीन बना दिया है, उसकी सिप्रता ने जहाँ हमें मूल्यहीन छिलके की तरह फेंक दिया है वहाँ स्नायविक दौर्बल्य और

क्षुण्ण जीवन और अनुभव का खंख भी बना दिया है। लेकिन यदि हम सर्जनशील हैं, यंत्र-मुक्ति के संदर्भ में यंत्र-सभ्यता के आग्रह को जानते-परखते हैं तो हम अनुभव के खंख नहीं, अनुभव के ज्वारमय समुद्र हैं। हम ऐसी सचेत स्थिति में मानवता को, संस्कृति को बचा सकते हैं। यह एक कठिन और असंभव जैसा काम लग सकता है, इससे ज्यादा नहीं।

जो हम देख रहे हैं और जो हमें दीख रहा है, उस यथार्थ के कारण हम विश्व के संदर्भ में अपने देश में ही बिना जाने सोचने लगते हैं कि अणु-शक्ति हो, चाहे चंद्र-यात्रा, हम कहीं युद्ध के बीच जरूर हैं। फलतः भविष्य सुरक्षित नहीं है। इसलिए अस्तित्व का संकट भी—केवल युद्ध के ही कारण नहीं, राजनीति, सत्ता, प्रतीक, पुरुषता और व्यावसायिक कूटनीति के कारण भी—प्रारम्भ हो गया है। उपनिवेशवाद की समाप्ति के बाद शांति और सहायता बनाम व्यवसाय का साम्राज्य अपने राजनीतिक लम्बे हाथों से स्वतंत्र हुए असमर्थ देशों को चूजे की तरह टो रहा है और सोने के अंडों के स्वप्न देख रहा है। 'ऊपर से लादी गयी इतनी स्वतंत्रता,/भीतर उकसायी गयी केवल परतंत्रता।' भारत जैसे देश में जहाँ मनुस्मृति के कुछ शब्दों को नया अर्थ और संदर्भ दे देने से स्वतंत्रता मिल गयी, वहाँ स्वतंत्रता का अर्थ केवल १५ अगस्त की हवा में ही है। आज किसी न किसी रूप में सारी दुनिया में अज्ञेय के 'लौटे हुए यात्री का वक्तव्य' घटित हो जाता है। अर्थहीनता, मूल्यों का भ्रंश, फफूंद के रेंगते तन्तु, आदमी = एक फ़ालतू पुर्ज़ा, सर्वत्र दास्तोएव्स्की की अंध गुफाएँ, मनुष्य : खंडित बिम्बों का ढेर। अवमूल्यन। अवमूल्यित चेतना। उदासी, अवसाद, ऊब, संत्रास। अकेलापन। विघटन। अचल जीवन। जैसे जो मनुष्य है, उसकी नियति केवल भोगना भर है, उसमें जीवन की परिस्थितियों को मोड़ने या प्रभावित करने की इच्छा-शक्ति मर गयी है। आज का मनुष्य या तो अभिवर्गी है या काफ़्कीय। वह कामू और जॉर्ज आर्वेल का पात्र है अथवा मलार्मीय विडम्बनाओं का शिकार। इस अंतर्मुखी, मूल्य-खोजी, अजनबी और खंडित मनुष्य को 'कहीं आग नज़र नहीं आता।' (मायाकोव्स्की)/'शीशे की तरह सन्नाटा चमकता है/और आसमान से मरी हुई बत्तखें गिरती हैं।' (साही)

मूल्य-भ्रंश, युद्ध का आतंक, राजनीति और यंत्र के दबाव से पिसा आदमी असुरक्षा की अनुभूति से ग्रस्त हो गया है। ऐसी स्थिति में कई तरह की व्यक्ति-इकाइयाँ दीख जाती है। मुख्यतः वे या तो संकेन्द्रित हैं या विकेन्द्रित। क्रोधी और जिज्ञासु, अवसरवादी, समझौतावादी, प्रतीक-पुरुष की कुंठा से त्रस्त; टूटे हुए, जिंदा मरे हुए, विकृत, अर्ध पागल, विक्षिप्त, प्रतिक्रियावादी। मतलब यह कि गड्डमड्ड, तितर-बितर, ऊल-जलूल, लिगिड़ बिगिड़ के बीच कुछ कतर-ब्योंतिये, कुछ आढ़तिये, कुछ जुआरी, कुछ दायित्वशील। ऐसे ही समय सर्जन एक जिम्मेदारी है। क्योंकि संसार के विनाश के विरुद्ध रचनात्मक कर्म ही एकमात्र बचाव है। (केनेथ रेक्सराथ) 'सम्बन्धहीन चाय' की तरह मूल्यच्युत संस्कृति को मूल्य इसी माध्यम से दिया जा सकता है।

आज की कविता में जहाँ सर्जन दीखता है, वहीं सर्जन के नाम पर सर्जन का खासा मजाक भी दिखायी देता है। कभी बिना पूर्व तर्क और विवेक के प्रतिवर्ती क्रिया (रिफ्लेक्स ऐक्शन) कर दी जाती है और क्षणिक मनोमुद्रा प्रस्तुत कर दी जाती है यह कविता अनु-

क्षण के अंकगणित की सुरक्षा से नितान्त भिन्न, हाइकू की गंभीर-गहन वस्तु से सर्वथा विपरीत विवेकहीन मुद्रा है। सन्-संवत् से जोड़ा जाने वाला सर्जन तर्क पर टिकता नहीं, क्योंकि उसमें सन्-संवत् या पीढ़ी को ही आगे लाने का व्यर्थ प्रयत्न है, वस्तु या कथ्य की अद्वितीयता नहीं। जब कि ये सन्-संवत् और ये पीढ़ियाँ केवल पहचान या इतिहास के लिए एक सुविधा के सिवा कुछ नहीं है। 'पीढ़ी' शब्द तो केवल बचाव, सुरक्षा-कवच, दूकान खोलने, दूकान बढ़ाने और पलायन के लिए एक फेंका हुआ पाँसा है। चित भी मेरी, पट भी मेरी जिसके कारण बनी रहे।

'एंटी' के पर्याय या उससे भिन्न 'अ' के झुनझुने बजाने वालों के 'प्रसन्न' सर्जन में विरति, विकृति, भावुकता, आरोपित आक्रोश, झूठी विक्षिप्तता और यौन नारेबाज़ी दीखती है, जो एक 'फू:' के सिवा कुछ नहीं है। ये पूर्ववर्तियों से इस प्रकार आगे भी नहीं जाते, सुदूर अतीत में जाला बुनते हैं। इनमें गद्य की विकृति है, विवरण का व्यर्थ फ़िल्मी कुहासा है। शेष कुछ नहीं। इन्हें देखकर कह सकते हैं कि नगर-सभ्यता ने सचमुच सर्जक को भी अन्यों की तरह पीस दिया है, जहाँ सबसे बड़ी सच्चाई वही न-कुछ का कचरा है। ये कविताएँ शायद इसीलिए कूड़ा हैं। शायद इसलिए भी कि इनके सर्जक सांस्कृतिक दृष्टि से विपन्न और कायर हैं। शायद इसलिए भी कि ये सर्जक नहीं, सर्जकम्मन्य हैं, नागर नहीं, गँवार हैं। ये नक़लची भी पूरी तौर पर ठीक तरीक़े से हो पाने में असमर्थ हैं। ये अहं की चुसनी चूसने वाले शिशु इससे ज्यादा कुछ कर भी क्या सकते हैं।

इन कविताओं के पीछे भी अनुभूत संसार से पहले एक सुविस्तृत सुना हुआ अनुकृत या अनुकृति का मोह पैदा करने वाला संसार है। 'बीट,' 'मंबूज,' 'सन ड्राइवर्स,' 'वेटिंग,' 'साइलेंट,' 'एंग्री,' 'हंग्री,' 'हिप्पी,' 'कैम्प', 'न्यूड', 'कांक्रीट,' 'दिगंबर, 'हरित कविता', 'पोइसी दि आगी,' और 'ग्रे', तथा 'रोलिंग स्टोन्स' आदि पीढ़ियाँ, वाद और संप्रदाय मेरी दृष्टि से दिमाग की राखदानी में झड़ जाने के लिए नहीं हैं, उन्हें ठीक से जानना जरूरी है और तब स्वयं को संकल्प के प्रति होने देना जरूरी है, व्यक्तित्व के साकल्य और मौलिकता की यही शर्त है।

ये सब परंपरा, व्याकरण, छन्द, काव्य-नियम, व्यवहार, रूढ़ि, राजनीति, वर्जना, सबके प्रति असन्तुष्ट हैं। असंतोष यदि आंतरिक है तो वह मूल्यवान है, लेकिन ढोंग है तो वह बेमानी है। प्रथम स्थिति में जीवन, कर्म और भाषा का आमूलचूल अन्वेषण सम्भव है, दूसरी स्थिति में अन्वेषित की नक़ल मारी जा सकती है या निरर्थक बर्राया जा सकता है। निरर्थक बर्राना और उसे आन्दोलन और प्रवर्तन कहना कम मूर्खता नहीं है। यह अपने न-कुछ को छिपाने का सबसे आसान और काँइया तरीक़ा है या निरा थोथा दम्भ है।

इस बकवास में कुछ विचित्र और भी है। ऐसा नहीं है कि ये पुराने पड़ गये बिम्बवाद से प्रभावित नहीं हैं। किन्तु ये उससे आगे बढ़ने के चक्कर में, सघन अर्थ-तरंगों पर चोट करने की ललक में या तो कथित की हत्या कर डालते हैं या अर्थ-विकास को अवरुद्ध कर देते हैं। यह बढ़ने की इच्छा और चोट करने की ललक निश्चय ही एक बड़े सामर्थ्य की पहचान है और शब्द के तातारी धनुष की टंकार को समर्पित करती हैं पर इसके लिए जि

कला-संयम और आन्तरिक अनुशासन का है वह इनमें नहीं है उन्माद से भी कम शिकार नहीं हैं इसलिए और भी यह उन्माद उन्हें अन्तय की ओर ले जाता है और उनका आवेश बौद्धिक न हो पाकर कैशोर्य ग्रहण कर लेता है। यह भी एक सच्चाई है कि यह उन्माद, यह आवेश नकल या दिखावटी है, मौलिक या प्रतिभायुक्त नहीं। नक्शेबाजियाँ उस असल और नक़ल दोनों की याद दिलाती हैं—इस तरह की रचनाओं में। 'होने' मात्र को सब कुछ समझ बैठना उनके आसान और जड़ स्वभाव में है। और ऐसा होने से शब्द न-कुछ हो जाते हैं, टाइपोग्राफ़ी हो जाते हैं। सही है कि शब्द को ठीक वैसे इस्तेमाल किया जाय, जैसे गुरुत्वाकर्षण की शक्ति से परे ले जाकर हम रॉकेट को चन्द्रमा की यात्रा के लिए भेजते हैं या 'बॉल' को जिस क़दर फेंककर चोट करते हैं। पर कथनी और करनी, चिंतन और आचरण में साम्य दिखायी नहीं देता। इनकी दोकौड़िया रचनाएँ इसकी गवाह हैं—एकाध को छोड़कर, वह भी ज़रा-ज़रा, रचनाएँ ऐसी हों, बड़ा अच्छा है। हम स्वयं मानते हैं; 'हमारा एक भी शब्द जहां है, कैसियस क्ले के मुक्के से ज़्यादा शक्तिशाली और असरदार है।'

कोई भी रचनाकार यथार्थ को सहन नहीं कर पाता। (नीत्शे) किन्तु यथार्थ के अभाव में कोई समर्थ कृति रच पाना भी कदाचित् उसके लिए सम्भव नहीं होता। (वही) यह भी हो सकता है कि वह यथार्थ को किसी ओर से लेकर ओढ़ ले या झूठा कर दे या झुठला दे। वस्तुत: रचनाकार को यथार्थ के दुराहे पर खड़े होकर एक निश्चित निर्णय लेना होता है। इस निर्णय या चुनाव के समय यदि उसके पास गहरी अन्तर्दृष्टि या सूझ-बूझ नहीं रही तो सारी (अर्जित, भुक्त और दृष्ट) अनुभव-संपदा को लोभवश या पूर्ववर्ती महान् रचनाकार की समकक्षता के निकट पहुँचने के लिए ('शार्टकट' तरीक़े अपनाता हुआ) कृतित्व के लिए उपयोगी मान लेगा। और समय की प्रत्येक भंगिमा, प्रत्येक सार्थकता-निरर्थकता उसको मुग्ध करती रहेगी। अंततः वह निरीह और निरुपाय, कि इस हद तक निरीह और निरुपाय (किन्तु शायद दंभपुष्ट) हो जायगा कि महज़ शौक़िया नारों, वक्तव्यों, राजाज्ञाओं और भाषणों को फेर-बदल कर रचना में 'फ़िट' करता रहेगा। और उसे 'फ़िट्स' आते रहेंगे, उसका 'स्वयं' कहीं खो जायगा, नहीं हो जायगा। वह वरण के दायित्व से बरी हो जायगा। रचनेतर जीवन से वह कट जायगा। वह रचना के लिए रचना को छूता रहेगा, पर वह रचना का कभी नहीं हो पायेगा। उसकी रचना रचना नहीं होगी, वह स्वयं उसका नक़ल भले रहे। सत्य क्या है, असत्य क्या है और मिथ्या या झूठा-सच क्या है, वह नहीं पहचान पायेगा। एक द्रुतगामी चक्र में वह स्वयं अपने द्वारा दे दिया जायगा और पानी पर निरीह कारुकारिता के लिए अपने आपको जीवन्मृत छोड़ देगा। फिर मूल्यगत अस्पष्टता और दिग्भ्रम की दिशाएँ फैलती जायेंगी। मनोमुद्राओं का जाल स्थिर होकर बहते हुए प्रवाह पर छाया कर लेगा। रचना उन्मादभरी जम्हाई होकर ख़त्म हो जायगी। 'आन द रोड' उसे कुछ विस्मयकर, लालाक्लिन्न होने देगा। 'द साउंड ऑफ़ लव' उसे पीड़ित करेगा। उसे 'ट्रापिक ऑफ़ कैंसर' हो जायगा। 'फ़्रायड शूज़' के नीचे वह पिस जायगा। एक ऊभ-चूभ आमुष्मिकता, एक 'नेकेड लंच', संस्कार का त्रिशंकु, 'वेश्या के थन पर भौंकते हृत्कंप', 'हाउल' 'कैट फ़िश' ' मंतत और आगातत स्नायु-तन्तुओं '

विप्लवन का परिणाम या तो आत्मघात होगा या पागलखाना या सींकचे या मनोविश्लेषण-कक्ष।

हमारे चारों ओर क्या है ? अमानवीकरण, समूहीकरण, हिटलर, थैलीशाह, व्यवसाय का बेतार के तार की तरह फैला हुआ साम्राज्य, अहम्मन्यताएँ और कुंठाएँ, युद्ध, आँधी खोपड़ियों का फेनायित खेला और प्रजातंत्र। जब यथार्थ का सहन कर पाना कठिन होगा, तब उससे सदैव के लिए निश्चय ही अस्वस्थ पलायन जन्म लेगा। यथार्थ को सहन करने और उसे सर्जन द्वारा ग्रहणीय बनाने के लिए जिस अतिरिक्त क्षमता की ज़रूरत है, उसका पर्याय यह पलायन आसानी से हो जायगा। तब शायद नशे या स्वयं को भुला या डुबा देने वाली चीज़ों की ज़रूरत पड़ेगी। तब नये आदम (हक्स्ले) का एक नया, रूमानी, सपनीला रहस्यमय लोक शायद दीख जायगा। ग्रीनविच न र का चेतना-प्रवाह जेम्स जॉयस के चेतना-प्रवाह से अधिक उद्दीप्त हो जायगा, और गतिमय होकर कहाँ तक फैलता जायगा, कहा नहीं जा सकता। तब नीति-शास्त्र सिर्फ़ ईसप और पंचतंत्र तक रह सकेगा, वह आंतरिक अनुशासन के लिए गैरज़रूरी और बेमानी हो जायगा, वह मात्र बन्धन साबित होगा। तब स्वच्छन्दता की जगह अनाचार और स्वैराचार जन्म लेंगे। 'आदिम' का अर्थ या तो संकीर्ण हो जायगा या मान लिया जायगा या खुद वे लोग 'आदिम' के नाम पर गुहामानव हो जायेंगे। अपनी प्रयोगशीलता के लिए खुले आम, दिनदहाड़े विचित्र-विचित्र ढंग से किसी की जान ले लेंगे या इन्द्रिय-तृप्ति के लिए नये और बीहड़ साधन और तरीक़े अपनायेंगे। मुक्तकुन्तला अराजकता संसार में छुट्टा घूमेगी।

भाषा में तब व्याकरणविहीन भाषा और अणुओं के फूल खिलेंगे। अबुद्धिवादी इस स्थिति से जिसमें या तो नरक होगा—वास्तविक या काल्पनिक, या एक नया—चाहे वह जैसा भी हो—विश्वामित्र के नये संसार की तरह एक संसार उदित होगा। लोग इन सारी बातों से चौंकेंगे। उसे फ़ैशन मान लेंगे, बल्कि वही सही और ज़रूरी लगना स्वाभाविक हो जायगा। अविकसित लोगों और पिछड़े देशों में, झूठी पड़ गयी दवाइयों की तरह उनका भी आयात होगा और वे टिड्डी-दल की तरह छा जायेंगे।

दूसरी ओर इस तरह की रचनाओं में थैलीशाह चुनाव करेगा कि क्या प्रकाशित किया जाय कि जनता का मिट्टी के लोंदे जैसा मानस और 'भुरकुस आत्मा' राजनय और अर्थ-तंत्र में हट जाय और टूट जाय, यह सोचना बन्द कर दे और अफ़ीमचियों की तरह इस सूक्ष्म अमूर्त अफ़ीम का सेवन करके गहरे ख़र्राटे लेती रहे, अश्लीलता की नयी परिभाषाएँ 'मदन-मोदक' की तरह बाँट दी जायँ, गंभीर लगने वाली उसकी पत्रिका में फिर वही छपे जो 'द्वितीय कोटि के साहित्य' के नाम से फ़ुटपाथ पर बिकता है। और व्याख्याता नये आंदोलन चलाते रहें, रचनाकार और थैलीशाह यश और द्रव्य का अपना-अपना नक़्शा बना लें, उधर कोई तस्कर-व्यापार के अन्तर्राष्ट्रीय व्यापी दल से इस तरह के नसेड़ी-भँगेड़ी गुरुनुमा रचनाकार की दाँतकाटी रोटी सिद्ध कर दे, लेकिन थैलीशाह के बंद डिब्बों में छिपी अफ़ीम, किताबों में बिकती मारिजुआना, अनुवादों से आती पेयोट, व्यावसायिक हथकंडों से आयातित नींद की गोलियाँ मैदान में दौड़ती हवा की तरह मुक्त आती रहें

लेकिन यह सही है कि नशे में देखा हुआ संसार दृष्टि का परिसीमन है, वह आकर्षण है, पूर्णत्व नहीं। नसों का असंतुलन है, दिमागी तैयारी है, आवेश और भावुकता का स्वप्निल कुहासा और योग-साधनाओं का 'शार्टकट' या बहाना है, तान्त्रिक और वाममार्गी पतनशीलता है, वस्तु-सत्य का सामना नहीं। उससे केवल इतना ही पता चलता है कि एक संसार और है, जो शरीर को एक खास स्थिति में डालकर देखा जा सकता है। बस। फलतः अफीम, मारिजुआना, चीकट वाल, पेयोट, जाजोमेनिया, पोयेम रॉकेट, यीन कहा, ये सब मृत्यु-निश्चिति के कारण व्यक्तित्व के तलछट पर जीने के कार्य-संकेत हो सकते हैं, जिससे दुष्प्रवृत्ति, पलायन, रोग, असर्जन अधिक फलीभूत हो सकते हैं। अधिक से अधिक यह सब रचना-प्रक्रिया का अंगभूत कहा जाय और मन और शरीर के परस्पर असन्तुलन के बीच संवेदना के लंगर से इस जगत में ठहरने के लिए एक या कुछेक के लिए जरूरी माना जाय, तो ठीक भी है, मगर इससे रचना अच्छी ही होगी, नहीं कहा जा सकता। पर इस तरह के कार्य भारत में बहुत पहले हो चुके है, उनके परिणाम भी देखे जा चुके हैं। यहाँ तक कि गिंसबर्ग जिस लंबी साँस, प्राणायाम और 'हरे राम' का साक्षात् आज करता है, विवेकानन्द और महात्मा गाँधी ने अर्सा पहले कर लिया था। यह सब हमारे लिए पुराना पड़ चुका है। प्राणायाम, 'हरे राम', मनुस्मृति के शब्दों के नये अर्थ और उनके बल पर प्राप्त बेमानी स्वतंत्रता भी। यहाँ तक कि आस्बर्न का शक्तिशाली रोष (नुक बैक इन गुंगर) और बिसवर्ग और पास्तरनाक का 'वन्य आर्तनाद' भी। अनास्था का गंभीर सागर, जो गिंसबर्ग की नितांत करुण और अस्वस्थ दयनीयता में है, इलियट की दार्शनिक चिन्तना मे है और पास्तरनाक की गहनता में है, अवश्य संरक्षणीय है। लेकिन यह भी हमारे लिए चयनीय है, यह विचारणीय है। भले ही उसके समांतर हेनरी मूर के चित्र और पाउंड के 'कैन्टोज' दीख जायँ, कमोबेश (खास तौर से 'वेस्टलैंड' में) तब भी! हमें यह भी देखना है कि आर्लोवस्की, युव्तुशेंको और आर्तोयाँ आर्तो तथा हेमिन्ग्टन, एड्विन मोरगन और ड्रेन जार्जकस और डेज़ी एल्डन में कितना समझौता है, कितना क्रोध, कितना रोग, कितनी राजनीति, कितनी युयुत्सा, कितनी भूख और कितना मुखौटा और यह भी समझना है कि विद्रोह और विद्रोह के लिए विद्रोह तथा ढोंग और ढोंग के क्या और क्या-क्या माने हुआ करते हैं। फिर यह भी कि क्या सचमुच आज का रचनाकार विद्रोही है भी, है भी तो क्या उसका कोई अर्थ रह गया है। बेठोस 'चाँदनी में हाथियों की कतार की तरह' कुछ (विद्रूपभरी) पंक्तियों से सन्तोष कर लेना बहुत संगत नहीं कहा जा सकता। न ही अनुभूति को भूख की रूपकातिशयोक्ति से जोड़ देने से (सुविमल बसाक) से कोई कला-यान अंतःकरण में ठहर जा सकता है। 'पुरानी कविता ठंडी चपाती है' (दिगम्बर) मान लेने में कोई आपत्ति नहीं, पर नयी चपाती की जगह उसे अपने 'बरशेन' चूल्हे पर सेंकना भी परोपजीविता है। आज आवश्यक है कि कीलर, क्लाड ईथर्ली और आइखमैन के संसार को ठीक से समझा जाय और पृथ्वी से चंद्रमा तक की यात्रा को मानवीय, सुरुचिपूर्ण और सही होने दिया जाय।

लेकिन बखिया उधेड़ना बुरा नहीं है, जरूरी और सबसे पहले जरूरी यह है कि कीलर, ईथर्ली और आइखमैन के संसार को उसके पूरे संदर्भसहित सही-सही देखा परखा

जाय। शायद इससे सब कुछ स्पष्ट हो जायगा। 'देह की विकट सन्निकट राजनीति' से लेकर संसार के पागल, विभ्रष्ट महान् मस्तिष्क तक, सब समझ में आ जायँगे और समझने वाले फिर इतने संकीर्ण नहीं होंगे। तब तस्कर-व्यापारी ही नहीं, जासूसी के विचित्र और दूसरे विभागों तक में अन्दर-अन्दर फैले रूप तथा अर्थपोषित स्वार्थकामुक कुंठाओं का कूटनीतिक विराट्-विभ्राट भी जाल की तरह दीख जायगा।

भारत मुख्यतः आज वर्जनाओं का देश है। इसलिए इसमें चोरी-छिपे सर्वतंत्र स्वतंत्रता तथा आलस्य का बोलबाला है। लोग पैसे से लेकर शिक्षा और संस्कृति तक का ऋण और उधार ले रहे हैं और उसका उपयोग कर रहे हैं। यह न आधुनिकता है, न मौलिकता और न इतिहास के प्रति कोई ईमानदारी या दायित्व। स्वतंत्रता के बाद जब चिन्तन और आचरण में वैषम्य आया (पहले केवल शून्य था—दो स्थितियों के बीच का शून्य) तब अराजकता और बढ़ी, मनुस्मृति के वे शब्द जो गाँधी जी के ठप्पे से नये हो गये थे, चालू हो गये और उनका खोटापन भी घिसने लगा; सारा मुलम्मा छूट गया। कुंठाओं का रुग्ण कारण-रूप में स्पष्टतर हो गया। ये कुंठाएं असमानता, अस्पृश्यता-निवारण, वर्जना-पुंज तथा दबी हुई वृत्तियों-प्रतिवृत्तियों के लिए खुली छूट या रुकावट के कारण उत्पन्न हुईं। स्वाभाविक है कि इन्हीं के बीच से जो कलाएं उपजें, वे इनके अनुकूल या प्रतिकूल होकर कुंठा-अकुंठाजन्य हो जायँ। (इस दृष्टि से मलय राय चौधरी की 'जख्म' कविता द्रष्टव्य है।)

आज पश्चिम से अधिक भारत के संघर्ष हैं। क्योंकि वह ऊब या घुटन की स्थितियों से बरी होने के लिए चाहे जितना कृतसंकल्प हो (न भी हो तो भी), अपनी सामाजिक, आर्थिक, राजनीतिक और अंतर्राष्ट्रीय दृष्टि के कारण स्वतंत्र नहीं है। और जो अनुभूत वस्तु है, वह भी पश्चिम द्वारा कुंठित किये जाते रहने, शेरों के बीच मेमना सिद्ध किये जाते रहने, अंतरीप की तरह मानस और बाजार में घुसते रहने के कारण प्रस्तुत नहीं हो पाती। जैसे भारत के मानस के दो बहीखाते हों, एक उनका जो भारत को सही रूप देना चाहते हैं और दूसरे उनका जो भारत का वह रूप पेश कर रहे हैं जो पश्चिम का काम्य है। पश्चिम का काम्य प्रस्तुत करने वाले पश्चिम द्वारा अच्छे भारतीय का प्रमाण और सम्मान पा सकते हैं, यह लाभ-लोभ कम महत्त्वपूर्ण नहीं है, जिसके कारण अंतर्राष्ट्रीय बाजार में उनकी खपत है और उन्हें अपने कूड़े-कबरे पर ब्रह्मांडीय 'प्रभा की धारा से अभिषेक' का सुख भी प्राप्य है। जो भारत को सही रूप देते हैं वे या तो दबा दिये जाते हैं या प्रकाश में नहीं आ पाते, क्योंकि पश्चिम की लगी हुई बंसी इन्हें चुभा दी जाती है और चारा दूसरे मार ले जाते हैं। पश्चिम के व्यवसाय का चक्रवृद्धि भारत के मानस को कैसा-कैसा बना देगा, शायद इसी के लिए गुप्त जी कह गये हैं 'हम क्या थे, क्या हो गये हैं और क्या होंगे अभी।' 'आओ मिलकर विचारें सभी।' और जब हम ऐसा करेंगे, तब आपाततः हमें अपनी संस्कृति की खुदाई करनी पड़ेगी। वस्तुतः जो है, तभी हम जान सकेंगे। उस समय परम्परा और इतिहास को चुनौती देने वाले हम होंगे, हमीं होंगे। हमें नक्कू बना देने वाला पश्चिम नहीं होगा, गोरे विदेशी और भूरे देशी (अंग्रेज़!) नहीं होंगे। बिना खुदाई के, बिना स्वयं जाँच-पड़ताल के अपनी संस्कृति का इस तरह नकारना दूसरे का अनुकरण या समन्वय इतिहास

को नकारना या स्वय को नकारना है। विस्थापित होने [illegible] है। [illegible] पैक्सन जाति अच्छी हो सकती है, पर उसका या किसी का गुलाम बनकर रहने से अच्छा है हिन्द महासागर के हज़ारों फुट नीचे उसके कीचड़ में दफ्न हो जाना।

इतना सोच लेने के बाद संक्षेप में फिर से सब कुछ को एक जगह रखना शायद बेमानी होगा। केवल इतना ही समझना, दूसरों के लिए भी और अपने लिए भी, आवश्यक है कि यदि हम सही दिशा में नहीं सोचते और सही शब्दों का इस्तेमाल नहीं करते तो अब हमारी भाषा दाँतों के बीच में चमक की तरह जो थोड़ी बहुत बची है, वह भी चली जायगी। भाषा, अपनी भाषा, सही भाषा, जब बोली नहीं जाती, तब वह हमें छोड़ देती है और तब हम कहते हैं: 'ओ मेरी क्वाँरी आत्मा, तू महाशून्य से वरी गयी।' लेकिन हम नहीं चाहते कि हमारी भाषा हमसे छिन जाय। (दूसरों की भाषा यानी अंग्रेज़ी जरूर जाय) क्योंकि

भाषा यदि है,
है तर्क और गणित अपने आप;
समय को बदलना है खुद-ब-खुद देश को बदल देना।

और इस अनुभव के बाद ही (शून्य के वरण की बात छोड़कर) हम कह सकते हैं:

थोथे तर्क और कूटनीतिक गणित से
तुम देश को बदलो न बदलो,
ठस्से से नहीं,
मैं अपनी भाषा से
समय को बदल दूँगा।

इतिहास और ऐतिहासिक नाटक

• धनंजय

प्राचीन काल में भारत में इतिहास को व्यापक परिप्रेक्ष्य में देखा गया था। जिस अर्थ में आज इस शब्द का प्रयोग किया जाता है, उससे भिन्न परिकल्पना उस समय थी। इतिहास की परिव्याप्ति उस समय कितनी अधिक थी, इसका पता इसी से चल जाता है कि अर्थ, धर्म, काम तथा मोक्ष तक की प्राप्ति का साधन इसे माना गया था।[1] इतिहास के लिए अंग्रेजी में 'हिस्टरी' शब्द है, जिसका मूल अर्थ है 'अन्वेषण' या 'अन्वेषण से प्राप्त ज्ञान।' प्रत्येक व्यक्ति इससे तो सहमत होगा ही कि इतिहास एक प्रकार का अन्वेषण है। यह उस प्रकार का अन्वेषण है जिसे विज्ञान की संज्ञा दी जाती है। यहाँ 'विज्ञान' शब्द अपने रूढ़ अर्थ से अलग प्रयुक्त हो रहा है। जिस तरह विज्ञान उन वस्तुओं को संकलित करने का प्रयास नहीं करता जिन्हें हम जानते है, बल्कि वह अज्ञात तथ्यों को खोजने में प्रवृत्त होता है, उसी तरह इतिहास भी अतीत के अज्ञात जीवन को सामने लाता है। इसी अर्थ में यहा इतिहास को विज्ञान कहा गया है। कभी-कभी भ्रमवश घटनाओं के लिखित विवरण को इतिहास मान लिया जाता है, लेकिन वास्तविकता यह है कि लिखित विवरण नहीं, बल्कि स्वय घटनाएँ ही इतिहास है। जब यह कहा जाता है कि मुगल-सल्तनत का इतिहास बगावतो और खूँरेजियों से भरा है, तब इतिहासकार के कार्यों का विवेचन न कर विषय के सम्बन्ध म ही निष्कर्ष निकाला जाता है। यहाँ यह संकेत कर देना भी आवश्यक है कि इतिहास महान् व्यक्तियों से सम्बद्ध होते हुए भी उन सामान्य लोगों के जीवन को विस्तृत नहीं कर पाता जिन्होंने इन व्यक्तियों को पूर्ण बनाने में अपना सहयोग दिया है।

इतिहास की प्रकृति पर विचार करते हुए कहा जाता है कि वह प्रत्यक्ष ज्ञान से सम्बद्ध है। जिस प्रकार प्रत्यक्षीकरण में वर्तमान के व्यक्तिगत सत्यों की खोज की जाती है, उसी प्रकार इतिहास में अतीत के व्यक्तिगत सत्यों की खोज होती है। यह स्थापना मान्य नहीं हो सकती, क्योंकि इतिहास अतीत के तथ्यों की खोज मात्र नहीं करता। कोई घटना घटित हुई, यह बताकर ही वह चुप नहीं हो जाता, बल्कि यह संकेत भी देता है कि क्यो घटित हुई। वह घटनाओं का सामान्य संकलन भर नहीं है, बल्कि ऐसा समवाय है जिसमे घटनाएँ एक दूसरे से सम्बद्ध रहती है इतिहासकार सूचना देने की भावना से ही नहीं अन्य उद्देश्यों से भी प्रेरित रहता है। विषयवस्तु और [illegible] में वह व्याख्या द्वारा काम

लेता है। ऐतिहासिक घटनाओं को कारणबद्ध शृंखला में रखते हुए व्याख्या के ढंग पर चरित्रों के भावों को भी व्यक्त करता है। अपनी प्रक्रिया में जिन साक्ष्यों का आधार लेकर अग्रसर होता है, उनकी प्रामाणिकता का परीक्षण करना पड़ता है। इतिहास में प्रत्येक पग पर सत्य का बन्धन रहता है, लेकिन सच पूछा जाय तो यही बन्धन उसे प्रमाणिक और विश्वसनीय बनाने में सहयोग देता है। ट्रेवल्यन के अनुसार "इतिहास का विस्तृत अध्ययन हमें यह अनुभव देता है कि अतीत भी उतना ही वास्तविक था, जितना वर्तमान है। इसके अध्ययन से ही हम अपने पूर्वजों को उनकी आदतों, व्यवहारों, रुचियों के साथ प्रत्यक्ष देख सकते हैं।"[२]

इतिहासकार अतीत की घटनाओं को व्यवस्थित ढंग से उनमें कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करते हुए, वर्तमान सन्दर्भ में देखता है। वह अतीत के पुनर्निर्माण का उद्देश्य लेकर चलते हुए भी घटनाओं में कार्य-कारण-सम्बन्ध स्थापित करने का अनुभव वर्तमान में ही प्राप्त करता है। इस प्रकार उसमें अतीत ही नहीं, वर्तमान का भी सन्निवेश रहता है। किसी काल विशेष की प्राप्त मुद्राएँ, ताम्रपत्र, शिलालेख आदि ऐसे उपकरण हैं जिन पर इतिहासकार को निर्भर रहना पड़ता है। इन पर निर्भर रहते हुए भी वह अपने वर्णन को रोचक और सजीव बनाने के लिए, उसमें चित्रित जीवन को गत्यात्मकता प्रदान करने के लिए आन्तरिक अर्थ-बोध उत्पन्न करता है। यद्यपि मानव मन के उहापोहों का विस्तृत परिचय देने और आन्तरिक प्रवृत्तियों तथा वाह्य शक्तियों से होने वाले संघर्षों का विस्तार देने की संभावना उसमें नहीं रहती, न तो यह उसकी कार्य-सीमा में ही आता है, परन्तु कुछ महान् व्यक्तियों की नामावली प्रस्तुत कर देने से वह वास्तविक इतिहास की संज्ञा नहीं पा सकता। घटनाओं और परिस्थितियों के चित्रण के साथ प्रवाह और प्रभाव का उसमें होना भी आवश्यक समझा जाता।

ऐतिहासिक नाटक का स्वरूप

ऐतिहासिक नाटकों को कभी रूप के आधार पर विवेचित किया जाता है तो कभी विषय के आधार पर परिभाषित करने की चेष्टा की जाती है। हिन्दी ही नहीं, अन्य भाषाओं के साहित्य में भी ऐतिहासिक नाटक की अभी कोई ऐसी परिभाषा नहीं दी जा सकी है जो उसकी सभी विशिष्टताओं और बारीकियों को समेटनेवाली हो। इंग्लैण्ड में ऐतिहासिक नाटकों और ट्रेजडी को विषय की समानता के कारण प्रायः एक ही माना गया है। ट्रेजडी मूलतः ऐतिहासिक कथानक से सम्बद्ध रहती है। आइरिबनर ने ऐतिहासिक नाटक को इतिहास के उद्देश्य को लेकर लिखी गई एक नाटकीय व्यवस्था माना है।[३] उन्होंने ऐतिहासिक नाटक के नाटकीय वा कलात्मक रूप को गौण माना है और इतिहास के लक्ष्य को प्रधानता दी है। यह स्थापना बहुत उपयुक्त नहीं मानी जा सकती। ऐतिहासिक नाटक में इतिहास रहता अवश्य है, पर नाटककार तथ्यों को प्रस्तुत करने मात्र के लिए नाटक की रचना नहीं करता। यह अलग बात है कि तथ्यों के उद्घाटन में वह अधिक सतर्क रहे, उन्हें विकृत न होने दे इतिहास के प्रति थोड़ी भक्ति प्रदर्शित कर दे अन्ततः यह उसका साधन ही रहता

है साध्य नहीं, अन्यथा इतिहास और ऐतिहासिक नाटक के बीच की विभाजक रेखा ही समाप्त हो जायेगी। ऐतिहासिक नाटक को रूप के आधार पर भी नहीं परिभाषित किया जा सकता, क्योंकि इसके अनेक रूप हो सकते है और इसमें रूप से अधिक महत्वपूर्ण नाटककार का उद्देश्य होता है। स्थूलता से देखा जाय तो कोई भी वृत्तान्त जो एक विशिष्ट युग और विशिष्ट पीढ़ी को विश्वस्त ढंग से प्रस्तुत करता है अवश्य ही ऐतिहासिक होता है।[४] अतीत का तथ्यात्मक चित्रण वृत्तान्त के ऐतिहासिक होने की पहली माँग है। नाटक ऐतिहासिक तभी होगा, जब उसमें नाटककार के अपने युग से इतर किसी अन्य युग का चित्रण किया जायेगा। यह बात ध्यान रखने की है कि अतीत के चित्रण में घटनाओं को परस्पर सम्बद्ध करते हुए उपस्थित किया जाता है और इस प्रक्रिया में नाटककार तटस्थ नहीं रहता। घटनाओं को नाटकीय रूप देने में उसका वैयक्तिक संस्पर्श आ ही जाता है। ऐतिहासिक नाटककार इतिहास से गृहीत घटनाओं में कार्य-कारण सम्बन्ध नाटकीय कल्पना द्वारा कलात्मक ढंग से स्थापित करता है। जिस युग का चित्रण इसमें किया जाता है, वह अपरिचित नहीं लगता और न तो उसमें चित्रित व्यक्तियों के व्यवहार हमसे एकदम भिन्न होते हैं। ये हमारे निकट के ही प्रतीत होते है। वातावरण से अतीत का बोध होता है। ऐतिहासिक नाटक को 'इतिहास का एक रूप' कहने का तात्पर्य यह है कि उसकी बाह्य रूपरेखा इतिहास के आश्रित रहती है और अन्त: भी स्थूल या सूक्ष्म रूप से उसके वातावरण से निबद्ध रहता है। यहाँ दो बातें स्पष्ट हो जाती हैं। एक तो यह कि ऐतिहासिक नाटक का अन्तः-बाह्य स्वरूप इतिहास पर आधारित रहता है और दूसरी कि नाटकीय संरचना में कल्पना का प्रयोग होता है। लेकिन इससे नाटक की सम्पूर्ण प्रक्रिया का विवेचन नहीं हो जाता। एक बात अभी छूट जाती है और वह यह कि इसमें अतीत का चित्रण, किसी विशेष युग के वातावरण का निर्माण क्यों किया जाता है? अतीत का पुनर्निर्माण मात्र ही तो नाटककार का लक्ष्य नहीं होता। ऊपर मैंने उस भ्रांत धारणा का संकेत किया है जिसमें ऐतिहासिक नाटक में नाटककार के लक्ष्य को महत्व देते हुए भी उसे इतिहासकार से अभिन्न माना गया है। प्रो० ए० वी० हरवेग ने शेक्सपीयर के नाटकों का वर्गीकरण करते हुए उन्हें दो वर्गों में रखा है—ऐतिहासिक और कल्पित। इन दोनों का अन्तर दिखाते हुए उन्होंने लिखा है कि ऐतिहासिक नाटक में कथानक की सर्जना राष्ट्रीय और राजनीतिक परिप्रेक्ष्य में होती है तथा नाटककार अपने उद्गमों से ही अधिक आबद्ध रहता है, जबकि कल्पित मे चरित्रो का आपसी सम्बन्ध मुख्यत: व्यक्तिगत रहता है, राजनीतिक नहीं।[५] ऐतिहासिक नाटकों की रचना के पीछे राजनीतिक और राष्ट्रीय उद्देश्य रहे हैं, इसमें सन्देह नहीं। हिन्दी में ही स्वतंत्रता-प्राप्ति से पूर्व लिखे जाने वाले अधिकांश नाटकों में राष्ट्रीय चेतना प्रमुख रही है, फिर भी सभी नाटकों के लिए आत्यंतिक रूप से यह बात नहीं कही जा सकती। नाटक का वास्तविक निरूपण करते समय व्यक्तिगत और राजनीतिक आचरणों के बीच रेखा खींचना कठिन हो जायेगा। जहाँ तक उद्गमों से आबद्ध रहने की बात है, इसे भी बहुत दूर तक ठीक नहीं माना जा सकता। आबद्धता बहुत कुछ लक्ष्य पर निर्भर करती है, क्योंकि लक्ष्य के अनुसार ही प्राय ने अपने उदगमों मे भी परिवतन कर दिया है इग्लैंड में नवीं शताब्दी

के पूर्वार्द्ध तक इतिहास और ऐतिहासिक नाटक दोनों में अतीत का ग्रहण धार्मिक उपदेश की भावना से होता था और दोनों इस उद्देश्य की पूर्ति में अपने कथानकों को लगाते थे।[६] हिन्दी में ही अनेक नाटककारों ने अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए घटनाओं का स्वरूप परिवर्तित कर दिया है। इससे यह निर्धारित होता है कि ऐतिहासिक नाटक में इतिहास, नाटककार के लक्ष्य के अनुसार नियोजित होता है।

व्यापक स्तर पर देखा जाय तो व्यक्ति का सम्पूर्ण जीवन ही एक इतिहास है। व्यतीत होने वाले क्षणों के पृष्ठों पर इसका आंशिक प्रतिवेदन लिखा जाता है। अनुभवों के आधार पर व्यक्ति अपनी एक निश्चित दृष्टि बना लेता है और उसी के परिप्रेक्ष्य में वह घटित होने वाली घटनाओं की व्याख्या करता है। नाटककार जब किसी युग के जीवन को प्रतिरूपित करता है, उस समय अपने वर्तमान के संदर्भों से भी किसी न किसी रूप में जुड़ा रहता है। अपनी प्रक्रिया में जिस तरह के दायित्वों से वह घिरा रहता है, उनमें रचनात्मक दायित्व ऐसा होता है जो ऐतिहासिक पृष्ठभूमि के साथ नाटकीय संभावना के होने की माँग उससे करता है। व्यक्ति को पुराने संदर्भों से जोड़ने और नये जीवन-मूल्यों के बीच उसकी स्थितियों का पहचानने में ऐतिहासिक नाटककार को अपनी सीमाओं का भी ध्यान रखना पड़ता है। इस स्थिति में यह आवश्यक हो जाता है कि वह व्यक्तिगत विशिष्टताओं को भी इस प्रकार संश्लिष्ट रूप में प्रस्तुत करे जिससे वे सार्वकालिक बन जाँय, अतीत के व्यक्ति से ही नहीं भविष्य के व्यक्ति से भी संदर्भित किया जा सके। ऐतिहासिक नाटककार की स्थिति सामान्य नाटककार से भिन्न होती है। एक ही आयाम में प्रवर्तित जीवन को दो युगों—अतीत और वर्तमान के परिप्रेक्ष्य में देखना पड़ता है। अतः उसके लिए अनिवार्य हो जाता है कि नाटक में व्यक्तिगत आग्रहों को छोड़कर संभाव्यता की रक्षा करे, काल के प्रवाह को आत्मसात् करने का प्रयास करे। स्थूल विवरणों से घटनाक्रम भले ही आगे बढ़ता हो, रस-संवेदन में बाधा पड़ती है। ऐतिहासिक नाटकों में इतिहास के साथ मानवीय संस्पर्शों एवं रस का आग्रह इसे शुद्ध इतिहास से अलग एक विशिष्ट साहित्य-रूप की स्वीकृति देता है। संवेदनशील विधा होने के नाते इसमें मनोरंजन मात्र की आकांक्षा करना इसके महत्व को कम करना है। मनोरंजन तो जासूसी-तिलस्मी उपन्यासों को पढ़ने से अधिक होता है, लेकिन उन्हें गंभीर साहित्य के अन्तर्गत नहीं रखा जाता। ऐतिहासिक नाटक मानव के व्यवहारों एवं जीवन की समस्याओं को गंभीरता से देखता है।

इतिहास का नाटकीय प्रयोग

इतिहास किसी विशेष चरित्र के प्रति सहानुभूति या किसी घटना के प्रति आकर्षण दिखाते हुए भी उन्हें यथाक्रम रखने की चेष्टा करता है। तथ्यों के अन्वेषण की ऐतिहासिक प्रक्रिया बुद्धिपरक होती है, भावपरक नहीं। दूसरी ओर नाटक, साहित्य की एक विधा होने से भावनात्मक होता है। बौद्धिक चिन्तन के साथ भावपरक चेतना का अस्तित्व भी वहाँ रहता है। नाटककार इतिहास को अनुभव के स्तर लाकर सम्प्रेषित करता है, इतिहासकार ऐसा नहीं कर सकता रचना प्रक्रिया के साथ दायित्व-बोध के जुड़ जाने से कल्पना के आकाश-लोक में

विचरण करने की छूट नाटककार को नहीं मिलती, फिर भी कलात्मक निर्माण तथ्यों के ही आश्रित रहकर संभव नहीं है। वस्तुतः कल्पना इतिहास में भी रहती है, लेकिन वहाँ वह तथ्यों से ही अधिक सम्बद्ध रहती है।

प्रश्न उठता है कि क्या इतिहास और नाटक में परस्पर सम्बन्ध स्थापित किया जा सकता है? यदि हाँ तो वह समानता किस स्तर पर होगी? तालस्टाय का कहना है कि इतिहासकार घटना की परिणति का विवरण पेश करता है और कलाकार की विषय-वस्तु स्वय घटना का तथ्य ही है। अरस्तू ने इतिहास और नाटक का पार्थक्य दिखाते हुए कहा है कि 'इतिहास उन वस्तुओं का उल्लेख करता है जो समाप्त हो चुकी हैं और नाटक उन घटनाओं का संकेत भी देता है जो घटित हो सकती हैं। समष्टिपरक होने के कारण नाटक इतिहास की अपेक्षा अधिक सत्य और उपयुक्त है।'[७] इतिहास सत्य की अपेक्षा तो रखता है लेकिन उसकी कुछ ऐसी सीमाएँ हैं जिनके कारण वह वस्तुपरकता से नहीं छूट पाता है।

ऐतिहासिक नाटक की रचना इतिहास और नाटक के सहयोग से होती है। घटना, चरित्र, तथ्य इतिहास से लिए जाते हैं और नाटकीय संरचना में उन्हें कलाकार की तटस्थता में नियोजित किया जाता है। तत्कालीन वातावरण के परिप्रेक्ष्य में नाटककार पात्रों की संवेदना में केन्द्रित कराता है। वस्तुतः इतिहास में इस प्रकार के अनेक स्थल ऐसे होते हैं जो विस्तार चाहते हैं, ऐसी संवेदनाएँ रहती हैं जो मानवीय व्यवहारों से जुड़ने के लिए मचलती रहती है, ऐसी अधूरी कहानियाँ होती हैं जो पूरी किये जाने की आकांक्षा रखती हैं। नाटककार उन्हें पहचानता है और महत्वपूर्ण बनाकर नाटक में रखता है। इतिहास, ऐतिहासिक नाटक की बाह्य रूपरेखा के लिए तो सामग्री प्रदान करता ही है, नाटककार की समस्याओं को सुलझाने के लिए पृष्ठभूमि भी वह तैयार करता है। अनेक ऐसे स्थल आते है जिन्हें महत्वहीन समझकर इतिहासकार उन पर ध्यान नहीं देता, यदि देता भी है तो अपनी सीमाओं के कारण केवल उल्लेख करके छोड़ देता है, संभव है उनमें जीवन के मार्मिक पक्षों को उद्‌घाटित करने की क्षमता हो और वे नाटककार के लिए महत्वपूर्ण संकेत बन सकते है।

घटना की अन्तर्वाही शक्तियों को पकड़ने में असमर्थ होने के कारण इतिहासकार उसके वाह्य रूप तक ही अपने को सीमित रखता है। वह घटनाओं को घटित होते हुए नहीं दिखा सकता। ऐतिहासिक नाटक घटना के अन्तः-वाह्य रूपों में सम्बद्धता स्थापित करता है, उसमे छोटी से छोटी घटना भी अपनी सभी संभावनाओं के साथ प्रस्तुत होती है। प्रत्येक क्षण जो कुछ घटित हो रहा है, उसका विशेष महत्व है, एक अलग उपयोगिता है जो जीवन को सही कोण से देखने में सहायक होती है। जब तक इन सबसे पूरी तरह परिचित नहीं हो जाते, जीवन को उसकी सम्पूर्णता में नहीं देखा जा सकता। सच पूछा जाय तो आंतरिक प्रवृत्तियों की गत्यात्मकता का ज्ञान स्थूल तथ्यों के माध्यम से नहीं हो सकता। किसी परिस्थिति में व्यक्ति किस तरह के आचरण करता है, उसके मन में किस तरह की भावनाएँ आती हैं, इसे दिखाना इतिहासकार के लिए चाहे महत्वपूर्ण न हो, ऐतिहासिक नाटककार के लिए अत्यन्त आवश्यक है ये ऐसे तत्व हैं जो वर्णन में लाते हैं संवेदना जागृत कराते हैं और —— की सूक्ष्म -क्ति और गहन अनुभवों का परिचय देते हैं साथ ही जीवन स

रचना के नैकट्य को संकेतित करते हैं। ऐतिहासिक नाटक इतिहास के तथ्यों पर आधारित ऐसी रचनात्मक कृति है जिसमें जीवन के अव्यक्त प्रसगों को व्यक्त करने और राजनीति की अपेक्षा सामाजिक-सांस्कृतिक उत्थान के मूल प्रेरणा-स्रोतों को रेखांकित करने का प्रयास रहता है, इसलिए उससे किसी काल के तिथिपरक इतिहास की माँग करना बहुत उपयुक्त नहीं है। नाटककार युग-बोध से प्रेरित होकर अतीत के उन तत्वों की खोज में संलग्न होता है जिसके कारण कोई युग सांस्कृतिक गौरव के उच्च शिखर पर पहुँच गया अथवा उन खामियों की ओर संकेत करता है जो महान् शक्तियों, बड़े-बड़े साम्राज्यों को छिन्न-भिन्न कर देने के लिए जिम्मेदार होती हैं। प्रत्येक ऐतिहासिक निर्माण को, जिसका वह अंकन करता है, मानवीय चेतना की एक स्थिति के रूप में देखता है, सामयिक राजनीति का अंग बनाकर नहीं। अतीत दो रूपों में हमारे सामने आता है—पुनर्निर्मित होकर और पुनरुज्जीवित होकर। आज से सैकड़ों वर्ष पहले जो व्यक्ति थे, उनका अपना आचार-विचार, नियम-व्यवहार और जीवन था। समय के आवर्त ने उन्हें ढँक लिया, किन्तु उनके अस्तित्व के सूचक कुछ संकेत इधर-उधर बिखरे पड़े है जिन्हे एकत्रित कर इतिहासकार ने उनका एक रूप फिर से खड़ा कर दिया। वह अभी निर्जीव ढाँचा ही है, उसमें स्पंदन नहीं है। यह अतीत का पुनर्निर्माण कहा जा सकता है। इतिहासकार का काम यहीं समाप्त हो जाता है। प्राण फूँककर इसे पुनरुज्जीवित करने का काम ऐतिहासिक नाटककार करता है। इतिहास और ऐतिहासिक नाटक दोनों आकर इसी विन्दु पर मिलते हैं। दोनों के पारस्परिक सम्बन्ध को यहीं लक्षित किया जा सकता है। इतिहास जहाँ अपूर्ण होता है, ऐतिहासिक नाटक उसे भरने का प्रयास करता है। रेखाकृति इतिहास देता है, उसमें रंग भरकर आकर्षक बनाने का काम नाटक करता है। सुदूर अतीत मार्मिक प्रसंगों द्वारा जीवन को अपने चारों ओर संवेष्ठित किये हुए नाटकीय रूप में प्रतिबिम्बित होता है। मानवीय संवेदनाओं को जब एक निश्चित विन्दु पर एकाग्र किया जाता है, तब दर्शक के मन में अतीत के प्रति मोह उत्पन्न हो जाता है, एक जिज्ञास-मिश्रित आकर्षण से वह अभिभूत हो जाता है। ऐतिहासिक नाटक में दो प्रकार की उपलब्धियाँ होती हैं। एक ओर तो इतिहास के माध्यम से विस्मृत जीवन और जगत् का प्रत्यक्षीकरण होता है, दूसरी ओर कला के माध्यम से मानव की प्रवृत्तियों, विशेष क्षणों में किये गये व्यवहारों का तादात्म्यक अनुभव होता है। दर्शक अथवा पाठक की चेतना अपने सीमित घेरे से निकलकर अतीत में और गहरे जाकर चिरंतन मूल्यों से साक्षात्कार करती है। यदि थोड़ी देर के लिए मान लें कि यह सब कुछ नहीं मिलता तो भी कम से कम इतिहास-रस का बोध तो मिलता ही है। ऐतिहासिक नाटक में कथानक के साथ दृष्टि की ऐतिहासिकता का भी महत्व है। अशोक के चरित्र को हिन्दी के विभिन्न नाटककारों ने अलग-अलग ढंग से प्रस्तुत किया है। ऐतिहासिक तथ्य तो एक ही रहे हैं, उन्हें देखने की दृष्टियाँ बदल गयी हैं। अंग्रेज आलोचक वाल्टर वागहॉट की भाँति इतिहास और ऐतिहासिक नाटक की तुलना नदी और उसके प्रवाह में पड़ने वाली मीनार की प्रतिच्छाया से की जा सकती है। इतिहास छाया की भाँति स्थिर है अपरिवर्तनीय है और ऐतिहासिक नाटक जल की भाँति गतिमान है

यहाँ स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि ऐतिहासिक नाटक मे कल्पना के वैशिष्ट्य को बार-बार दुहराया जाता है। उसका यह तात्पर्य नहीं है कि कल्पना के प्रयोग की स्वच्छंदता से तथ्यों को चाहे जिस रूप में रखा जा सकता है। कलात्मकता के नाम पर इतिहास-तत्व के साथ मनमानी करने की छूट नहीं दी जा सकती। नाटककार का दायित्व होता है कि जहाँ तक संभव हो, तथ्यों के साथ न्याय करे। नाटकीय रचना-तंत्र के साथ इतिहास के प्रति बरती गई सुरक्षा को देखकर ही ऐतिहासिक नाटक का उचित मूल्यांकन किया जाता है। तथ्यों को विकृत किये बिना भी उनकी व्याख्या दूसरे प्रकार मे की जा सकती है। शेक्सपीयर ने नाटककार होते हुए भी इतिहास की गंभीरता को अपने नाटको में सुरक्षित रखा है। यह सही है कि उसने कुछ चरित्रो और घटनाओं की कल्पना की है, दृश्यों को परिवर्तित किया है, अनुक्रम और काल-क्रम को बदल दिया है, किन्तु नाटकीय प्रभाव के लिए जन-बूझ कर उसने कभी इतिहास में परिवर्तन नहीं किया। जॉनसन ने भी शेक्सपीयर की भाँति अपनी दुखान्तकियो मे इतिहास को सुरक्षित रखा है। वे इतिहास के प्रामाणिक तथ्यों पर आधारित हैं और इनसे कहीं भी रस को बाधा नहीं पहुँची है, न नाटकीय प्रभाव में ही कमी आई है। इतिहास को देखने की ऐतिहासिक नाटककार की दृष्टि का प्रतिनिधित्व करते हुए जॉनसन ने इतिहास-तत्व को एक आवश्यक आदर्श के रूप में लिया है और यह स्थापित किया है कि इस आदर्श के अभाव में उत्कृष्ट रचना संभव नहीं है, क्योंकि ऐतिहासिक नाटक, इतिहास-लेखक के कार्यों को, जिस रूप में समझता है, पूरा करता है। शेक्सपीयर और जॉनसन की दुखान्तकियो में ही नहीं, एलिजाबेथ काल की अधिकांश दुखान्तकियों में इतिहास के प्रति यही दृष्टिकोण रहा है। वस्तुतः नाटककार इतिहास लिखने नहीं बैठता, उसका मुख्य अभिप्राय नाटक की रचना करना होता है। यह अवश्य है कि जब वह अपनी कथा-वस्तु के लिए इतिहास मे सामग्री लेता है तो उसे इतिहास के अर्थ और उसकी समस्याओं को भी ध्यान में रखना पड़ता है। नाटककार यदि सही माने में ऐतिहासिक दृष्टि रखने वाला होगा तो वह तथ्यो का परीक्षण करते हुए घटनाओं में क्रम स्थापित करेगा, छिपे हुए तथ्यों को सामने लायेगा, इतिहासकार की प्रक्रिया को अपनी प्रक्रिया का एक अंग बनाकर चलेगा। अतीत के तथ्यो पर इतिहासकार का ही एकाधिकार नहीं है, वह तो अपनी खोजों से जितने विवरणों को पाता है, उपयोग करता है। संभव है नाटककार अपनी खोजों से कुछ नए तथ्य पा सके जो इतिहास पर नया प्रकाश डाल सकें। यदि इतिहास-ग्रंथ से सीधे सामग्री न लेकर वह उन्ही मूल उत्सो मे अपने लिए सामग्री ग्रहण करे जिनमे इतिहासकार ने लिया है, तो यह उसकी विशिष्टता होगी। नाटक का कथानक यदि अपने मूल उत्सों में प्रामाणिक है तो हम उसे अधिक विश्वास के साथ लेते हैं और नाटककार के प्रयास की सराहना करते हैं। हिन्दी में जयशंकर प्रसाद ने जहाँ इतिहास ग्रन्थों (ग्रीक, बौद्ध) का सहारा लिया है, मूल उत्सों जैसे शिलालेखों, ताम्रपत्रो आदि का इतिहासकार की भाँति अध्ययन किया है, वहाँ उपाख्यानों, किंवदन्तियों से भी इतिहास-तत्व की खोज की है। इस प्रक्रिया में वे इतिहासकार की भाँति तटस्थ रहे हैं और ऐतिहासिक [illegible] का [illegible] से निराकरण कर सकें हैं। 'चन्द्रगुप्त' नाटक में दी गई उनकी भूमिका एक कुशल [illegible] की कृति है जिसने इतिहास की सम्पूर्ण सामग्री का उपयोग

कर ठोस मान्यताओं के रूप में अपने निष्कर्ष निकाले है।[८] प्रसाद इतिहासकार और नाटककार दोनों हैं। अन्ततः नाटककार होते हुए भी इतिहासकार के रूप में उनका योगदान कम महत्व का नहीं है। उनकी नाट्य-रचनाओं में इतिहास का प्रामाणिक रूप सुरक्षित है। मान्यताओं में एकरूपता न होने के कारण भले ही इसे स्वीकृति न मिलती हो, किन्तु अप्रत्यक्ष रूप से नाटक और इतिहास के अन्योन्याश्रय धर्म की स्वीकृति में सन्देह नहीं रहा है। विश्व-साहित्य में कुछ कृतियाँ अवश्य ऐसी मिल जायेंगी जिनमें इस तरह की पारस्परिकता की सभावना नहीं है, लेकिन उन्हीं को देखकर आत्यंतिक रूप से कोई निर्णय नहीं किया जा सकता। यदि जॉनसन, शेक्सपीयर और प्रसाद जैसे नाटककारों ने ऐतिहासिक तथ्यों को आदर्श रूप में ग्रहण किया है, तो ऐसे इतिहासकार भी हैं जिन्होंने ऐतिहासिक नाटकों को आदर्श रूप में लिया है। एफ० एस० कोर्नफोर्ड ने यह सिद्ध किया है कि थ्यूसीदाइडीज ने अपने इतिहास के आदर्श के लिए ग्रीक दुखान्तकी, विशेष रूप से एस्काइलस की दुखान्तकियों का उपयोग किया है। प्राचीन ग्रीक इतिहासकारों का मूल्यांकन करते समय जे० बी० बरी द्वारा निकाला गया यह निष्कर्ष कि हेरोदोतस के बाद की इतिहास-पुस्तकें एस्काइलस और फ्रिनिकस की दुखान्त-कियों से प्रभावित हैं,[९] उक्त धारणा की पुष्टि करता है। इतिहास-तत्व के प्रति नाटककार की सतर्कता-इतिहास और नाटक के सम्बन्ध को बहुत दूर तक बनाए रखती है। एलिजाबेथकालीन कुछ अँग्रेजी नाटक जैसे 'एडवर्ड द्वितीय', 'जूलियस सीजर' और हिन्दी में जयशंकर प्रसाद के 'चन्द्रगुप्त', 'स्कन्दगुप्त' नाटक इतिहास और ऐतिहासिक नाटक दोनों का प्रतिनिधित्व करते है।

इतिहास और ऐतिहासिक नाटक के सम्बन्ध को एक भिन्न तरीके से भी सोचा जा सकता है। वस्तुतः ऐतिहासिक नाटक का सही परिप्रेक्ष्य तो यही है कि उसमें इतिहास की खोज भी की जाय और नाटकीय संरचना को भी कला की उत्कृष्टतम ऊँचाई तक पहुँचाया जाय। सामान्यतया नाटककार इतने कड़े बंधन में बंधने के लिए तैयार नहीं होते। यथासम्भव वे इस दुहरे कार्य से बचना चाहते हैं। इतिहास के मूल स्रोतों की खोज बीन करने का कार्य इतिहासकार पर छोड़कर वे उधर प्रवृत्त नही होते। अधिकांश नाटककार यह धारणा पहले से ही बना लेते हैं कि इतिहास में उल्लिखित विवरणों का आश्रय मात्र ले लेना अपनी लक्ष्य-सिद्धि के लिए पर्याप्त है और नाटक में गृहीत होने पर उनका किसी भी रूप में उपयोग किया जा सकता है। उसकी रचना-प्रक्रिया भी कुछ अंशों तक इतिहास से भिन्नता कराती है। रचना-प्रक्रिया की भिन्नता के कारण अगर इतिहास के आदर्श को नियोजित न भी किया जा सके तो भी नाटककार को इतनी सतर्कता रखनी अनिवार्य होती है कि जिस घटना या चरित्र को वह मानसिक परिविस्तार दे रहा है, वे तथ्यों से बहुत दूर न हो जाँय। उसकी व्यक्तिगत अनुभूतियाँ भी सत्य प्रतीत होनी चाहिए अर्थात् अनुभूतियों को नाटक में प्रयुक्त करते समय यह ध्यान रखना चाहिए कि संदर्भ के साथ उनका मेल बैठ जाय, ऐसा न हो कि वे अलग से जोड़ी हुई लगें। इतिहास की चाहे जिस छोटी-बड़ी, साधारण-असाधारण घटना को लेकर नाटक की रचना नहीं की जा सकती। 'प्रत्येक ऐतिहासिक घटना नाटक के लिए उपयुक्त विषय-वस्तु नहीं हो सकती'[१०] जो घटनाएँ के प्रयोजन में सहायक होती हैं और जिनमें नाटकीयता की अधिक होती है, उन्हें ही ग्रहण किया जाता है

नाटकों के स्वरूप निर्धारण में जी० ई० लेसिंग ने इतिहास को ऐतिहासिक नाटक के लिए नामों का भंडार मात्र कहा है जहाँ हम कुछ निश्चित चरित्रों से साहचर्य स्थापित करते हैं।[११] नाटककार जब देखता है कि इतिहास में कुछ ऐसी परिस्थितियाँ हैं, ऐसे चरित्र है जो उसके विचारों को वहन करने में सक्षम हैं, तब वह उन्हें ग्रहण करता है और अपने विचारो-सिद्धान्तों का वाहक बनाता है। यद्यपि इतिहासकार के विचार वे ही नहीं होते जो नाटककार के होते हैं, तो भी उस सामग्री को वह अपने ढंग से यहाँ व्याख्यायित कर रखता है। ऐतिहासिक कथावस्तु में इतनी क्षमता होती है कि जिस विचार को भी उससे संदर्भित कर दिया जाय, प्रभावात्मक बना देती है। इतिहास और ऐतिहासिक नाटक का पारस्परिक सम्बन्ध इस रूप में भी हो सकता है कि एक-दूसरे के विचारों का समर्थक बनकर प्रयुक्त हो।

इतिहास चाहे नाटक के विचारों का वाहक बनकर आये या कथावस्तु बनकर, चाहे नाटक, इतिहास के आदर्श को ग्रहण करे या इतिहास, नाटक के आदर्श को, इतना तो निश्चित है कि दोनों में किन्हीं अंशों तक अन्तर्सम्बन्ध रहता है। दोनों के लक्ष्य और रचना-प्रक्रिया मे भिन्नता रहते हुए भी मूलतः साम्य होता है। ऐतिहासिक नाटक, इतिहासकार और नाटककार दोनों की निर्मितियों का एकीकरण होता है।

संदर्भ-संकेत

(१) "धर्मार्थकाममोक्षाणामुपदेशसमन्वितं।
पूर्ववृत्तं कथायुक्तमितिहासं प्रचक्ष्यते॥"
—दि प्रैक्टिकल संस्कृत-इंगलिश डिक्शनरी— वी० एस० आप्टे, पृ० २७६

(२) ए० एल० रोजे : दि यूज आफ़ हिस्ट्री, पृ०२४ (३) रिबनर : दि इंगलिश हिस्ट्री इन दि एज आफ़ शेक्सपीयर, पृ० ६ (४) जॉन मैरियट : इंगलिश हिस्ट्री इन इंगलिश फ़िक्शन, पृ० २ (५) 'इंगलिश हिस्ट्री प्ले इन दि एज आफ़ शेक्सपीयर' (आई० रिबनर) के पृ० ६ पर उद्धृत (६) वही, पृ० १० पर उद्धृत (७) बी० एच० क्लार्क : यूरोपीयन थ्योरीज आफ ड्रामा, पृष्ठ १२ (८) डॉ० जगदीशचन्द्र जोशी : प्रसाद के ऐतिहासिक नाटक, पृ० ५७ (९) जे० बी० बरी : दि एंशियण्ट ग्रीक हिस्टोरियंस, पृ० ३३ (१०) देखिए, 'यूरोपीयन थ्योरीज ऑफ ड्रामा' (बी० एच० क्लार्क) पृष्ठ २९७ (११) वही, पृष्ठ २६०।

बंकिमचंद्र के उपन्यासों के हिन्दी अनुवाद और उनकी लोकप्रियता

● गोपाल राय

हिन्दी उपन्यास के विकास में जिन बाहरी शक्तियों और प्रेरणाओं का महत्वपूर्ण योगदान है, उनमें बंकिमचंद्र कदाचित् अन्यतम हैं। प्रेमचंदपूर्व-युग के हिन्दी उपन्यासकारों के तो बंकिम बाबू प्रमुख प्रेरणास्रोत थे। उनके उपन्यास हिन्दी के प्रारंभिक उपन्यासकारों के लिये आदर्श या प्रतिकृति (मॉडल) का कार्य करते थे। प्रेमचंदपूर्व-युग के प्राय: सभी प्रमुख उपन्यासकार, जैसे किशोरीलाल गोस्वामी, भुवनेश्वर मिश्र, व्रजनन्दन सहाय, मेहता लज्जाराम शर्मा आदि बंकिम से प्रभावित हैं। प्रेमचंद पर भी इनका प्रभाव एक सीमा तक है, किन्तु अभी तक इस प्रभाव का सम्यक् निरूपण नहीं हो पाया है। इसके लिए यह आवश्यक है कि बंकिमचंद्र के उपन्यासों के हिन्दी-अनुवादों के इतिहास पर दृष्टि डाली जाय।

हिन्दी में बंकिमचंद्र के उपन्यासों के अनुवाद का आरम्भ एक बड़ी रोचक घटना से होता है। उन्नीसवीं सदी के आठवें दशक (१८७०-८०) में हिन्दी में उपन्यास-लेखन के प्रयास तो आरम्भ हो चुके थे,[1] पर इस अवधि में हिन्दी-उपन्यास अभी अत्यन्त अविकसित अवस्था में था। इसके विपरीत पार्श्ववर्ती बंगला-साहित्य में बंकिमचंद्र के उपन्यासों की धूम मची हुई थी। उस समय तक 'दुर्गेशनन्दिनी' को पर्याप्त प्रसिद्धि प्राप्त हो चुकी थी। स्वभावत: हिन्दी-लेखकों का ध्यान बंकिम बाबू के उपन्यासों की ओर आकृष्ट हुआ और उनके मन में उनके हिन्दी अनुवाद की लालसा जगी। सर्वप्रथम बाबू गदाधर सिंह ने 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद प्रस्तुत किया और यह 'कविवचन सुधा' में धारावाहिक रूप से प्रकाशित होना शुरू हुआ। जब यह अनुवाद 'कविवचन सुधा' में क्रमश: छप रहा था, अनुवादक के मित्र प० रामनारायण प्रभाकर ने उन्हें ग्रन्थकर्ता से सलाह और अनुमति माँगने की सम्मति दी। गदाधर बाबू ने बंकिम बाबू के पास पत्र लिखा, पर बंकिम बाबू से सहायता और अनुमति मिलने की बात तो दूर रही, अनुवादक को उनके क्रोध और धमकी का सामना करना पड़ा। बहुत पत्राचार के बाद उन्होंने इस शर्त पर अनुवाद को पुस्तक रूप में प्रकाशित करने की आज्ञा दी कि उपन्यास की बिक्री का कुछ लाभांश उन्हें भी दिया जाए। वस्तुत: बंकिम बाबू बंगला पाठकों के बीच अपने उक्त उपन्यास की लोकप्रियता और तज्जन्य आर्थिक लाभ से परिचित हो चुके थे, पर हिन्दी में उनकी यह स्थिति नहीं थी। हिन्दी-पाठकों की संख्या अत्यल्प थी और जो थे भी उनकी रुचि और पठनक्षमता किस्सा कहानियों तक ही

सीमित थी। भारतेन्दु और उनके सहयोगी, पाठकों के अभाव में भी हिन्दी को समृद्ध बनाने का प्रयत्न कर रहे थे। उस समय साहित्य-रचना का उद्देश्य हिन्दी की सेवा करना था। आर्थिक लाभ के लिए पुस्तक लिखने की बात सोची भी नहीं जा सकती थी। बंकिम बाबू द्वारा पुस्तक का लाभांश माँगे जाने पर हिन्दी अनुवादक ने जो उत्तर दिया, वह उपर्युक्त कथन का असंदिग्ध प्रमाण है। स्वयं अनुवादक के शब्दों में—"जो कि मैंने इस ग्रन्थ को केवल देशहित के अभिप्राय से प्रस्तुत किया है, मैंने इसका मुद्रण और विक्रय कुल बाबू साहब को समर्पण किया, किन्तु उनको स्वीकृत न हुआ; अतएव इतने दिनों तक उनकी मार्ग-प्रतीक्षा कर अब इस प्रथम खण्ड को आप लोगों के चित्त-विनोदार्थ अर्पण करता हूँ, कृपा कर ग्रहण कीजिए। दूसरा खण्ड भी छप रहा है। शीघ्र उपस्थित हो जाएगा।"[२]

इस घटना के बाद से हिन्दी में बंकिम बाबू के उपन्यासों के अनुवाद का अनवरत क्रम आरम्भ हो गया और प्रेमचंद युग तक अबाध गति से चलता रहा। बंकिम बाबू के उपन्यास न केवल हिन्दी-पाठकों में लोकप्रिय हुए, वरन् हिन्दी उपन्यासकारों पर भी उनका गहरा और व्यापक प्रभाव पड़ा। इस लोकप्रियता और प्रभाव के सम्यक् आकलन के लिए इस अनुवाद-परम्परा के इतिहास पर भी विचार कर लेना अपेक्षित है।

दुर्गेशनन्दिनी :—

जैसा कि उपर्युक्त पंक्तियों से स्पष्ट है, 'दुर्गेशनन्दिनी' हिन्दी में बंकिम बाबू का पहला अनूदित उपन्यास है। इसका प्रथम खण्ड सर्वं प्रथम सन् १८८२ में प्रकाशित हुआ।[३]

'दुर्गेशनन्दिनी' के अनुवाद का दूसरा खण्ड, प्रथम खण्ड के प्रकाशित होने के दो वर्ष बाद, सन् १८८४ ई० में प्रकाशित हुआ।[४] पता नहीं, इसके प्रकाशन में इतना विलम्ब क्यों हुआ, पर पाठकों की कमी इसके मूल में अवश्य रही होगी। अनुवादक ने सूचना में इतना ही लिखा है कि "इसके प्रकाश में इतना विलम्ब क्यों हुआ, इसका कारण न लिखना ही उचित है।"[५]

'दुर्गेशनन्दिनी' का दूसरा संस्करण १८९६ ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। लेखक को यह संस्करण प्राप्त नहीं हो सका है। उक्त सूचना आर्यभाषा पुस्तकालय, ना० प्र० स० काशी की पुस्तक सूची से प्राप्त हुई है।

उपर्युक्त अनुवाद का तीसरा संस्करण १९०५ ई० में[६] और चौथा संस्करण १९१८ ई० में[७] लहरी प्रेस, काशी से मुद्रित तथा बाबू माधो प्रसाद द्वारा प्रकाशित हुआ। इसका पाँचवाँ संस्करण भी कदाचित् बाबू माधो प्रसाद (धर्मकूप, बनारस सिटी) ने ही १९२१ ई० में प्रकाशित किया था।[८]

बाबू व्रजनन्दन सहाय ने 'दुर्गेशनन्दिनी' के बाबू राधाकृष्ण दास द्वारा प्रस्तुत एक अनुवाद की सूचना दी है। उन्हीं के शब्दों में—"पहिले बाबू गदाधर सिंह ने इसका अनुवाद किया। फिर रामदीन सिंह के अनुरोध से बाबू राधाकृष्ण दास ने इसका दूसरा हिन्दी अनुवाद किया है इसमें सन्देह नहीं कि पहले से दूसरा अनुवाद अच्छा है[९] सन् १८९४

ई० में खड्ग विलास प्रेस से प्रकाशित 'राजसिंह' (अनु० प्रतापनारायण सिंह) के अंतिम पृष्ठ पर मुद्रित विज्ञापन से ज्ञात होता है कि बाबू राधाकृष्ण कृत 'दुर्गेशनन्दिनी' का अनुवाद १८६४ ई० में उक्त प्रकाशन संस्था से छप रहा था। इससे इस अनुवाद का प्रकाशन-काल १८६४ के लगभग सिद्ध होता है।

बाद में चलकर 'दुर्गेशनन्दिनी' के और भी अनुवाद प्रस्तुत किये गये। सन् १६३२ ई० में इस उपन्यास का श्री कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय कृत अनुवाद हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से बंकिम ग्रन्थमाला खण्ड ३ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। १६४० ई० में श्रीनाथ ब्रदर्स, बनारस सिटी द्वारा प्रकाशित 'कपालकुण्डला' के अन्तिम आवरण पृष्ठ पर मुद्रित विज्ञापन से ज्ञात होता है कि 'दुर्गेशनन्दिनी' का कोई अनुवाद उक्त प्रकाशन-संस्था से भी १६४० ई० के पूर्व प्रकाशित हुआ था। लक्ष्मीनारायण 'सरोज' ने इसका एक अनुवाद प्रस्तुत किया जिसका तीसरा संस्करण हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस से १६५३ ई० में प्रकाशित हुआ। १६५४ ई० में कविराज कृष्णाकुमार अवस्थी द्वारा किया हुआ 'दुर्गेशनन्दिनी' का एक अन्य अनुवाद श्री प्रभाकर साहित्यालोक (रानी कटरा, लखनऊ) द्वारा प्रकाशित किया गया। १६५६ ई० में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय ने गोविन्द सिंह द्वारा सम्पादित 'दुर्गेशनन्दिनी' का एक बाल-संस्करण प्रकाशित किया। इस प्रकार उपर्युक्त तथ्य इस बात के द्योतक हैं कि १६५० ई० के बाद भी बंकिम के उपन्यासों की लोकप्रियता कुछ न कुछ बनी हुई है।

राधारानी :—

बंकिम बाबू के 'राधारानी' नामक उपन्यास का अनुवाद १८८३ ई० में चन्द्रप्रभा प्रेस, बनारस से मुद्रित तथा मल्लिक चन्द्र और कम्पनी द्वारा प्रकाशित हुआ।[१०] इसका अनुवाद करने वाली थीं 'कोई पतिप्राणा अबला'। बाबू व्रजरत्न दास के अनुसार यह 'अबला' और कोई नहीं, भारतेन्दु हरिश्चन्द्र की प्रतिपालिता मल्लिका देवी थीं।[११] पं० प्रतापनारायण मिश्र द्वारा प्रस्तुत 'राधारानी' का एक अन्य अनुवाद खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर में १८८४ ई० में मुद्रित हुआ।[१२] तीन वर्ष बाद सन् १८८७ ई० में उक्त अनुवाद का पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय द्वारा संशोधित संस्करण खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से ही प्रकाशित हुआ।[१३] भूमिका में उपाध्याय जी ने स्वीकार किया है कि इस उपन्यास के केवल उन्हीं अंशों का उन्होंने अनुवाद किया है जो प्रतापनारायण मिश्र द्वारा संशोधित-परिवर्धित कर डाले गए थे। यह संशोधित संस्करण पुनः विक्रमाब्द १६७५ (सन् १६१८) में मुद्रित हुआ। बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पुस्तकालय, पटना में इस संस्करण की एक प्रति उपलब्ध है।

सन् १६११ ई० में 'राधारानी' का गिरिजाकुमार घोष कृत एक दूसरा अनुवाद सुदर्शनाचार्य, बी० ए० द्वारा गृहलक्ष्मी कार्यालय, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में इस अनुवाद की एक प्रति उपलब्ध है।

सन् १६१८ ई० में 'राधारानी' का पं० कात्यायनीदत्त त्रिवेदी द्वारा प्रस्तुत एक

दूसरा अनुवाद हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। प्रथम बार इस पुस्तक की एक हजार प्रतियाँ मुद्रित हुई थीं।[१४]

सन् १९३२ ई० में 'राधारानी' का श्री कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय द्वारा किया हुआ अनुवाद हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से 'बंकिम ग्रन्थमाला' खण्ड ३ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। 'राधारानी' का श्री नारायणदास गुप्त कृत एक अनुवाद हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस से भी प्रकाशित हुआ है, पर इसके प्रकाशन-काल के सम्बन्ध में कोई सूचना नहीं दी गयी है। यह भी नहीं ज्ञात हो पाता कि अद्यावधि इसके कितने संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। प्रकाशक ने जान-बूझकर या असावधानी से इन सूचनाओं के प्रति उपेक्षा दिखायी है।

'चारुलता' के अन्तिम आवरण पृष्ठ के विज्ञापन से ज्ञात होता है कि १९५७ ई० के पूर्व बंकिम बाबू के 'राधारानी नामक उपन्यास का एक अनुवाद किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद से प्रकाशित हुआ।[१५]

देवी चौधरानी :—

सन् १८९० ई० में पं० बलदेवप्रसाद मिश्र ने बंकिम बाबू के 'देवी चौधरानी' नामक उपन्यास का 'देवी' शीर्षक से एक अनुवाद प्रस्तुत किया जो ९ वर्ष बाद १८९९ ई० मे बेंकटेश्वर छापाखाना, बम्बई मे छपकर प्रकाशित हुआ।[१६] भूमिका से ज्ञात होता है कि अनुवादक ने इसका सर्वप्रथम १९४४ वि० में अनुवाद किया था और उस पांडुलिपि के खो जाने पर पुनः १९४७ वि० में दुबारा अनुवाद किया।[१७]

सन् १९०७ ई० में 'देवी चौधरानी' का श्री जयराम दास गुप्त द्वारा प्रस्तुत 'फूल-कुमारी' शीर्षक अनुवाद उपन्यास दर्पण कार्यालय, काशी से प्रकाशित हुआ। अनुवाद की भूमिका से ज्ञात होता है कि अनुवादक को एक बार रास्ते में पड़ा हुआ एक उर्दू का ग्रन्थ मिला। उसे पढ़ने से विदित हुआ कि वह किसी बंगला-उपन्यास का अनुवाद है। लेखक के शब्दों में "यही सोचकर हम उस उपन्यास का अनुवाद करने लग गये और जहाँ कहीं हमारे रुचिकर हुआ वहाँ कुछ नाम मात्र का फेर-बदल भी कर दिया है।.........उपरोक्त पुस्तक पर टाइटिल पृष्ठ न रहने के कारण हमें उसके लेखक का नाम न मिल सका। इससे हम उसके ग्रन्थकर्ता के नाम को लिखने में असमर्थ है।"[१८] इस अनुवाद की एक प्रति आ० भा० पु०, काशी में उपलब्ध है, पर उसके मुखपृष्ठ के नष्ट हो जाने के कारण पुस्तक के सम्बन्ध मे कोई सूचना नहीं मिल पाती। उपर्युक्त सूचनाएँ आ० भा० पु० की पुस्तक-सूची तथा पुस्तक की भूमिका से प्राप्त की गयी हैं। भूमिका के नीचे "२८ अप्रैल सन् १९०७ ई०" लिखा हुआ हैं, जिससे उसके प्रकाशन-काल का अनुमान किया जा सकता है। उपन्यास को पढ़ने के बाद स्पष्ट हो जाता है कि बंकिम बाबू के 'देवी चौधरानी' का ही यह अनुवाद है।

सन् १९१३ ई० में 'देवी चौधरानी' का पं० अक्षयवट मिश्र और पं० प्रभुदयाल पाण्डेय द्वारा किया हुआ एक अन्य बढ़िया अनुवाद खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ। पटना कालेज पुस्तकालय पटना में इस अनुवाद की एक प्रति उपलब्ध है सन् १९२३ ई०

मे प० जनार्दन झा 'द्विज' द्वारा प्रस्तुत उक्त उपन्यास का एक अन्य अनुवाद मनमोहन पुस्तकालय, बनारस से प्रकाशित हुआ। लेखक को इस अनुवाद की प्रति नहीं मिल सकी है। उपर्युक्त सूचना आर्य भाषा पुस्तकालय, काशी की पुस्तक-सूची से प्राप्त हुई है। 'देवी चौधरानी' का एक दूसरा अनुवाद श्री रामाशीष सिंह ने भी प्रस्तुत किया था, जिसका दूसरा संस्करण हिन्दी पुस्तक एजेन्सी कलकत्ता से १९३७ ई० (१९९४ वि०) में बंकिम ग्रन्थ माला खण्ड २ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था।

'देवी चौधरानी' का एक दूसरा अनुवाद श्री कमल जोशी ने प्रस्तुत किया जो १९५८ ई० में श्री प्रभाकर साहित्य लोक, रानी कटरा, लखनऊ से प्रकाशित हुआ। प्रथम बार इसकी दो हजार प्रतियाँ मुद्रित हुई थीं।[१९] इस उपन्यास का एक अनुवाद हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस से भी प्रकाशित हुआ है। इस पुस्तक में न तो अनुवादक का नाम ही दिया हुआ है और न संस्करण अथवा प्रकाशन काल ही। अब तक इसके कितने संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं, इसका भी पता दे पाना बहुत कठिन है।

'चारुलता' के अंतिम आवरण पृष्ठ के विज्ञापन से ज्ञात होता है कि १९५७ के पूर्व 'देवी चौधरानी' का एक अनुवाद किताब महल, इलाहाबाद से प्रकाशित हो चुका था।[२०]

सुरेन्द्र ऐण्ड कम्पनी (कटरा, इलाहाबाद) तथा इंडियन प्रेस, प्रयाग ने भी १९५८ ई० के पूर्व 'देवी चौधरानी' के भिन्न-भिन्न अनुवाद प्रकाशित हो चुके थे। ये सूचनाएँ उक्त प्रकाशन संस्थाओं की १९५८ में मुद्रित पुस्तक-सूचियों से प्राप्त की गयी है।

इंदिरा :—

सन् १८९४ ई० में बंकिम बाबू के 'इन्दिरा' नामक उपन्यास का पं० प्रतापनारायण मिश्र द्वारा किया हुआ अनुवाद खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ।[२१] बाद मे पं० किशोरीलाल गोस्वामी ने भी 'इन्दिरा' का एक अनुवाद प्रस्तुत किया जो खड्ग विलास प्रेस से ही १९०८ ई० में प्रकाशित हुआ।[२२] गोस्वामी जी कृत अनुवाद का दूसरा संस्करण जिसकी १५०० प्रतियाँ मुद्रित हुई थीं, खड्ग विलास प्रेस से १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ।[२३] सन् १९१६ ई० में 'इन्दिरा' का रामेश्वरप्रसाद पाण्डेय कृत एक दूसरा अनुवाद हरिदास एन्ड कम्पनी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।[२४] सन् १९१९ ई० में इस उपन्यास का गिरिजा कुमार घोष कृत अनुवाद रामनारायण लाल, इलाहाबाद द्वारा प्रकाशित किया गया।[२५]

सन् १९२३ ई० में 'इन्दिरा' का पं० जनार्दन झा कृत अनुवाद हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।[२६] 'इन्दिरा' का श्री रामाशीष सिंह द्वारा प्रस्तुत अनुवाद हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से बंकिम ग्रन्थमाला, द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत १९३५ ई० के लगभग प्रकाशित हुआ था। इस ग्रन्थावली का १९३० ई० (१९९४ वि०) में प्रकाशित दूसरा खण्ड आर्य भाषा पुस्तकालय, काशी में उपलब्ध है।

सन् १९५२ ई० में 'इन्दिरा' का लालधर त्रिपाठी 'प्रवासी' कृत अनुवाद हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी से प्रकाशित हुआ। इस अनुवाद का तृतीय संस्करण दिसम्बर १९५८ में उक्त प्रकाशन संस्था से ही प्रकाशित हुआ[२७]

'इन्दिरा' का एक अनुवाद किताब महल, इलाहाबाद से १९५७ ई० के पूर्व प्रकाशित हुआ था।[२८] इस प्रकार सन् १८९४ ई० से लेकर सन् १९५८ तक 'इन्दिरा' के कम से कम सात अनुवाद और उनमें से प्रत्येक के एकाधिक संस्करण प्रकाशित हुए। यह तथ्य इस उपन्यास की लोकप्रियता का असन्दिग्ध प्रमाण है।

युगलांगुलीय :—

सन् १८९४ ई० में ही बंकिम बाबू के 'युगलांगुलीय' नामक उपन्यास का पं० प्रताप नारायण मिश्र द्वारा प्रस्तुत अनुवाद खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ।[२९] इस अनुवाद के अन्य संस्करणों का पता लेखक को अब तक नहीं मिला है।

सन् १९१० में 'युगलांगुलीय' का श्रीयुत् रुद्रनारायण कृत अनुवाद 'युगलांगुलीय' अर्थात् 'दो अँगूठियाँ' शीर्षक से, इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ। इसके तृतीय संस्करण के साथ संलग्न प्रथम संस्करण की 'भूमिका' के नीचे 'प्रयाग ३० वृष सं० १९६७ वि०' मुद्रित है।[३०] उक्त भूमिका से ज्ञात होता है कि यह मूल उपन्यास का अविकल अनुवाद न होकर छायावाद अथवा रूपान्तर है।[३१]

विवेच्य अनुवाद का तीसरा संस्करण १९२३ ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से ही प्रकाशित हुआ। इस तीसरे संस्करण के साथ संलग्न परिचय से दूसरे संस्करण का प्रकाशन काल १९१४ ई० ज्ञात होता है।

सन् १९१८ ई० में 'युगलांगुलीय' का पं० कात्यायनी दत्त त्रिवेदी द्वारा प्रस्तुत अनुवाद हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।[३२]

'युगलांगुलीय' का श्री रामशीष सिंह कृत अनुवाद १९३५ ई० के आस-पास हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से बंकिम ग्रन्थावली, खण्ड २ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। इस ग्रन्थावली का १९३७ ई० में प्रकाशित दूसरा संस्करण आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में उपलब्ध है। इस प्रकार सन् १८९४ ई० से लेकर १९३७ ई० तक युगलांगुलीय के कम से कम ४ अनुवाद और कुल मिलाकर ७ संस्करण प्रकाशित हुए। उपन्यास की लोकप्रियता का यह प्रमाण है।

राजसिंह :—

बंकिम बाबू के 'राजसिंह' नामक उपन्यास का अनुवाद सर्वप्रथम भारतेन्दु हरिश्चन्द्र ने प्रस्तुत किया था। उनकी मृत्यु के बाद यह अनुवाद खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर द्वारा १८९४ ई० में प्रकाशित हुआ।[३३] इस अनुवाद के प्रत्येक परिच्छेद के आरम्भ में भारतेन्दु ने स्वरचित कविताओं के उद्धरण दिये हैं। १८९४ ई० में ही खड्ग विलास प्रेस ने 'राजसिंह' का पं० प्रतापनारायण मिश्र द्वारा किया हुआ एक दूसरा अनुवाद भी प्रकाशित किया।[३४]

भारतेन्दु हरिश्चन्द्र और पं० ---------- मिश्र के बाद श्री किशोरीलाल गोस्वामी ने राजसिंह का एक अनुवाद प्रस्तुत किया, जिसे खड्ग विलास प्रेस ने ही १९१० ई० में

प्रकाशित किया। इस पुस्तक की एक प्रति आर्य भाषा पुस्तकालय में उपलब्ध है, पर उसके आरम्भिक पृष्ठों के फटे होने के कारण प्रकाशन-काल अथवा संस्करण का पता नहीं चलता।

सन् १९१२ ई० में 'राजसिंह' का पं० रामानन्द द्विवेदी कृत अनुवाद रामलाल वर्मा प्रोप्राइटर, बर्म्मन प्रेस, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित हुआ। लेखक को इस अनुवाद का प्रथम संस्करण नहीं मिल सका है, पर इसके चतुर्थ संस्करण के साथ संलग्न प्रथम संस्करण की 'भूमिका' के नीचे 'कलकत्ता कार्तिक कृष्ण ५ संवत् १९६९' मुद्रित है।

पुस्तक की भूमिका से ज्ञात होता है कि प्रारम्भ में इन महाशय[३५] ने इसके पात्रों का नाम बदल दिया था तथा अधिकांश में इसे नये ढंग का बनाना चाहा था, किंतु इस संस्करण में अनुवादक तथा सम्पादक ने 'राजसिंह' पुस्तक से मिलाकर उन्हें ठीक कर दिया है। फलतः पुस्तक में बहुत कुछ संशोधन-परिवर्धन हुआ है।[३६] इसका चौथा संस्करण १९२३ में रामलाल वर्मा, प्रोप्राइटर बर्म्मन प्रेस, कलकत्ता ने प्रकाशित किया था।[३७]

हरिदास वैद्य ने भी 'राजसिंह' का एक अनुवाद प्रस्तुत किया था, जिसका दूसरा संस्करण १९१८ ई० में हरिदास एंड कम्पनी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। यह सूचना आर्य भाषा पुस्तकालय, काशी की पुस्तक सूची से प्राप्त की गयी है।

'राजसिंह' का एक अन्य अनुवाद रामदीप सिंह ने भी प्रस्तुत किया था, जिसका दूसरा संस्करण १९३७ ई० (१९९४ वि०) में हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, कलकत्ता से बंकिम ग्रन्थमाला, द्वितीय खण्ड के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था। इस अनुवाद का तीसरा संस्करण १९४६ ई० में प्रकाशित हुआ।[३८]

'राजसिंह' का एक अन्य अनुवाद श्रीकृष्ण हसरत ने भी प्रस्तुत किया, जिसका तीसरा संस्करण १९५४ ई० में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, ज्ञानवापी, बनारस सिटी से प्रकाशित हुआ।[३९] अनुवाद के प्रथम दो संस्करण लेखक को नहीं प्राप्त हो सके हैं, अतः उनके सम्बन्ध में कोई सूचना दे पाना संभव नहीं हो सका है।

कृष्णकान्त का दानपत्र :—

सन् १८९८ ई० में बंकिम बाबू के 'कृष्णकान्तेर विल' नामक उपन्यास का पं० अयोध्या सिंह उपाध्याय कृत 'कृष्णकान्त का दान-पत्र' शीर्षक अनुवाद खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ।[४०] इस ग्रन्थ के उपसंहार से ज्ञात होता है कि इसकी रचना १८९७ ई० में ही हो चुकी थी। उपसंहार के नीचे ३१.८.९७ तिथि दी हुई है।[४१] इस अनुवाद का दूसरा संस्करण १९१८ ई० में खड्ग विलास प्रेस, पटना से ही प्रकाशित हुआ।[४२]

सन् १९१६ ई० में विवेच्य उपन्यास का गुलजारीलाल चतुर्वेदी कृत अनुवाद हरिदास एंड कम्पनी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।[४३] ग्रन्थ की भूमिका से ज्ञात होता है कि यह भी मूल उपन्यास का भावानुवाद है।

सन् १९३४ ई० में इस उपन्यास का श्री रामदीप सिंह कृत एक अनुवाद हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी से बंकिम भाग १ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था इस

उपन्यास का एक दूसरा अनुवाद साहित्य सेवासदन या पुस्तक सदन, काशी से भी प्रकाशित हुआ था जिसके अनुवादकों के नाम का पता नहीं चलता।[४४]

विवेच्य उपन्यास का श्री कमल, बी० ए० कृत एक अनुवाद १९५३ ई० में श्री प्रभाकर साहित्यालोक, रानी कटरा, लखनऊ द्वारा प्रकाशित किया गया था।[४५] इस अनुवाद के अन्य संस्करण मुझे प्राप्त नहीं हो सके हैं।

'कृष्णकान्तेर बिल' का एक अन्य अनुवाद श्रीकृष्ण हसरत ने भी प्रस्तुत किया था जिसका चौथा संस्करण दिसम्बर १९५८ ई० में हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, वाराणसी से प्रकाशित हुआ।[४६] इस अनुवाद के प्रथम तीन संस्करणों को प्राप्त करने में मैं असमर्थ रहा हूँ।

सन् १९५८ ई० में मुद्रित इंडियन प्रेस, प्रयाग की एक पुस्तक-सूची से ज्ञात होता है कि विवेच्य उपन्यास का एक अनुवाद यहाँ से भी प्रकाशित हुआ था। इस प्रकार सन् १८९८ ई० से १९५८ ई० के बीच इस उपन्यास के कम से कम ७ अनुवाद और उनके कुल मिलाकर ११ संस्करण प्रकाशित हुए जो उपन्यास की लोकप्रियता का द्योतक है।

कपालकुण्डला :—

सन् १९०१ ई० में बंकिम बाबू के 'कपालकुण्डला' नामक उपन्यास का पं० प्रतापनारायण मिश्र कृत अनुवाद खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ।[४७] इस अनुवाद के अन्य संस्करणों का पता अब तक लेखक को नहीं मिल पाया है।

'कपालकुण्डला' का बाबू दामोदर दास खत्री कृत एक अन्य अनुवाद 'नवकुमार या कपालकुण्डला' शीर्षक से देवकीनन्दन सिंह द्वारा १९१४ ई० में प्रकाशित किया गया।[४८] अनुवाद के अन्य संस्करणों का पता लेखक को नहीं है। 'मतवाला' के १ दिसम्बर १९२३ के अंक में इस अनुवाद का एक विज्ञापन प्राप्त है, जिसके नीचे 'पता—मतवाला कार्यालय, २३ शंकर घोष लेन, कलकत्ता' अंकित है। कदाचित इसका दूसरा संस्करण १९२३ ई० में 'मतवाला कार्यालय' से प्रकाशित हुआ हो।

'कपालकुण्डला' का एक अनुवाद पं० चन्द्रशेखर पाठक ने भी प्रस्तुत किया था। आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में इस उपन्यास की एक प्रति है, पर उसके मुखपृष्ठ के फट जाने के कारण प्रकाशक तथा प्रकाशन-काल का कुछ भी पता नहीं चलता। आ० भा० पु० काशी की पुस्तक-सूची से ज्ञात होता है कि इस अनुवाद का प्रथम संस्करण १९१९ ई० में हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था।

सन् १९३२ ई० में 'कपाल-कुण्डला' का श्री कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय कृत अनुवाद हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से बंकिम ग्रन्थावली, खण्ड दो के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ।

'कपालकुण्डला' का एक अन्य अनुवाद श्रीनाथ ब्रदर्स, बनारस सिटी से भी प्रकाशित हुआ था[४९] पर पुस्तक के मुखपृष्ठ पर न तो अनुवादक का ही नाम दिया गया है न -काल ही।

पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी निराला ने भी कपालकुण्डला का एक अनुवाद प्रस्तुत किया था जो १९४६ ई० में इंडियन प्रेस, प्रयाग से प्रकाशित हुआ।[५०] विवेच्य उपन्यास का श्री कमला बी० ए० द्वारा प्रस्तुत किया हुआ एक अनुवाद १९५३ ई० में प्रभाकर साहित्यालोक, रानी कटरा, लखनऊ द्वारा प्रकाशित किया गया।[५१] इस अनुवाद के अन्य संस्करणों का पता लेखक को नहीं है।

१९५८ ई० में मुद्रित हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी की पुस्तक-सूची से ज्ञात होता है कि इस प्रकाशन-संस्था से भी 'कपालकुण्डला' का कोई अनुवाद प्रकाशित हुआ था। लेखक को अनुवाद की प्रति नहीं प्राप्त हो सकी है। इस कारण इसके संबंध में कोई सूचना दे पाना कठिन है। आर्यभाषा पुस्तकालय की पुस्तक-सूची में 'कपालकुण्डला' के अनुवाद की, साहित्य सेवा सदन या पुस्तक भवन, काशी से प्रकाशित होने की सूचना दी हुई है। इस प्रकार सन् १९०१ ई० से लेकर १९५८ ई० तक 'कपालकुण्डला' के कम से कम ९ अनुवाद प्रस्तुत किये गये।

आनन्द मठ :—

बंकिम बाबू के 'आनन्द मठ' नामक उपन्यास का श्री कमलानन्द सिंह कृत अनुवाद सर्वप्रथम डाइमंड जुबिली प्रेस, कानपुर से १९०६ ई० में प्रकाशित हुआ।[५२] इस अनुवाद के अन्य संस्करण मेरे देखने में नहीं आये हैं।

'आनन्द मठ' का एक अनुवाद जिसे पं० ईश्वरीप्रसाद शर्मा ने प्रस्तुत किया था, १९२२ ई० में सर्वप्रथम हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।[५३] इस अनुवाद के 'प्रकाशकीय निवेदन' से ज्ञात होता है कि 'आनन्द मठ' का पहला अनुवाद वेंकटेश्वर प्रेस, बम्बई से प्रकाशित हुआ था।[५४]

सन् १९२२ ई० में ही 'आनन्द मठ' का श्रीयुक्त मोहन द्वारा प्रस्तुत किया हुआ अनुवाद सरस्वती पुस्तकमाला कार्यालय से प्रकाशित हुआ।[५५] 'आनन्द मठ' का श्री कार्तिकेय-चरण मुखोपाध्याय कृत अनुवाद १९३२ ई० में हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से बंकिम ग्रन्थमाला, खण्ड ३ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। विवेच्य उपन्यास का एक दूसरा अनुवाद श्री कमल बी० ए० ने भी प्रस्तुत किया जिसका दूसरा संस्करण १९५५ ई० में श्री प्रभाकर साहित्यालोक, रानी कटरा, लखनऊ द्वारा प्रकाशित किया गया।[५६] किताब महल, इलाहाबाद से 'आनन्द मठ' का एक अनुवाद १९५७ ई० के पूर्व प्रकाशित हुआ था।[५७]

आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी की पुस्तक-पंजी से ज्ञात होता है कि विवेच्य उपन्यास का एक अनुवाद मनमोहन पुस्तकालय, बनारस से भी प्रकाशित हुआ था। १९५८ ई० में मुद्रित हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय काशी, सुरेन्द्र एन्ड को० कटरा, इलाहाबाद तथा इन्डियन प्रेस, प्रयाग की पुस्तक-सूचियों से ज्ञात होता है कि उक्त प्रकाशन संस्थाओं से भी 'आनन्द मठ' के एक-एक अनुवाद प्रकाशित हो चुके थे, यद्यपि लेखक को इन अनुवादों की प्रति अभी तक नहीं प्राप्त हो सकी है। इस प्रकार सन् १९०६ ई० से लेकर १९५८ ई० के बीच 'आनन्दमठ' के कम से कम ८ अनुवादों का पता चलता है जिससे उपन्यास की लोकप्रियता प्रमाणित होती है

चन्द्रशेखर

बंकिम बाबू के 'चन्द्रशेखर' नामक उपन्यास का बाबू व्रजनन्दन सहाय कृत अनुवाद १९०७ ई० में खड्गविलास प्रेस, बाँकीपुर से प्रकाशित हुआ।[५८] इसका एक अन्य अनुवाद पारसनाथ त्रिपाठी ने भी प्रस्तुत किया था, जिसका पहला संस्करण १९१५ ई० में और दूसरा संस्करण १९१८ ई० में प्रकाशित हुआ था। आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में इस अनुवाद के दूसरे संस्करण की एक प्रति उपलब्ध है, पर उसके मुखपृष्ठ के फटे रहने के कारण कोई सूचना नहीं मिलती। सौभाग्यवश ग्रन्थ में प्रथम संस्करण की भूमिका और द्वितीय संस्करण का 'वक्तव्य' संलग्न है जिनके नीचे क्रमशः "शाहपुर पट्टी आरा, जेष्ठ शु० १३ सं० १९७२" और "१-८-१८." मुद्रित है।[५९]

सन् १९३२ ई० में विवेच्य उपन्यास का श्री कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय कृत अनुवाद हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से बंकिम ग्रन्थावली खण्ड ३ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ। आर्यभाषा पुस्तकालय की पुस्तक-पंजी में इस अनुवाद का शीर्षक 'चन्द्रशेखर वा शैवालिनी' दिया हुआ है। इससे यह भी ज्ञात होता है कि इसका दूसरा संस्करण १९१८ ई० मे हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था।

'चन्द्रशेखर' का श्री कमल, बी० ए० कृत एक अनुवाद १९५३ ई० में श्री प्रभाकर साहित्यालोक, रानी कटरा, लखनऊ से प्रकाशित हुआ।[६०] इसका एक अनुवाद किताब महल, इलाहाबाद से १९५७ ई० के पूर्व प्रकाशित हो चुका था।[६१] १९५८ में मुद्रित इंडियन प्रेस, इलाहाबाद तथा हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय की पुस्तक-सूचियों से ज्ञात होता है कि उक्त प्रकाशन संस्थाओं से भी 'चन्द्रशेखर' के एक-एक अनुवाद प्रकाशित हो चुके थे। इस प्रकार सन् १९०७ ई० से लेकर १९५८ ई० तक 'चन्द्रशेखर' के कम से कम ५ अनुवाद हो चुके थे। यह उपन्यास की लोकप्रियता का परिचायक है।

विषवृक्ष :—

सन् १९१५ ई० में बंकिम बाबू के प्रसिद्ध उपन्यास 'विषवृक्ष' का गुलजारी लाल चतुर्वेदी कृत अनुवाद सर्व प्रथम हरिदास वैद्य, कलकत्ता द्वारा प्रकाशित किया गया।[६२] 'विषवृक्ष' का एक दूसरा अनुवाद पं० जनार्दन झा ने प्रस्तुत किया जो १९२५ ई० में या उसके कुछ पूर्व हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ।[६३] 'प्रभा' में प्रकाशित 'पुस्तक-परिचय' से ज्ञात होता है कि इस अनुवाद के प्रकाशित होने के पूर्व हिन्दी में इस उपन्यास के तीन-चार अनुवाद निकल चुके थे।[६४] आर्यभाषा पुस्तकालय की पुस्तक-सूची से ज्ञात होता है कि १९३२ ई० में इस अनुवाद का दूसरा संस्करण भी हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ। पुस्तक-सूची से यह भी ज्ञात होता है कि विवेच्य उपन्यास का रामाशीष सिंह कृत अनुवाद हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी से ही बंकिम ग्रन्थमाला, खण्ड १ के अन्तर्गत १९३४ ई० (१९९१ वि०) में प्रकाशित हुआ।

सन् १९४९ ई० में 'विषवृक्ष का प० सूर्यकान्त त्रिपाठी कृत अनुवाद इण्डियन प्रेस प्रयाग से प्रकाशित हुआ[६५] हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी से भी विषवृक्ष का एक

अनुवाद प्राप्त होता है। इस अनुवाद का १९५७ ई० में प्रकाशित तीसरा संस्करण आर्य-भाषा पुस्तकालय काशी में उपलब्ध है। इस प्रकार सन् १९१५ ई० से लेकर सन् १९५७ ई० तक 'विषवृक्ष' के कम से कम ५ अनुवाद और उनके कुल मिलाकर ८ संस्करण प्रकाशित हो चुके हैं। उपन्यास की लोकप्रियता का यह असंदिग्ध प्रमाण है।

मृणालिनी :—

सन् १९१५ ई० में बंकिम बाबू के 'मृणालिनी' नामक उपन्यास का जयरामदास गुप्त कृत अनुवाद उपन्यास बहार आफिस, काशी से प्रथम बार, प्रकाशित हुआ।[६६] आर्य-भाषा पुस्तकालय की पुस्तक-सूची में इस अनुवाद के १९१८ ई० में प्रकाशित द्वितीय संस्करण की सूचना दी हुई है। सन् १९१६ ई० में 'मृणालिनी' का पं० शुकदेवप्रसाद वाजपेयी द्वारा प्रस्तुत दूसरा अनुवाद नवलकिशोर प्रेस, लखनऊ से प्रकाशित हुआ।[६७] रामाशीष सिंह द्वारा प्रस्तुत इस पुस्तक का एक अनुवाद १९३४ ई० (१९९१ वि०) में हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से भी बंकिम ग्रन्थमाला, भाग १ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था।

'मृणालिनी' का हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी से प्रकाशित एक अनुवाद भी प्राप्त होता है। इस अनुवाद का १९५५ ई० में प्रकाशित द्वितीय संस्करण बिहार राष्ट्रभाषा परिषद् पुस्तकालय, पटना में उपलब्ध है। ग्रन्थ में अनुवादक का नाम नहीं दिया हुआ है। इस प्रकार १९१५ ई० से लेकर १९५५ ई० तक 'मृणालिनी' के कम से कम चार अनुवाद, कुल मिलाकर छह संस्करण प्रकाशित हुए। यह भी उपन्यास की लोकप्रियता का ही परिचायक है।

रजनी :—

बंकिम बाबू के 'रजनी' नामक उपन्यास का अनुवाद सर्वप्रथम बाबू व्रजनन्दन सहाय और बाबू रघुनाथप्रसाद सिंह ने मिलकर प्रस्तुत किया था जो हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता से १९१५ ई० में प्रकाशित हुआ था।[६८] आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में इस अनुवाद की एक प्रति उपलब्ध है, पर उसमें प्रकाशन काल नहीं दिया है।[६९]

सरस्वती वर्ष १७, अंक २ (फरवरी १९१६ ई०) में प्रकाशित इस अनुवाद की समीक्षा से अनुमान लगाया जा सकता है कि यह १९१६ ई० के जनवरी महीने में अथवा १९१५ ई० के अंत में प्रकाशित हुआ होगा। उक्त समीक्षा से यह भी ज्ञात होता है कि यह अविकल अनुवाद न होकर स्वतंत्र अनुवाद है।[७०] आर्य भाषा पुस्तकालय की पुस्तक सूची से ज्ञात होता है कि इस अनुवाद का दूसरा संस्करण १९१८ ई० में हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता से प्रकाशित हुआ था। 'रजनी' का अक्षयवट मिश्र द्वारा प्रस्तुत एक अन्य अनुवाद १९१७ ई० में खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर से भी प्रकाशित हुआ था।[७१]

'सोने की राख वा पद्मिनी' (प्रकाशन काल १९२१ ई०) नामक उपन्यास में मुद्रित विज्ञापन से ज्ञात होता है कि उपन्यास बहार आफिस, काशी से भी 'रजनी' का कोई अनुवाद १९२१ ई० से पूर्व प्रकाशित हो चुका था।[७२] इसका रामाशीष सिंह कृत एक अनुवाद १९३५ ई० के लगभग हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से बंकिम ग्रन्थावली खण्ड २ के अन्तर्गत प्रकाशित हुआ था इस ग्रन्थावली का सन् १९३७ ई० में प्रकाशित दूसरा

संस्करण आर्यभाषा पुस्तकालय में उपलब्ध है। साहित्य सेवा सदन या पुस्तक भवन काशी से प्रकाशित एक अन्य अनुवाद की भी सूचना मिलती है।[७३]

'रजनी' का एक अनुवाद किताब महल, इलाहाबाद से १९५१ ई० के पूर्व प्रकाशित हो चुका था।[७४] १९५८ ई० में मुद्रित हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी और इंडियन प्रेस, प्रयाग के सूचीपत्रों से ज्ञात होता है कि उक्त प्रकाशन संस्थाओं से भी 'रजनी' के एक-एक अनुवाद प्रकाशित हुए थे। इस प्रकार सन् १९१५ ई० से लेकर १९५८ ई० तक 'रजनी' के हिन्दी में कम से कम ७ अनुवाद और कुल मिलाकर ९ संस्करण प्रकाशित हो चुके थे।

सन् १९३४ ई० में हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी, कलकत्ता से 'बंकिम ग्रन्थमाला' का प्रकाशन आरम्भ हुआ। इस ग्रन्थमाला का प्रथम खण्ड, जिसमें 'विषवृक्ष', 'मृणालिनी', 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा' और 'सीताराम' उपन्यास सम्मिलित किये गये थे, इसी वर्ष प्रकाशित हुआ।[७५] अनुवादक थे श्री रामाशीष सिंह। विवेच्य ग्रन्थमाला का दूसरा खण्ड, जिसमें 'देवी चौधरानी', 'राजसिंह', 'इन्दिरा', 'रजनी' और 'युगलांगुलीय' सम्मिलित किये गये थे, भी उक्त प्रकाशन संस्था से प्रथम खण्ड के प्रकाशित होने के कुछ बाद, प्रकाशित हुआ। इसके भी अनुवादक ठाकुर रामाशीष सिंह थे। इस खण्ड का १९३७ ई० में प्रकाशित दूसरा संस्करण आर्यभाषा पुस्तकालय में उपलब्ध है।[७६] दो-तीन वर्षों के भीतर इसके दो संस्करणों का प्रकाशित होना इस बात का प्रमाण है कि हिन्दी पाठकों के बीच बंकिम बाबू के उपन्यास बहुत लोकप्रिय थे।

'बंकिम ग्रन्थमाला' का तीसरा खण्ड जिसमें 'आनन्द मठ', 'दुर्गेशनन्दिनी', 'चन्द्रशेखर', 'कपाल कुण्डला' तथा 'राधारानी' सम्मिलित किये गये थे, हिन्दी पुस्तक एजेन्सी से १९३२ ई० में ही प्रकाशित हो चुका था।[७७] इस खण्ड के अनुवादक थे कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय।

मनमोहन पुस्तकालय, काशी से भी 'बंकिम ग्रन्थावली' तीनों खण्डों में प्रकाशित हुई थी। आर्यभाषा पुस्तकालय, काशी में विवेच्य ग्रन्थावली के तीनों खण्ड उपलब्ध हैं, किन्तु इनके आरम्भिक पृष्ठों के फटे रहने के कारण इनके अनुवादक या प्रकाशन-काल की सूचना नहीं प्राप्त हो पाती। आ० भा० पु० की पुस्तक-सूची से ज्ञात होता है कि उक्त ग्रन्थावली के तीनों खण्ड १९२३ ई० (१९८० वि०) में पन्नालाल गुप्त, मनमोहन पुस्तकालय, काशी द्वारा प्रकाशित किये गये थे। इस ग्रन्थावली के अनुवादक थे विश्वनाथ शर्मा। इस ग्रन्थावली में 'आनन्दमठ', 'लोक रहस्य', 'देवी चौधरानी', 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा', 'कपाल कुण्डला', 'रजनी', 'विषवृक्ष', 'मृणालिनी' और 'सीताराम' सम्मिलित किये गये थे।

इस प्रकार उपर्युक्त विवरण से स्पष्ट है कि सन् १९१५ ई० तक बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय के सभी उपन्यास हिन्दी में अनूदित हो चुके थे। इन उपन्यासों की लोकप्रियता इस तथ्य से सिद्ध है कि इस अवधि से ही इनके एकाधिक अनुवाद प्रस्तुत किये गये। प्रेमचन्द युग (१९१८-१९३६) में भी इन उपन्यासों की लोकप्रियता बनी रही। किंतु इसी बीच शरत् बाबू के मी हिन्दी में अनूदित होने लगे जिससे बंकिमचन्द्र के उपन्यासों की लोक

प्रियता को धक्का लगा। प्रेमचन्द और शरत् के उपन्यासों के प्रचार के फलस्वरूप बंकिम बाबू के उपन्यासों की लोकप्रियता धीरे-धीरे कम होने लगी। फिर भी यह नहीं कहा जा सकता कि बंकिमचंद्र के उपन्यास आज हिन्दी में नहीं पढ़े जाते।

संदर्भ-संकेत

(१) हिन्दी का पहला उपन्यास है पं० गौरीदत्त कृत 'देवरानी जेठानी' (१८७० ई०) यह पुस्तक लेखक द्वारा सम्पादित होकर ग्रन्थ निकेतन, पटना-६ से प्रकाशित हो चुकी है। (२) 'दुर्गेशनन्दिनी' प्रथम संस्करण, १८८२ ई०, सूचना (३) प्रा० स्था०—चै० पु० पटना। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"श्रीयुत् बाबू बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय कृत 'दुर्गेशनन्दिनी' जिसको गदाधर सिंह नायब तहसीलदार तहसीली देवगाँव जिला आजमगढ़ ने बंगभाषा से अनुवाद किया, १८८२ ई० (४) प्रा०स्था०—चै० पु० पटना। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"श्रीयुत् बाबू बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय कृत दुर्गेशनन्दिनी जिसको गदाधर सिंह नायब तहसीलदार तहसीली देवगाँव जिला आजमगढ़ ने बंगभाषा में अनुवाद किया। दूसरा खण्ड १८८४ ई० (५) उपरिवत्, अन्तिम आवरण पृष्ठ पर मुद्रित सूचना (६) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी (७) प्रा० स्था०—मा० पु० पटना (८) आ० भा० पु० की पुस्तक-सूची में इस संस्करण की सूचना दी गई है। पुस्तक अनुपलब्ध है (९) बाबू ब्रजनन्दन सहाय, चन्द्रशेखर, प्रका०—खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर १९०७ (१०) प्रा० स्था०—चै० पु० पटना। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"राधारानी बंगभाषा से किसी पतिप्राणा अबला द्वारा अनुवादित, इसके मुद्रणादि का अधिकार केवल मल्लिक चन्द्र और कम्पनी को प्राप्त है (रोमन अक्षरों में बनारस दि चन्द्रप्रभा प्रेस १८८३, पृ० सं० ३९ (११) ब्रजरत्न दास : चन्द्रप्रभा और पूर्ण प्रकाश, साहित्य, जुलाई १९६१, पृ० सं० ७९ (१२) प्रा० स्था०—चै० पु० पटना, मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—राय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय···कृत, राधारानी, ब्राह्मण सम्पादक पंडित प्रताप नारायण मिश्र द्वारा अनुवादित, खड्गविलास प्रेस,बाँकीपुर, साहिब प्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित। १८९४ प्रथम बार ७५०, पृ० सं० २० (१३) प्रा० स्था०—आ० भा० पु०, काशी (१४) वही (१५) चारुलता, ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रका० किताब महल, ५६ ए जीरो रोड, इलाहाबाद, १९५७, अंतिम आवरण पृष्ठ का विज्ञापन (१६) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—देवी (सत्य घटनापूर्ण सामाजिक उपन्यास), मुरादाबाद निवासी पं० बलदेवप्रसाद मिश्र द्वारा बंगभाषा से हिन्दी भाषा में अनुवाद कराया खेमराज श्री कृष्णदास ने मुम्बई निज 'श्री वेङ्कटेश्वर' छापेखाना में मुद्रित किया। संवत् १९५६, शके १८२१ (१७) उपरिवत्, भूमिका (१८) फूल कुमारी, अनु० जयराम दास गुप्त, प्रका० उपन्यास दर्पण कार्यालय, काशी, १९०८, भूमिका (१९) प्रा० स्थान—बि० रा० भा० पटना (२०) चारुलता, ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद, १९५७, अंतिम आवरण पृष्ठ का विज्ञापन (२१) प्रा० स्था० चै० पु०, पटना। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"राय बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय, सी० आई० ई० कृत इन्दिरा ब्राह्मण

पं० मिश्र द्वारा अनुवादित सर ऐल्क ड जडलो क्रोफ्ट के० सी० आई० ई०,

एम० ए०, डाइरेक्टर ऑफ पब्लिक इन्सट्रक्शन बंगाल के आज्ञानुसार म० कु० बा० रामदीन सिंह द्वारा प्रकाशित, खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, साहिब प्रसाद सिंह, द्वारा मुद्रित १८९४ प्रथम बार ६२५ (२२) प्राप्ति स्थान—आ० भा० पु०, काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय कृत 'इन्दिरा' का म० कु० बा० रामदीन सिंह के आज्ञानुसार पं० किशोरीलाल गोस्वामी कृत हिन्दी अनुवाद, पटना—खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर। बाबू चण्डीप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित १९०८ (२३) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी (२४) वही (२५) वही (२६) वही (२७) वही (२८) चारुलता, ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रका० किताब महल, ५६, ए जीरो रोड, इलाहाबाद १९५७, अन्तिम आवरण पृष्ठ का विज्ञापन (२९) प्रा० स्था०—चै० पु०, पटना। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—राय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय...... कृत युगलांगुलीय, ब्राह्मण सम्पादक पंडित प्रतापनारायण मिश्र द्वारा अनुवादित, म० कु० बा० रामदीन सिंह द्वारा प्रकाशित खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, साहिब प्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित १८९४, प्रथम बार ७२५, पृष्ठ सं० १९ (३०) 'युगलांगुलीय' अर्थात् 'दो अँगूठियाँ', पं० रुद्रनारायण, इंडियन प्रेस, प्रयाग तृतीयावृत्ति, १९१३, निवेदन (३१) वही (३२) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी (३३) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—राय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय सी० आई० ई० कृत राजसिंह अथवा राजपूताने का अंतिम वीर भारत भूषण भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र द्वारा अनुवादित हिन्दी भाषा के प्रेमी तथा रसिक जनों के मनोविलास के लिये क्षत्रिय पत्रिका सम्पादक म० कु० बाबू रामदीन सिंह द्वारा प्रकाशित। खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर साहिब प्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित १८९४ प्रथम बार ८०० (३४) प्रा० स्था०—आ० भा० पु०, काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—राय बंकिमचन्द्र चट्टोपाध्याय......कृत राजसिंह ब्राह्मण सम्पादक पंडित प्रतापनारायण मिश्र द्वारा अनुवादित ....म० कु० बाबू रामदीन सिंह द्वारा प्रकाशित खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर साहिब प्रसाद द्वारा मुद्रित १८९४। प्रथम बार ८००। पृष्ठ सं० ६० (३५) प्राणतोषदत्त, वीर भारत जिसमें यह उपन्यास क्रमशः प्रकाशित हुआ था, के अध्यक्ष (३६) राजसिंह, अनु० पं० रामानन्द द्विवेदी, प्र० रामलाल वर्मा, प्रोप्राइटर बर्म्मन प्रेस और आर० एल० बर्म्मन एंड को०, अपर चीतपुर रोड, कलकत्ता, चतुर्थ संस्करण १९८० वि० भूमिका (३७) प्रा० स्था०—आ० भा० पु०, काशी ३८) प्रा० स्था०—प० कॉ० पु०, पटना (३९) प्रा० स्था०—बि० रा० भा० प० पु०, पटना (४०) प्रा० स्था० आ० भा० पु०, काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—रायबहादुर बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय कृत कृष्णकान्तेर उइल, अर्थात् कृष्णकान्त का दानपत्र, पंडित अयोध्यासिंह उपाध्याय द्वारा अनुवादित...म० कु० बाबू रामदीन सिंह द्वारा प्रकाशित पटना, खड्ग बिलास प्रेस, बाँकीपुर साहिब प्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित विक्रमाब्द १९५४ खृष्टाब्द १८९८, हरिश्चन्द्राब्द १४, प्रथम बार (४१) उपरिवत, उपसंहार ४२) प्रा० स्था०—बि० रा० भा० प० पु०, पटना (४३) प्रा० स्था०—आ० भा० पु०, काशी (४४) आ० भा पु०, काशी की पुस्तक-सूची (४५) प्रा० स्था०—बि० रा० भा० प० पु० पटना (४६) प्रा० स्था० आ० भा० पु० काशी (४७) प्रा० स्था—आ० भा० पु० काशी मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि बाबू बंकिमचंद्र चट्टोपाध्याय कृत ,

पं० प्रतापनारायण मिश्र द्वारा अनुवादित, खड्ग विलास प्रेस बाँकीपुर, साहिब प्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित और प्रकाशित १६०१ पहली बार, पृष्ठ संख्या १०७ (४८) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी (४६) प्रा० स्था०—आ० भा० पु०, काशी (५०) प्रा० स्था० - बि० रा० भा० पा० पु०, पटना। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—'कपालकुण्डला', मूल लेखक—बंकिमचन्द्र, अनु० निराला सूर्यकान्त त्रिपाठी, प्रका० इंडियन प्रेस, लिमिटेड, प्रयाग १६४६ (५१) प्रा० स्था०—बि० रा० भा० प० पु०, पटना (५२) प्रा० स्था०—आ० भा० पु०, काशो। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—आनन्दमठ, राजनैतिक स्वदेशानुराग पूरित उपन्यास, पूर्णिया जिलान्तर्गत श्री नगरनराधिप साहित्य सरोज श्री कमलानन्द सिंह द्वारा अनुवादित, डायमण्ड जुबिली प्रेस कानपुर में मुद्रित, प्रथम बार १०००, सन् १६०६, पृ० सं०—३०६ (५३) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी (५४) उपरिवित्, प्रकाशक का निवेदन (५५) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी (५६) प्रा० स्था०—बि० रा० भा० प० पु० पटना (५७) चारुलता, ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रका० किताब महल, ५६ ए जीरो रोड, इलाहाबाद, १६५७, अंतिम आवरण पृष्ठ का विज्ञापन (५८) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—"बंकिमचन्द्र चटर्जी, सी० आई० कृत चन्द्रशेखर, वृजविनोद, हनुमान लहरी, कलंक मोचन, अद्‌भुत प्रायश्चित, सप्तम प्रतिमा और अर्थशास्त्र आदि ग्रन्थों के रचयिता अख्तियारपुर, जिला आरा निवासी बाबू व्रजनंदन सहाय (उपनाम वृजवल्लभ) वकील आरा कृत हिन्दी अनुवाद, म० लु० बाबू रामरण विजय सिंह द्वारा प्रकाशित, खड्‌गविलास प्रेस बाँकोपुर, बाबू चण्डीप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित १६०७ (५६) चन्द्रशेखर, अनु० पारसनाथ त्रिपाठी, द्वितीय संस्करण १६१८, वक्तव्य (६०) प्रा० स्था०—बि० रा० भा० प० पु० पटना (६१) चारुलता, ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रकाशक किताब महल, ५६ ए जीरो रोड इलाहाबाद १६५७, अन्तिम आवरण पृष्ठ का विज्ञापन (६२) प्रा० स्था०—आ० भा० स० पु० काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—विषवृक्ष, ले० बंकिमचन्द्र चटर्जी, अनु० गुलजारीलाल चतुर्वेदी, प्रका० हरिदास वैद्य, २०१ हरीसन रोड, कलकत्ता, प्रथम बार, १०००, १६११ ई०, पृ० सं० २६५ (६३) सरस्वती, मार्च १६१५, पुस्तक परिचय; प्रभा, अप्रैल १६२५ पुस्तक परिचय (६४) प्रभा, अप्रैल १६२५, पुस्तक परिचय 'विषवृक्ष' (६५) प्रा० स्था०—बि० रा० भा० प० पु० पटना। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—'विषवृक्ष' अनु० पं० सूर्यकान्त त्रिपाठी, प्रका० इंडियन प्रेस लिमिटेड, इलाहाबाद १६४६, प्रथम संस्करण, पृ० सं २२४ (६६) द्वारा० स्था०—बै० पु० पटना। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—'मृणालिनी' (एक मनोहर उपन्यास) मूल ले० बंकिमचन्द्र, अनु० बाबू जयरामदास गुप्त, प्रकाशक—उपन्यास बहार आफिस राजघाट, काशी। चन्द्रप्रभा प्रेस में बाबू गौरीशंकर लाल मैनेजर द्वारा मुद्रित। प्रथम बार, मई, १६५३ (६७) प्रा० स्था०—आ० भा० पु० काशी (६८) 'रजनी', हिन्दी अनुवाद, हरिदास एण्ड कम्पनी, कलकत्ता, सन् १६१५ सम्वत् १६७२, मूल्य आठ आना, पृ० संख्या १६४।—श्री हरिहरनाथ, व्रजनन्दन सहाय 'व्रजवल्लभ' जीवनी और कृतित्व (अप्रकाशित शोध निबन्ध) हिन्दी विभाग, पटना विश्वविद्यालय (६६) मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—'रजनी', बाबू व्रजनन्दन सहाय तथा रघुनाथ प्र० सिंह द्वारा अनुवादित हरिदास एण्ड कम्पनी द्वारा प्रकाशित (७०) पुस्तक-समीक्षा—(रजनी' सरस्वती,

भाग १७, अंक २, फरवरी १९१६ (७२) प्रा० स्था०—बि० रा० भा० प० पु० पटना मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—'रजनी', ले० श्री रायबहादुर बंकिमचंद, अनु०-पटना कालिज के संस्कृत-हिन्दी व्याख्याता—अक्षयवट मिश्र (विप्रचंद), खड्ग विलास प्रेस, बाँकीपुर, बाबू चंडीप्रसाद सिंह द्वारा मुद्रित और प्रकाशित १९१७, प्रथम बार, पृ० संख्या ११६ (७२) सोने की राख वा पद्मिनी (७३) आ० भा० पु० की पुस्तक-सूची (७४) 'चारुलता,' ले० रवीन्द्रनाथ ठाकुर, प्रका० किताब महल, ५६ ए, जीरो रोड, इलाहाबाद १९५७, अंतिम आवरण पृष्ठ का विज्ञापन (७५) प्रका० स्था०—आ० भा० पु० काशी, मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—बंकिम ग्रन्थमाला (भाग १) 'विषवृक्ष', 'मृणालिनी', 'कृष्णकान्त का वसीयतनामा' 'सीताराम', ले० बंकिमचंद चटर्जी, अनु० रामाशीष सिंह, प्रका० हिन्दी पुस्तक एजेन्सी २०३, हरिसन रोड, कलकत्ता (७६) प्रा० स्था०—आ० भा० पु०, काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—बंकिम ग्रन्थमाला द्वितीय खण्ड, स्व० बंकिमचंद चटर्जी के 'देवी चौधरानी', राजसिंह, 'इन्दिरा' और 'युगलांगुलीय', का अविकल अनुवाद। अनु०—ठाकुर रामाशीष सिंह प्रका०-हिन्दी पुस्तक ऐजेन्सी २०३, हरिसन रोड, कलकत्ता सं० १९९४, द्वितीय बार (७७) प्रा० स्था०—आ० भा० पु०, काशी। मुखपृष्ठ की प्रतिलिपि—बंकिम ग्रन्थमाला, तृतीय खण्ड, स्व० बंकिमचन्द्र चटर्जी के 'आनन्दमठ', 'दुर्गेशनन्दिनी', 'चन्द्रशेखर', 'कपालकुण्डला' और 'राधारानी' का अविकल अनुवाद। अनुवादक कार्तिकेयचरण मुखोपाध्याय, प्रका० हिन्दी पुस्तक एजेन्सी, २०३ हरिसन रोड, कलकत्ता, प्रथमबार १९८९।

पदमावत की अर्थ-मीमांसा

• पारसनाथ तिवारी

जायसीकृत 'पदमावत' का सुपुप्त गौरव इधर कई विद्वानों के मनोयोगपूर्ण अनुशीलन-परिशीलन से जाग उठा है। वैसे तो देश तथा विदेश के कई विद्वानों ने उसका अनेक दृष्टियों से अध्ययन किया; किन्तु सर्वप्रथम अपनी विद्वत्तापूर्ण समीक्षा द्वारा इसके महत्व का समुचित उद्‌घाटन स्व० आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने किया। इसके पश्चात् दूसरा महत्वपूर्ण प्रयास डॉ० माताप्रसाद गुप्त का है जिन्होंने समस्त उपलब्ध सामग्री का अध्यवसायपूर्वक संग्रह कर, अत्यधिक मनोयोगपूर्वक उसका विश्लेषण कर 'पदमावत' के प्रामाणिक पाठ का पुनरुद्धार किया जिससे प्रक्षेपों तथा पाठविकृतियों के अवांछनीय आवरण में छिपी जायसी की दीप्तिमान प्रतिभा के प्रकृत रूप का दर्शन संभव हुआ। तीसरा अविस्मरणीय प्रयास स्व. डॉ० वासुदेवशरण अग्रवाल का है जिन्होंने गुप्त जी द्वारा निर्धारित पाठ के आधार पर अपने व्यापक सांस्कृतिक अध्ययन के संबल तथा सूक्ष्म पारदर्शिनी दृष्टि के योग से उसकी 'संजीवनी व्याख्या' प्रस्तुत की जिससे 'पदमावत' के न जाने कितने अनदेखे वैभवों से हमारा परिचय हुआ और उसके अध्ययन की एक नवीन दिशा का उद्‌घाटन हुआ। हिन्दी की उत्कृष्ट टीकाओं के गणना-प्रसंग में अवश्य ही उनकी 'संजीवनी' कनिष्ठिकाधिष्ठित रहेगी। किन्तु जायसी की शब्दावली और उनकी अभिव्यक्ति ऐसी विलक्षण है कि उनके मूल आशय की अतल गहराई तक पहुँचने के लिए पर्याप्त मीमांसा अपेक्षित है। इस दृष्टि से पुनः एक श्रेयस्कर प्रयास डॉ० माताप्रसाद जी ने अपनी टीका में किया जिससे अनेक ऐसे स्थलों का यथार्थ बोध हो सका जिनका पूर्ण समाधान डॉ० अग्रवाल की टीका से न हो सका था। किन्तु दोनों में अनेक अन्तर ऐसे हैं जिनकी उपयुक्तता विवादास्पद है। इसके अतिरिक्त दोनों में कुछ स्थल ऐसे हैं जिनके अर्थशोध की अभी और आवश्यकता है।

प्रस्तुत निबन्ध में मैंने कुछ ऐसे ही स्थलों की ओर विद्वानों का ध्यान आकृष्ट करते हुए उनके सम्बन्ध में अपने कुछ सुझाव प्रस्तुत किये हैं जो इस ग्रन्थरत्न के अर्थसंधान में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। डॉ० गुप्त की टीका को ही इस विवेचन का मुख्य आधार बनाया गया है, क्योंकि यह सबसे बाद की है और इसमें सभी पूर्ववर्ती टीकाओं का उपयोग किया गया है और इधर प्राचीन साहित्य के गंभीर अध्ययन के उपरांत डॉ० गुप्त ने पाठ तथा अर्थ

की दृष्टि से अधिकाधिक परिष्कार किया है। डॉ० अग्रवाल की 'संजीवनी' का उल्लेख केवल उन्हीं स्थलों पर किया गया है जहाँ उसके अर्थ अधिक उपयुक्त जान पड़े हैं।

'हिन्दुस्तानी' के पिछले अंक (२६/१-२) मे इस प्रकार के कुछ स्थलों पर विचार किया गया था। प्रस्तुत निबन्ध में 'पदमावत' के अन्तिम दो सौ छंदों के २८ स्थलों का विवेचन किया गया है। सन्दर्भों में पहली संख्या उसके छंद की तथा दूसरी संख्या पंक्तिविशेष की है।

[१] ४६३-३: गवन गयंद ढाल जनु बाँही।

गुप्त जी की टीका है—"उसकी गति गजेन्द्र की होती है और बाँहें मानों [पर्वत की] ढालें हों, ऐसी होती है।"

डॉ० अग्रवाल इसका अर्थ इस प्रकार करते है—"चाल हाथी के समान होती है, उसकी दोनों भुजाएँ ऐसी लगती हैं मानों चँवर डुला रही हों।"

राघव चेतन द्वारा हस्तिनी नारी के चित्रण का प्रसंग है। मुझे इसका निम्नलिखित अर्थ उपयुक्त प्रतीत होता है—

चाल [ऐसी मानों] गजेन्द्र अपने कन्धे (टखने) ढारे या दलकावे। बाँहीं = भुजा अथवा कन्धा; यहाँ हाथी के स्कन्ध या अगले पैरों के टखनों के लिए प्रयुक्त ज्ञात होता है, अन्यथा प्रस्तुत प्रसंग में 'ढाल जनु बाँहीं' का कोई अन्य संतोषजनक अर्थ नहीं निकलता।

[२] ४६३-८ : गज गति चलै चहूँ दिसि हेरति, लाइ जगत कहँ चोख।

गुप्त जी—"जगत् भर को चोखा लगा (मान) कर"; डॉ० अग्रवाल—"मानों संसार को चूस कर पी जायगी।" प्रसंग पूर्ववत् है। यहाँ 'चोख' वस्तुतः 'चक्षु' (= नेत्र) ज्ञात होता है। लाइ जगत कहँ चोख = दुनिया भर से आँखें लड़ाती हुई।

[३] ४६४-५ : औ मुख आइ बिसाँइधि बासू।

बिसाँइधि बासू = विषगंध की सी बास (गुप्त जी); वसागंध, सड़ी मछली की सी बास (डॉ० अग्रवाल)। 'संजीवनी' का अर्थ यहाँ निश्चय ही अधिक उपयुक्त है। गुप्त जी ने अन्यत्र (४२६-६ तथा ४४१-२, ५) उसे बिसगंध अर्थात् कमलनाल की गंध माना है; किन्तु यह व्युत्पत्ति भी चिंत्य है।

[४] ४७३-१ : भौंहैं स्याम धनुक जनु चढ़ा। बेझ करैं मानुस कहँ गढ़ा।

गुप्त जी—उसकी काली भौंहें ऐसी हैं मानों [प्रत्यंचा] चढ़े हुए धनुष हों जो मनुष्यों को वेध्य करने के लिए गढ़े गये हों।

यद्यपि शब्द-योजना ऐसी है कि डॉ० गुप्त का अर्थ अनुपयुक्त नहीं कहा जा सकता, किन्तु डॉ० अग्रवाल की टीका कवि के मूल भाव की व्यंजना अधिक स्पष्ट रूप से करती है, यथा काली भौंहें ऐसी हैं मानों चढ़ा हुआ धनुष है जिसे वह अपना लक्ष्य बनाए ऐसा योग्य मनुष्य कहाँ रचा गया?

[५] ४३६-४ : चमकि बीज जस भादों रैनी। जगत दिप्टि भरि रही उड़ैनी ॥

पद्मावती की मुसकान का वर्णन है। गुप्त जी ने दूसरी पंक्ति का अर्थ किया है—"उसी प्रकार जगत् की दृष्टि में वह डकैत स्त्री भर रही।" डॉ० अग्रवाल ने 'उड़ैनी' का अर्थ ऊडुश्रेणी (= तारिकावली) किया है। प्रामाणिक कोश में 'उड़ैना' जुगनू है, 'उड़ैनी' उसी का स्त्रीलिंग रूप है। गुप्त जी की तुलना में शेष दोनों अर्थ श्रेष्ठ प्रतीत होते है, किन्तु निश्चयपूर्वक कुछ कहना कठिन है।

[६] ४७६-६ : अधर धरहिं रस पेम का, अलक भुअंगिनि बीच।
तब अंब्रित रस पाउ पीउ, ओहि नागिनि गहि खींच ॥

दोहे की दूसरी पंक्ति का अर्थ उपर्युक्त दोनों टीकाकारों ने इस प्रकार किया है—"इसलिए प्रियतम तभी उनका अमृत रस पा सकता है जब उन नागिनों (लटों) को पकड़ कर खींचे।" मेरे विचार से 'तब अंब्रित रस पाउ पिउ' का अर्थ होना चाहिए—अमृत रस तभी [कोई] पीने पावे।

[७] ४८४-२ : उजहि चली जनु भा पछिताऊ।

राघवचेतन की ओर निहार कर जब पद्मावती पीठ फेर चली उस अवसर पर अपनी मन:स्थिति का चित्रण स्वत: राघव अलाउद्दीन से करता है। गुप्त जी का अर्थ है: 'किन्तु वह मानो मुझे [मेरा सर्वस्व लेकर] छोड़ चली—ऐसा पछतावा मुझे हुआ।' डॉ० अग्रवाल तथा गुप्त दोनों ने 'उजहि' को प्रा० 'उज्झ' (= छोड़ना) से व्युत्पन्न माना है; किंतु वह उत् + साद् (= उत्सादन; उजाड़ना) ज्ञात होता है। ५२६-७ : उंदसा नाँच नचनिया मारा' मे 'उदसा' 'उजहा' का समानार्थी प्रतीत होता है (दंत्य स्पर्श 'द' के स्थान पर उसी स्थान के तालव्य स्पर्श वर्ण 'ज' के परिवर्तन के अनेक उदाहरण मिलते हैं; तुल० गदाधर>गजाधर)। 'बेल उजह गई' का तात्पर्य है बेल उजड़ गई। गुप्त जी ने जो 'उजहे खेत' का उदाहरण दिया है वह वस्तुत: 'उजड़े खेत' का समानार्थी ज्ञात होता है न कि छोड़े खेत का, जैसा कि उन्होंने माना है।

[८] ४६७-६ : ऊपर जाइ गँगन सब खसा। औ धरती तर गइ धसमसा ॥

गुप्त जी—'ऊपर [उनकी ऊँचाई से] समस्त आकाश गिरा पड़ रहा था और [उनके भार से] नीचे धरती धसमस (ध्वस्तता) ग्रहण कर रही थी।' किंतु इस टीका में स्पष्टता कम है—विशेषतया दूसरे चरण के अर्थ में। 'संजीवनी' यहाँ और भी अधिक भ्रमात्मक हो गई है, यथा : 'उनसे बचने के लिए आकाश जो ऊपर उठा तो सब ओर खिसक गया और धरती अपनी पेंदी को लेकर नीचे धँस गई।' वस्तुत: अर्थ होना चाहिए : [शाही हाथी ऊँचे इतने थे कि] ऊपर पहुँच कर उन्होंने आकाश को खिसका दिया (खसित कर दिया) और [भारी इतने कि] धरती को नीचे दबोच कर धसमसा दिया। 'खसा' और 'धसमसा' यहाँ वस्तुत: सकर्मक क्रिया रूप ज्ञात होते हैं।

[९] ५२७-७ सत बिसत सिंगार बाजहिं सबद होइ ।

डा० गुप्त ने एकेडेमी संस्करण में सिखर के स्थान पर सुभर पाठ रखा था जिससे अर्थ में कठिनाई होती थी प्रस्तुत पंक्ति में पाठ यद्यपि प्रामाणिक आ गया किंतु गुप्त जी की टीका से प्रथम चरण के पारिभाषिक शब्दों का पूर्ण स्पष्टीकरण नहीं हो सका। कबीर की टीका लिखते समय मुझे भी संगीत के कुछ पारिभाषिक शब्दों की जानकारी प्राप्त करनी पड़ी है। उसी प्रसंग में जर्नल आफ़ दि ओरियन्टल इंस्टीट्यूट, बड़ौदा, भाग २ अंक ३-४, भाग ३ अंक २ तथा भाग ४ अंक ४ में डॉ० हीरालाल कपाडिया का एक उत्कृष्ट कोटि का निबन्ध 'जैन डाटा एबाउट म्यूज़िकल इंस्ट्रूमेंट्स' देखने का सौभाग्य प्राप्त हुआ जिससे जायसी द्वारा प्रयुक्त इन शब्दों की भी स्पष्ट पहचान हो सकी। संगीताचार्यों ने वाद्यों के मुख्य चार भेद किये हैं :—

तत्तं वीणादिकं ज्ञेयं विततं पटहादिकम्।
घनं तु कांस्यतालादि वंशादि सुषिरं मतम्॥

(अर्थात् वीणादिक को तत वाद्य, पटह आदि को, जिन पर चमड़ा कसा रहता है, वितत वाद्य, कांस्यताल या करताल आदि को घन वाद्य तथा बाँसुरी आदि फूँककर बजाए जाने वाले बाजों को सुषिर वाद्य कहा जाता था)—ज० ओ० इ० २-३ में पृ० २६५ पर उद्धृत। तुलनीय वात्स्यायनकृत कामसूत्र १०३ की जयमङ्गला टीका—

घनं तु विततं वाद्यं ततं सुषिरमेव च।
कांस्यपुष्करतंत्रीभिर्वेणुना च यथाक्रमम्॥

(ज० ओ० इ० ३-२, पृ०-१६० की पाद-टिप्पणी मे उद्धृत)

श्री हर्ष (१२वीं शताब्दी) ने भी 'नैषध चरित्र' १५-१६ में तत, आनद्ध, घन तथा सुषिर वाद्यों का उल्लेख किया है।

इससे स्पष्ट है कि सं० तत, वितत, सुषिर और घन के ही जनपदीय रूप तत, बितत, सिखर और घनतार हैं। द्वित्व के लिए मध्यकाल में सानुस्वार रूप प्रचलित हो गए थे, इसी से कदाचित् 'तत्त बितत्त' के लिए 'तंत बितंत' रूप हो गये। मैंने उपर्युक्त उद्धरणों की ओर डॉ० गुप्त का ध्यान आकृष्ट किया था और उन्होंने उदारतापूर्वक उनकी उपयुक्तता स्वीकार करते हुए शुद्धिपत्र (पृ० ५६७) में उनके शुद्ध रूपों का उल्लेख कर दिया। मुझे यह देखकर अत्यधिक प्रसन्नता हुई कि डॉ० वासुदेवशरण जी ने 'संजीवनी व्याख्या' के द्वितीय संस्करण में न केवल इन शब्दों की ठीक पहचान खोज निकाली बल्कि संगीताचार्यों से सूचनाएं प्राप्त कर हिन्दी के ऐसे उद्धरण भी प्रस्तुत किये जिनमें इन शब्दों का जायसी के समानांतर प्रयोग है।

[१०] ५३०-६ : राहु लाग जस चाँदहिं, गढ़हिं लाग सस बाँध।
सब दर लीलि ठाढ़ भा, रहा आइ गढ़ कांध॥

दूसरी पंक्ति का अर्थ डॉ० गुप्त तथा डॉ० अग्रवाल दोनों ने इस प्रकार किया है: समस्त (सैन्य दल को निगल कर वह बाध) गढ़ के कंधे (परकोटे) तक जा पहुँचा

चित्तौरगढ़ के चारों ओर अलाउद्दीन द्वारा निर्मित बांध की विशालता यहाँ चित्रित है। मेरे विचार से 'दर' का अर्थ यहाँ 'सैन्य दल' नहीं प्रत्युत (खंड) करना चाहिए। भवन के खंड या तल्ले को जनपदीय बोली में 'दर' भी कहते हैं, यथा दो दर का मकान = दोतल्ला मकान। कवि का आशय है कि राहु जैसे चंद्रमा को निगल लेता है वैसे ही 'अलाई बांध गढ़ के सभी खंडों को निगल कर उसके कांधे पर परकोटे तक जा पहुँचा।

[११] ५३२-५ : पछिउँ हरेव दीन्ह जो पीठी। सो अब चढ़ा सौंहं कै डीठी।

गुप्त जी—[पत्र में लिखा हुआ था] पच्छिम हिरात के थाने की ओर आपने जो पीठ फेर दी (उपेक्षा की) इसी कारण अब वह [दिल्ली के] सम्मुख दृष्टि करके चढ़ पड़ा है।

'संजीवनी' में 'पश्चिम में जिस हेरात ने पहले पीठ दिखा दी थी' यह अर्थ है जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है; क्योंकि कवि ने अगली ही पंक्ति में फिर कहा है : 'जिन्ह भुईं माँथ गँगन तिन्ह लागा' जिससे ज्ञात होता है कि हेरात के मुग़ल जायसी के अनुसार अलाउद्दीन से नतमस्तक थे।

[१२] ५३५-१ : सरजा जस हमीर मन थाका। और निबाहेसि आपन साका॥

गुप्त जी—[रत्नसेन ने उत्तर दिया] ऐ सरजा, [तूने हमीर की जो बात कही सो] जैसा हमीर था जिसने मन के थक जाने पर भी अपने साके का निर्वाह अंत तक किया। डॉ० अग्रवाल—ऐ सरजा, जैसा हमीर का मत था वैसा उसने अंत तक अपने साके का निर्वाह किया।

डॉ० अग्रवाल ने 'थाका' का अर्थ 'था' उपयुक्त ही किया है; तुल० कबीर-ग्रंथावली, हिन्दी परिषद् संस्करण, साखी १५-२८-२ : दिवस थकां साईं भिजे, पाछैं पड़िहै राति। दिवस थकां = दिन रहते (प्रा० थक<सं० स्था)।

यहाँ हमीर को थकितमन कहना प्रसंगसम्मत भी नहीं; क्योंकि कोई थके मन से अथवा निरुत्साह होकर साके का निर्वाह नहीं कर सकता। किंतु विवेच्य पंक्ति का अर्थ किंचित् परिवर्तन के साथ इस प्रकार किया जाय तो अधिक उपयुक्त होगा, यथा; 'सरजा, जैसा हम्मीर के मन में था, उसने अपना साका (प्रण) अंत तक निबाहा।'

[१३] ५३५-२ : ओहि अस हौं सकबंधी नाँहीं। हौं सो भोज बिक्रम उपराहीं॥

गुप्त जी—'वैसा साका बांधने वाला तो मैं नहीं हूँ, फिर भी मैं भोज और विक्रम से ऊपर हूँ ही।'

'मैं उसके जैसा केवल सकबन्धी नहीं हूँ, मैं भोज और विक्रम से भी अधिक हूँ।' डॉ० अग्रवाल की इस टीका में रत्नसेन के कथन की व्यंजना अधिक स्पष्ट होती है, क्योंकि अगली पंक्ति में ही वह साठ वर्ष तक के लिए अपनी पूरी तैयारी की बात करता है।

[१४] ५४०-२ : कालि्ह आव गढ़ ऊपर भानु। जौं रे अनुक सौंहं हिय बानु॥

रत्नसेन के प्रति यह अलाउद्दीन का संदेश है। दूसरे चरण का अर्थ डॉ० गुप्त ने किया है : यदि [मेरे साथ] धनुष हुआ (मेरे मन में कोई कुटिलता हुई) तो [मेरे] हृदय के सम्मुख [उसका] वाण भी तो होगा।

किन्तु अलाउद्दीन स्वयं ही अपनी कुटिलता की बात करे यह असंगत लगता है। इस दृष्टि से डॉ० अग्रवाल का अर्थ अधिक संतोषजनक है जो इस प्रकार है : "यदि राजा धनुष के समान हुआ तो सीधा उसके हृदय पर वाण समझो।" (धनुष की छाती पर वाण रखा ही जाता है)।

[१५] ५४०-७ : गुन सों चलै सो बोहित बोझा। जहँवाँ धनुक बान तहँ सोझा ॥

गुप्त जी—'गुण (अच्छाई तथा रस्सी) से बोझा हुआ बोहित्थ भी चलता है। [पर यदि अन्यथा दीख पड़े तो] जहाँ पर धनुष है (मन में कुटिलता है) वहाँ पर उसके सीधे वाण हैं ही।'

डॉ० अग्रवाल—'जो गुन से खींचा जाता है उसी जहाज में बोझा लादा जाता है (राजा के पक्ष में—जो गुणयुक्त आचरण करता है, बोहित के समान उसमें शाह की कृपा का बोझ भरा जाता है)। पर जहाँ धनुष का टेढ़ापन है, उसके लिए तो सीधा वाण है।,

संजीवनी व्याख्या से स्पष्ट ही दूतों के कथन का व्यंग्यार्थ अधिक बोधगम्य होता है जायसी ने जहाँ-जहाँ संदेश कहलाए हैं, वहाँ-वहाँ उनकी भाषा बड़ी व्यंजनापूर्ण हो गई है। इनके अतिरिक्त द्वितीय चरण का एक अर्थ यह भी हो सकता है कि 'जहाँ धनुष की सी नम्रता रहती है, वहीं सीधे वाण फेंके जा सकते है।' रत्नसेन को नम्रता की सीख देने पर ही दूतों का अधिक बल है।

[१६] ५७१-६,७ : चाँद संपूरन जनु होइ तपी। पारस रूप दरस दै छपी ॥
अब तहँ चतुरदसी जिउ तहाँ। भान अमावस पावै कहाँ ॥

गुप्त जी—'वह मानो पूर्णचन्द्र होकर तप्त हो रही थी और वह पारस रूप वाली दर्शन देकर छिप गई। मेरा जीव अब वहाँ बस रहा है जहाँ वह चतुर्दशी का चन्द्र है।'

पद्मावती के प्रतिबिंब-दर्शन के पश्चात् अलाउद्दीन के हृदयोद्‌गारों का वर्णन है। सारा छंद आध्यात्मिकता से परिपूर्ण है। विवेच्य पंक्तियों में भी उसका पुट है जिसकी ओर डा० अग्रवाल ने संकेतमात्र किया है; उनका विस्तार से स्पष्टीकरण नहीं किया है। नाथ-संप्रदाय के साहित्य में चंद्र और सूर्य इड़ा-पिंगला के अतिरिक्त सहस्रारस्थित चंद्र तथा मूलाधार स्थित सूर्य के भी प्रतीक माने गये है। यहाँ उन्हीं प्रतीकों का अध्यास है। अलाउद्दीन नीचे है, पद्मावती ऊपर। सूर्य अलाउद्दीन या प्रेमी साधक है, चंद्र पद्मावती या प्रेयसी या सूफ़ीमतानुसार परमात्मा है।

'पारस रूप' का प्रयोग जायसी ने पद्मावती के लिए अनेक स्थलों पर किया है;
६५ १ पारस रूप इहाँ लगि आई अर्थात् रूप की पारस (जिसके स्पर्श से रूप प्राप्त हो) मेरे पास तक आ गई किन्तु यहाँ चाँद के साथ उसका प्रयोग होने से श्री चुन्नीलाल

'शेष' (मथुरा) के सुझाव पर डॉ० अग्रवाल ने उसका जो 'कुंडल या तेजोमय वृत्त' अर्थ किया है, वह श्रेष्ठ है। पारस चंद्रमा और सूर्य दोनों के सम्बन्ध में प्रयुक्त होता है, उदाहरणतया : 'सूरज पर पारस बैठ गया अब राज बदलने वाला है'। पद्मावती का मुख तेजोमंडल समेत चद्रमा के समान है, यह श्रेष्ठ अर्थ है। किंतु 'तपी' का यहाँ तपस्वी अर्थ करना क्लिष्ट-कल्पना ज्ञात होती है। उससे आध्यात्मिक अर्थ में भी बाधा पड़ती है। 'चतुरदसी' के स्थान पर पहले 'चित्र बसे' पाठ था, अतः स्वाभाविक रूप से वहां संजीवनी में अर्थांतर मिलता है।

[१७] ५७२-६ : ओहि बिनु आघ बाघ बर, सकै त लै अपराध।

गुप्त जी—अब मैं बिना मूल्य का हो रहा हूँ, मेरे अपराध (मेरी असफलता और तज्जनित व्यथा) से अपने साहाय्य के बल से तू ले सके (हरण कर सके) तो भले [ही] ले ले (हरण कर ले)। आघ = मूल्य; बाघ ∠ बग्घाग्र (देशज) = मदद।

डॉ० अग्रवाल—उसके बिना मुझे बाघ सूँघ ले तो अच्छा हो। तुझमें शक्ति हो तो तू ही इस अपराध के बोझे को ले। आघ = आघ्राण, सूँघना। 'बाघ का सूँघना' मुहावरा है।

गुप्त जी के अर्थ में 'ओहि' शब्द की संगति नहीं मिलती। पुनः 'अपराध लेना या अपराध हरण करना' इसका भाव स्पष्ट नहीं होता। अतः संजीवनी व्याख्या यहाँ अधिक सुसगत ज्ञात होती है।

[१८] ५८१-६ : कूँआ ढार जल जैस बिछोवा। डोल भरे नैनन्ह तस रोवा॥

गुप्त जी—कुएँ पर जिस प्रकार ढार (मोट) जल गिराता है, उसी प्रकार मैं डोल डोल [आँसू] भरे नेत्रों से रोती रही हूँ।

डॉ० अग्रवाल से 'कुँआढार' का अर्थ मोटढरवा या मोट से पानी ढारने वाला किया है, शेष व्याख्या गुप्त जी के समान है। किन्तु अवधी में न तो 'ढार' मोट के लिए प्रयुक्त होती है और न 'कूँआढार' मोटढरवा के लिए। मेरे विचार से उक्त पंक्ति का अर्थ होना चाहिए—'कुवाँ जैसे बिछोह (दुःख) में डोलों से जल ढुलकाता है, वैसे ही मैं भी भरे डोलों की तरह आँसू भरे नेत्रों से रोती रही।' 'ढरा' यहाँ क्रियापद है (= डालता है या ढुलकाता है)।

रत्नसेन के बंदी होने पर पद्मावती अपनी वियोग-दशा का यहाँ चित्रण करती है।

[१९] ५८६-४ : बिरिध बएस जो बाँधे पाऊ। कहाँ सो जोबन का बेवसाऊ॥

गुप्त जी—वृद्धावस्था में जो उसने पादुका बाँधी तो अब वह यौवन कहाँ था और कहाँ वह व्यवसाय (पौरुष) था [जो युवावस्था में होता है] पाऊ ∠ पाउअ ∠ पादुका = काष्ट का पौला

'पाँव' अर्थ किया है; किन्तु मेरे विचार से यह कदाचित् 'पागु बाँधना' है (= किसी कार्य के लिए सन्नद्ध होना या उसका बीड़ा लेना)। 'बेवसाऊ' भी विशिष्ट प्रयोग है जो ग्रामीण बोली में अध्यवसाय, पौरुष का अर्थ देता है जिसका उल्लेख उक्त टीकाओं में उपयुक्त रूप में नहीं मिलता।

[२०] ५८७-७ : तुम्ह बारी तब सिंघल दीपां। लीन्हें दूध पिआइउँ छीपां।

कुमुदिन नामक दूती पद्मावती की अभ्यर्थना कर रही है। कठिनाई 'छीपां' शब्द के संबंध में है। डॉ० गुप्त ने उसे 'क्षिप्र' से व्युत्पन्न माना है और 'पिआइउँ छीपाँ' का अर्थ किया है : क्षिप्रतापूर्वक दूध पिलाया। किन्तु डॉ० अग्रवाल ने उसे प्रा० छिप्पिअ (= क्षरित) से व्युत्पन्न माना है और अर्थ किया है : 'टपका कर दूध पिलाया' जो अधिक उपयुक्त प्रतीत होता है। ग्रामीण बोली में इस प्रकार दूध पिलाने के लिए 'टपका मारना' या 'छीपा मारना' मुहावरा ही प्रचलित है। छिटपुट वर्षा के लिए गाँवों में 'छीपछाप' शब्द प्रचलित है, उसकी भी व्युत्पत्ति कदाचित् वही होगी।

[२१] ५८६-७ : जेत कमोदिनि बैन करेई। तस पदुमावति स्रवन न देई॥

'बैन करना' भी अवधी का विशिष्ट मुहावरा है। मुहावरे में 'बैन' केवल सामान्य वचन या कथन ही नहीं होता जैसा कि गुप्त जी ने माना है (टीका—जितने ही वचन कुमुदिनी कर (कह) रही थी)। यदि कथन मात्र ही कवि का भाव होता तो वह 'करेई' क्रिया का प्रयोग न करके 'कहई' क्रिया का ही प्रयोग करता। इसके विशिष्टार्थ की ओर डॉ० अग्रवाल ने ध्यान दिया है, किन्तु उनके अर्थ में किंचित् संशोधन अपेक्षित है। रामलीला आदि में पात्रों के वचन या लच्छेदार बातें बनाने के लिए कदाचित् इस मुहावरे का प्रयोग नहीं होता जैसा कि उन्होंने माना है। जनपदीय बोली के वस्तुतः बिलख-बिलख कर रोते हुए या भावुकता में 'रगिया' कर (संगीतात्मक आरोह-अवरोह में) कुछ कहने को 'बैन करना' कहते हैं और उपर्युक्त प्रसंग में इसकी सार्थकता स्वतः स्पष्ट है।

[२२] ५६०-४ : रतन छुए जिन्ह हाथन्ह सेंती। और न छुवौं सो हाथ सँकेती॥

गुप्त जी—जिन हाथों से मैंने रत्न (रत्नसेन) का स्पर्श किया, उन हाथों को सिकोड़ कर अब मैं अन्य का स्पर्श नहीं करूँगी।

डॉ० अग्रवाल ने 'सँकेती' (संकेत करना, प्रेम के लिए बुलाना) को पूर्वकालिक क्रिया रूप माना है अर्थात् उन हाथों से अब किसी को संकेत देकर न छुऊँगी।

किन्तु 'संकेत' जनपदीय बोली में वस्तुतः कष्ट या दुःख का बोधक है (व्युत्पत्ति कदाचित् 'सकष्ट' से; तुलनीय अवधी 'गाढ़े सँकेते' = दुःख दुरापद में)। पद्मावती का तात्पर्य है कि जिन हाथों से रत्न का स्पर्श किया, संकेत (दुःख) पड़ने पर भी उन हाथों से अब अन्य का स्पर्श न करूँगी।

[२३] ५६३-७ : जोबन भँवर फूल तन तोरा। बिरिध पोंछ जस हाथ मरोरा॥

इसमें 'पोंछ' शब्द के कारण अर्थ में कठिनाई उपस्थित होती है गुप्त जी का अर्थ

है में मनुष्य पूछ दुम जैसे हाथों को ही मलता रहता है

डॉ० अग्रवाल—वृद्धावस्था जैसे ही उसका रस पोंछ डालेगी, हाथ मलना पड़ेगा।

वस्तुतः यहाँ दोनों टीकाओं से संतोष नहीं होता। दुम की तरह हाथ मरोड़ना अनगढ़ कल्पना है और 'पोंछना' अर्थ भी अप्रासंगिक है; फिर कर्म के अभाव में 'रस' अपनी ओर से मिलाना पड़ता है।

एकेडेमी-संस्करण में गुप्त जी ने 'बूझ' पाठांतर दिया है जो प्रस्तुत प्रसंग में अधिक ग्राह्य प्रतीत होता है। उसके अनुसार स्पष्ट अर्थ होगा—वृद्ध इसे जैसे-जैसे बूझता (समझता) है, हाथ मरोड़ता है।

[२४] ५६३-६ : क्रिस्न जो जोबन करत तन, मया गुनत नहि साथ।
छरि के जाइहि बान लै, धनुक छाँड़ि तेहि हाथ॥

दूसरी पंक्ति में 'बान' तथा 'धनुक' श्लिष्ट पद है जिसका निर्देश यद्यपि डॉ० गुप्त ने किया है, किन्तु उसका जो उत्कृष्टतम अर्थ है वह उनकी टीका में अव्यक्त रह गया। 'संजीवनी' में इन दोनों शब्दों के चार अर्थ किये गये हैं (१) वर्ण और अनुपाकृत शरीर, (२) यौवन-बाण तथा रिक्त धनुष, (३) कटाक्ष (वाण) तथा भौंह (धनुष), (४) रुई धुनने वालों के उपकरण धुनकी तथा धनुही (नायिका पक्ष में स्तनद्वय तथा वृद्धावस्था में झुकी कमर)। गुप्त जी ने केवल प्रथम अर्थ (अर्थात् 'वर्ण') का निर्देश किया है। मेरे विचार से डॉ० अग्रवाल का चौथा अर्थ उससे किसी भी प्रकार हीन नहीं है; और जायसी के श्लेषों में लोकतत्व की प्रधानता रहती है, इस दृष्टि से असंभव नहीं कि वही उनका अभीष्ट अर्थ भी रहा हो। इतना अवश्य है कि 'संजीवनी' के दूसरे तथा तीसरे अर्थों में क्लिष्ट कल्पना ही अधिक है।

[२५] ६०३-२ : को मोहि लै पिउ के डँड लावै। परम अधारी बान जनावै॥

गुप्त जी ने 'डँड' के दो अर्थ किये हैं : (१) पगडंडी (सं० दंड) तथा (२) योगियों का डंडा। दूसरे अर्थ के सम्बन्ध में कोई मतभेद नहीं हो सकता, क्योंकि वह प्रसंग के अनुकूल है। प्रथम अर्थ के सम्बन्ध में अवश्य मतभेद हो सकता है। डॉ० अग्रवाल ने देशी शब्द 'डंडय' के आधार पर उसका अर्थ गली या मुहल्ला किया है (दे० पाइअ०, पृ० ३७१)। किन्तु अवधी मे 'डाँडे' निकट के अर्थ में भी प्रयुक्त होता है—तुल० देशी 'डंड' > हि० डाँड़ > मेड़, सीमा, वस्त्र के सिले हुए टुकड़े या सिलवट जो मेड़ की ही तरह होती हैं। अवधी :डाँड़े मेड़े = निकटवर्ती; यथा संत कबीर (डॉ० रामकुमार वर्मा) गउड़ी ६५-२ :

मन रे छाड़हु भरम परगट होइ नाचहु इआ माइआ के डांडे।

'माया के डाँडे' अर्थात् माया के निकट या समक्ष।

योगिनी का कथन है कि "कौन मुझे ले जाकर प्रिय के निकट (सकाश में) पहुँचावे ?" अवधी में 'डाँड़े लगाना' रास्ते पर लगाना अर्थ भी देता है, अतः गुप्त जी का अर्थ भी समान रूप से मान्य से है।

[२६] ६२१ ४ · सअग जो नाहि काहु बर बांधा बधिक हुतें हस्ती गा बाँधा

गुप्त जी—'जो सजग नहीं वह बल [प्रयोग] में क्यों-कंधा देता है ?'

डॉ० अग्रवाल—'जो सावधान नहीं है उसका बल रखना किस काम का ?' किंचित् अंतर के साथ प्रथम चरण का अर्थ करना चाहिए—"जो सजग नहीं उसके कंधे (बाहुओं) में [बहुत] बल से क्या ?" ग्रामीण बोली में 'बाहों में बल रखना' इसके स्थान पर 'काँधों मे बल रखना' इसी उक्ति का प्रयोग अधिक होता है। आगे जो दृष्टांत है उसमें हस्ती की तुलना में बधिक की सजगता का ही अधिक महत्व बताया गया है।

[२७] ६३६-१ : अंत सो तंत खेह सिर भरना।

गुप्त जी—'अंत में वही तंत्र (= युक्ति) रहा कि सिर पर धूल भरना (डालना) हुआ !'

डॉ० अग्रवाल ने 'तंत' का 'तत्व' अर्थ किया है जो वस्तुतः यहाँ अधिक संगत है। मध्यकालीन ह० लि० प्रतियों में जिस वर्ण के पूर्व अनुस्वार का प्रयोग होता था उसका उच्चारण कभी-कभी द्वित्त्व के रूप में होता था; इसलिए मध्यकाल से इस प्रकार के अनेक शब्दों के दुहरे रूप चल पड़े। उदाहरण के लिए 'उक्ति व्यक्ति प्रकरण' में डॉ० सुनीतिकुमार चटर्जी की टिप्पणी द्रष्टव्य। 'तत्व' के अर्थ में 'तंत' का प्रयोग अब तक प्रचलित है; तुल० डॉ० ब्रजकिशोर मिश्र संपादित 'निबन्ध पूर्णिमा' में प्रतापनारायण मिश्र का 'होली है' शीर्षक निबन्ध, पृ० ४ : "किसी में भी कुछ तंत नहीं है।"

[२८] जायसी का एक शब्द और है जिसके अर्थ तथा व्युत्पत्ति के सम्बन्ध में डॉ० गुप्त से मतभेद हो सकता है। अव्यय रूप में प्रयुक्त 'बर' को उन्होंने सं० 'वरम्' से व्युत्पन्न माना है और सर्वत्र उसका अर्थ 'अपेक्षाकृत अधिक', 'बहुत हुआ तो' या 'हो न हो' आदि किया है। भ्रम इसलिए और भी हो जाता है कि उन्होंने 'बरु' शब्द की भी यही व्युत्पत्ति बताई है और उसका अर्थ भी लगभग वही दिया है जो 'बर' का है, जबकि मध्यकालीन हिन्दी में व्युत्पत्ति तथा अर्थ दोनों दृष्टियों से ये भिन्न शब्द हैं। 'बरु' की व्युत्पत्ति तो मैं 'वरम्' से मानने के पक्ष में हूँ किन्तु 'बर' को फ़ारसी से आया हुआ अव्यय मानने के पक्ष में हूँ जिसका अर्थ है: ऊपर, सामने या मुक़ाबले में, बराबरी में। 'बर आना' एक मुहावरा प्रचलित है जिसका अर्थ है : मुकाबले में या सामने ठहरना।

जायसी ने निम्नलिखित स्थलों पर 'बर' का प्रयोग किया है।

१४२-५ : तेईं यह समुद बुंद बर लेखा।
१५७-१ : कोई चमकि बीजु बर जाहीं।
१६८-४ : तिल तिल मरि जुग जुग बर गाढ़ो।
१७४-१ : दिन जुग बर बिरहिन कहँ जाई।
३५१-८ : तथा ३५६-२ : तन तिनु बर भा।
३५७-२ : तिल तिल बरिस बरिस बर जाई।
३५८-६ : एक एक नग सिस्टिहि बर लहा।
५८३-२ : कौड़ी बर बारी।

सर्वत्र उसका अर्थ 'बराबर' ही उपयुक्त प्रतीत होता है।

परिशिष्ट

हिंदुस्तानी में मेरे पूर्वप्रकाशित निबंध के एकाध स्थलों के अर्थ निर्धारण के सम्बन्ध में विद्वानों ने पत्र द्वारा कुछ नये सुझाव दिये हैं और इधर कुछ स्थलों के सम्बन्ध में मुझे भी कुछ नयी सामग्री मिली है। उन सबका उल्लेख यहाँ किया जा रहा है—

[२९] १४.७ : अगिलहि काहि पानि खर बाँटा। पछिलेहि काहुन कांदो आँटा।।

गुप्त जी—'अगलों (सेना के अग्रभाग वालों) को ही रूखा-सूखा पानी बंट पाता है और पिछलों को कर्दम (कीचड़) भी नहीं अँटता है।

'चारा पानी' या 'दाना पानी' के लिए अवधी की आंचलिक बोली में 'खर पानी' का प्रयोग अब तक प्रचलित है। वैसे पशुओं के प्रसंग में ही इन शब्दों का प्रयोग अधिक होता है, किन्तु व्यंग्यात्मक शैली में कभी-कभी मनुष्यों के लिए भी इसका प्रयोग होता है। बड़े परिवार वालों के लिए प्रायः लोग व्यंग में कहा करते हैं कि सब के लिए 'खर' पानी आँटना' भी मुश्किल होता होगा। अतः डॉ० गुप्त ने 'खर' का जो 'रूखा-सूखा' अर्थ किया है वह मान्य नहीं प्रतीत होता। उसकी तुलना में डॉ० अग्रवाल द्वारा किया गया 'घास' अर्थ ही अधिक प्रयोग-सम्मत है। जायसी ने 'खर पानी' में विपर्यय कर 'पानि खर' लिखा है—केवल यही विशेषता है।

[३०] ४६-७ : भाँजहिं पूँछि सीस उपराही।

गुप्त जी—"पूँछ को सिर के ऊपर किये हुए भागते हैं।" किन्तु घोड़े कितना भी तेज दौड़ें, उनकी पूँछ सिर पर नहीं आ सकती। 'भाँजना' वस्तुतः 'ऐंठना' या 'फटकारना' है जिसकी सानुनसिकता पर ध्यान न देते हुए गुप्त जी ने उसे 'भागना' समझ लिया। डॉ० अग्रवाल का अर्थ यहाँ भी पूर्ण रूप से सन्तोषप्रद है। यथा—"वे पूँछ फटकारते एवं मस्तक उठाते हैं।"

[३१] १११.२: बरनौं गीवँ कुँज कै रीसी।

तथा १११-४: चाक चढ़ाइ साँच जनु कीन्हाँ।

दोनों टीकाओं में 'कूँज' का अर्थ 'क्रौञ्च पक्षी' और 'साँच' का अर्थ 'सच्ची या सुडौल' दिया गया है। मेरी समझ के 'कूँज' सुराही है (तुल० 'कुज्झा' या 'कुज्झड़') और 'साँच' साँचा है। पदमावती की ग्रीवा सुराही की गर्दन के सदृश है और चाक पर चढ़ाकर जैसे वह साँचे की तरह सुडौल बनाई गई है। सुप्रमाण वस्तुओं के लिए लोग प्रायः कहते हैं कि 'मानों साँचा की ढारी हो'। जायसी का भी यहाँ यही अभीष्ट भाव ज्ञात होता है। फ़ारसी साहित्य में सुराही की गर्दन सदृश ग्रीवा का अभिप्राय अनेक स्थलों पर मिलता है।

[३२] १७४-६: गुपुत जो फल साँसहि परगटे।

'हिन्दुस्तानी' में प्रकाशित अपने पिछले निबंध में मैंने 'साँसहि' के सम्बन्ध में गुप्त जी की टीका के प्रति असन्तोष व्यक्त किया था। किन्तु वर्धमान कालेज, बिजनौर के हिन्दी विभागाध्यक्ष श्री रामस्वरूप ने दि० ५-५-६६ के पत्र द्वारा इसके उत्कृष्ट अर्थ का सुझाव दिया है जो निश्चित रूप से मान्य है उसके अनुसार साँसना का अर्थ होगा कष्ट या

पीड़ा पहुँचाना'। यौवन के जो फल (कुच) अब तक गुप्त थे, इस समय प्रकट होकर कष्ट दे रहे हैं। 'साँसना' या 'सँसवाना' अवधी में अब तक इस अर्थ में प्रयुक्त होता है। इसकी उपयुक्तता को देखते हुए डॉ० अग्रवाल तथा डॉ० गुप्त दोनों के अर्थ अमान्य सिद्ध हो जाते हैं।

[३३] २०१.१: रोवै रतन माल जनु चूरा।

गुप्त जी—रत्नसेन रो रहा था और उसकी दशा तोड़े हुए (पछाड़े हुए) मल्ल की हो रही थी। 'रतन' का यहाँ देहलीदीपकवत् प्रयोग है। रत्नसेन रो रहा है [और अश्रुबिंदु इस प्रकार ढुलक रहे हैं] मानों माला टूट जाय [और उसकी गुरियाँ एक-एक करके गिरें]। दूसरा अर्थ यह भी हो सकता है कि "वह रो रहा था जैसे रत्नों की माला टूटकर बिखर रही हो।" जायसी को यह कल्पना बहुत प्रिय है। छंद २१३-४ में भी वे कहते हैं: टूटहिं रतन रतन तस रोवा। डॉ० गुप्त ने मल्ल की अनगढ़ कल्पना कदाचित् दूसरे चरण की संगति के लिए की है जिसमें कहा गया है—"जहँ होइ ठाढ़ होइ तहँ कूरा।" उन्होंने इसका अर्थ किया है—"जहाँ भी वह खड़ा होता था वहीं पर गिर कर ढेर हो जाता था।" माला की दृष्टि से भी इसका अर्थ किया जा सकता है कि जहाँ भी वह खड़ा होता है, अश्रुबिंदुओं के रूप में टूट टूट कर गिरे हुए रत्नों का कूरा (समूह) लग जाता है। अतः डॉ० अग्रवाल का अर्थ यहाँ अधिक उपयुक्त प्रतीत है—"राजा रोता था तो टूटी हुई माला के माणिक्य की की भाँति (रक्त के) आँसू टपकते थे।"

(३४) २११-२: परिमल पेम न आछै छपा।

गुप्त जी की टीका की असंगति पहले दिखला चुका हूँ (हिन्दुस्तानी २६/१-२ 'पदमावत का अर्थ-विमर्श' में देखिए तैंतीसवाँ विमर्श)। डॉ० अग्रवाल का अर्थ यहाँ सुसंगत है, इसकी पुष्टि फ़ारसी की इस कहावत से होता है —"इश्क वा मुश्करा नतवां न हुफ्तन" अर्थात् प्रीति और कस्तूरी छिपाए नहीं छिपते।

आशा है, 'पदमावत' में रुचि रखने वाले विद्वान् विशेषतया डॉ० माताप्रसाद गुप्त जो शुक्ल जी की परम्परा में 'पदमावत' के सच्चे उद्धारक हैं, इन सुझावों पर सहानुभूतिपूर्वक विचार करेंगे। उक्त दोनों विद्वानों की टीकाओं से प्रेरणा प्राप्त कर मैं भी "कछु कहि चला तबल दइ डगा।"

अक्षर

• कैलाशचन्द्र भाटिया

[हिन्दुस्तानी भाग २६, अंक १-२ में प्रकाशित लेख का शेषांश]

किसी भी शब्द में अक्षर-विभाजन की समस्या भी कम जटिल नहीं। अक्षर की सीमा का निर्धारण करना आसान कार्य नहीं है।[1] यांत्रिक सहायता से भी यह ज्ञात करना तो आसान है कि किसी शब्द में कितने अक्षर हैं, पर यह पता लगाना कि कहाँ एक अक्षर समाप्त हो रहा है और कहाँ दूसरा प्रारम्भ, दुष्कर कार्य है। कुछ व्यक्ति इसी आधार पर अक्षर की सत्ता को अस्वीकार करते हैं। उनका कथन है कि जब यन्त्र भी अक्षर-सीमा का निर्धारण करने में असमर्थ हैं, तो उसकी क्या आवश्यकता है। इन आलोचकों का यस्पर्सन[2] महोदय ने करारा उत्तर दिया है कि यदि हम किसी घाटी की सीमा-निर्धारण करने में असमर्थ हैं तो क्या चोटी की मान्यता भी अस्वीकार कर देंगे।

अक्षर-सीमा का बिल्कुल निश्चित करना कठिन है, पर कौन सी अनाक्षरिक ध्वनि किस आक्षरिक ध्वनि के साथ मिलकर उच्चरित हो रही है, यह कानों को स्पष्टतः पता चल जाता है, चाहे यन्त्र असफल रहें। हाँ, यह बात अवश्य है कि कुछ उच्चारण व्यक्तिगत भिन्नता के आधार पर विवादास्पद हो सकते हैं। कुछ स्थानों पर पर्याप्त मतभेद भी हो सकता है। ऐसे विवादास्पद स्थलों पर शिष्टों द्वारा प्रयुक्त शब्दों के उच्चारण ही परिनिष्ठित समझे जायेंगे। अब समय आ गया है कि हिन्दी के शब्दों का आक्षरिक विन्यास भी कोशों मे दिखाया जाय जिससे हिन्दीतर पाठकों को ठीक उच्चारण करने में सुविधा हो।

यह प्रमुखता, सस्वनता और मुखरता अक्षर का शिखर बनाते हैं तो अल्पतम मुखरता रूपी घाटी ही उस अक्षर की सीमा है और उस स्थल पर दोनों ध्वनियाँ दो और अक्षरों मे विभाजित हो जायेंगी। बी० हाल[3] द्वारा 'फ़ोनेटिका' में यही व्यक्त है।

अक्षर-सीमा की इस समस्या का हॉगन[4] महोदय ने भी कुछ इस प्रकार ही हल दिया है। शब्द में केन्द्रक (nucleus) से इतर जो शेष रह जाता है, उसको पार्श्व (margin) कह सकते हैं। मार्जिन (पार्श्व) के भाग केन्द्रक से पूर्व या पर स्थित हो सकते हैं। मुखरता की अल्पता और भाषा की प्रकृत्यानुसार सीमांकन किया जा सकता है।

अक्षर-सीमा पर जितना स्पष्ट और व्यावहारिक दृष्टिकोण डॉ० बाबूराम सक्सेना ने अपनाया है, उतना अन्य ने नहीं डॉ० सक्सेना के विचार इस प्रकार हैं

"कुत्ता, कुप्पा, छक्का, बट्टा, आदि की त्, प्, क्, ट् का अन्तिम अवयव (स्फोट) दूसरे अक्षर के साथ जाता है और प्रथम अवयव (प्राप्ति) प्रथम अक्षर के साथ, द्वितीय अवयव क्षणिक अवस्थित (मौन) इन दोनों को अलग-अलग कर देती है। वाक्यों का परस्पर पृथक्करण हम दो वाक्यों के बीच के मौन से ही तो करते हैं। इसी आदर्श पर वाक्यांशों का भी विभाजन होना चाहिए। वाक्य के भीतर भी थोड़ा बहुत रुकना होता है, यद्यपि वह वाक्यान्त के रुकने से, आपेक्षिक दृष्टि से, कम होता है और इसी प्रकार दो अक्षरों के बीच की मौन स्थिति (स्पर्श वर्णों का द्वितीय अवयव, या श्रव्यता की अल्पता होती है। स्वरत्व की अधिक मात्रा स्वरों में, इससे कम अंत:स्थों में, फिर संघर्षी वर्णों में और कम से कम स्पर्श वर्णों में होती है। इस प्रकार प्रवाह में आई हुई ध्वनियों का विभाजन किया जा सकता है। भाषण में हमें निरन्तर स्वरत्व का उत्थान और पतन सुनाई पड़ता है, इसमें स्वरत्व की अल्पता उसी प्रकार दिखाई देती है जैसे दो पहाड़ियों के बीच की बगड़ (तराई)। जैसे बगड़ दो पहाड़ियों के अलग-अलग अस्तित्व को जताती है, उसी प्रकार स्वरत्व की अल्पता दो अक्षरों की सीमा निर्धारित करती है, जैसे दो बगड़ों के बीच के भाग को हम पहाड़ी कहते है, उसी प्रकार दो अल्प स्वरत्व वाली ध्वनियों के बीच के ध्वनि-समूह को हम अक्षर कहते हैं।"[५]

यदि हम किसी ध्वनि-समूह की दो ध्वनियों के बीच में उन दोनों से कम स्वरत्व रखने वाली ध्वनि के होने के कारण पृथकता का अनुभव करते है, तब हम निश्चयपूर्वक कह सकते हैं कि वे दो ध्वनियां अलग-अलग दो अक्षरों की हैं।

इतना ध्यान रखना चाहिए कि स्वरत्व की मात्रा का ज्ञान अन्य ध्वनियों की तुलना की अपेक्षा पर निर्भर रहता है।

अक्षर के प्रकार

सामान्यत: अक्षर दो प्रकार के होते हैं :—

(१) **संवृताक्षर**—जिस अक्षर के अन्त में व्यंजन ध्वनि हो, जैसे—आग्, सील्, होश्

(२) **विवृताक्षर**—जिस अक्षर के अन्त में स्वर ध्वनि हो, जैसे—जा, ला, दे, न।

प्रो० फ़र्थ[६] ने अक्षर के पाँच भेद किये हैं :—

(१) व्यंजन स्वर—ह्रस्व विवृत

(२) व्यंजन स्वर स्वर (दीर्घता)—मध्यम विवृत

(३) व्यंजन स्वर व्यंजन—मध्यम संवृत

(४) व्यंजन स्वर स्वर (दीर्घता) व्यंजन—दीर्घ संवृत

(५) व्यंजन स्वर व्यंजन व्यंजन—दीर्घ संवृत

ऋक् प्रातिशाख्य[७] में तौल की दृष्टि से इस प्रकार भेद मिलते हैं—

१. लघु—ह्रस्व स्वर युक्त अक्षर

ह्रस्व स्वर + व्यंजनयुक्त अक्षर

२. गुरु—दीर्घ स्वर

व्यंजन गुच्छ आदि अथवा अन्त में

३ गरीयस—दीर्घ स्वर + व्यंजन
४. लघीयो—बिना व्यंजन का अक्षर

अक्षर तथा अन्य पारिभाषिक शब्द

अक्षर व ध्वनि—एक या एक से अधिक ध्वनियों की अव्यवहित इकाई जिसका उच्चारण एक झटके में किया जा सके, अक्षर है। एक ध्वनि एक अक्षर भी हो सकती है, यदि वह ध्वनि स्वर या स्वरवत् आक्षरिक ध्वनि है, जैसे,

एक ध्वनि—आ
दो ध्वनियाँ—पा
तीन - कम्
चार —क्रम्
पाँच —प्रश्न
छह —स्वास्थ्य

कभी-कभी ऐसा भी सम्भव है कि ध्वनियों और अक्षरों की संख्या बराबर रहे, जैसे,

दो ध्वनियाँ	दो अक्षर	आ ओ
तीन ध्वनियाँ	तीन अक्षर	आ-इ-ए

अक्षर व ध्वनिग्राम (स्वनिम)

अक्षर में एक या एक से अधिक ध्वनिग्राम आ सकते हैं। अक्षर का प्रारम्भ ध्वनिग्राम के एक संस्वन से हो सका है और उसका अन्त दूसरे संस्वन से। उदाहरणार्थ हिन्दी में अक्षर प्रारम्भ (ड) ध्वनिग्राम के (ड्) संस्वन से ही हो सकता है जबकि अन्त उसके दूसरे संस्वन (ड़्) से होता है।

संध्याक्षर स्वर ध्वन्यात्मक स्तर पर दो स्वरों का योग होता है, पर ध्वनिग्रामीय स्तर पर एक इकाई है।

ध्वनिग्रामीय अक्षर की परिभाषा देते हुए पाइक[८] महोदय ने लिखा कि भाषा के गठन के अनुसार पुनर्व्यवस्थित ध्वन्यात्मक अक्षर ध्वनिग्रामीय अक्षर बन जाता है।

किसी भी भाषा का ध्वनिग्रामीय अध्यय प्रस्तुत करने में आक्षरिक अध्ययन बहुत सहायता प्रदान करता है।[९] जब हम किसी भी ध्वनिग्राम के वितरण का विवरण शब्द की आदि, मध्य और अन्त्य स्थितियों के साथ देते हैं तो निश्चित रूप से उसकी पृष्ठभूमि में 'अक्षर' की संज्ञा होती है। ध्वनिग्रामीय अध्ययन का आधार ही अक्षर है।

अक्षर तथा सक्रमण संगम

अंग्रेजी शब्द a name /ə—neym
an aim /æn—eym

उपर्युक्त उदाहरणों में ध्वनिग्राम वही हैं फिर भी आक्षरिक विभाजन में जो अन्तर है, उसके पीछे संक्रमण की स्थिति है। निम्नलिखित उदाहरणों में भी यही स्थिति है,

a nice man
an ice man

अक्षर तथा रूपमात्र (पदिम)

'अक्षरसमुदायः पदम्' (वाजसनेयी प्रातिशाख्य ८, ४६)। 'अक्षर का समुदाय ही पद है।' यह परिभाषा अब पर्याप्त सत्य नहीं। रूपमात्र और अक्षर एक ही नहीं है, वैसे यह सम्भव हो सकता है कि एक अक्षर एक रूपमात्र भी हो, जैसे भल्, गा, ला, अब् आदि। यह भी हो सकता है कि जिस शब्द में जितने अक्षर हों, उतने ही रूपमात्र भी हो, जैसे—

अ – चल् = दो अक्षर हैं।
{अ} – {चल्} = दो रूपमात्र भी है।

एक अक्षर में दो रूपमात्र भी संभव हैं, जैसे,

थी = एक अक्षर
{था} + {ई} = दो रूपमात्र

एक रूपमात्र में कई अक्षर भी सम्भव हो सकते हैं। प्रो॰ ग्लीसन[११] ने एक अंग्रेजी भाषा से उदाहरण दिया है,

Conneetinut (Kənetikit) = चार अक्षर सम्मिलित है।

{टोक्‌रा} = एक रूपमात्र
टोक् — रा = दो अक्षर है।

इस पर भी विस्तृत विवेचन अपेक्षित है जो किसी पृथक् निबन्ध में किया जायेगा।

अक्षर तथा शब्द

अक्षर एक स्पन्द है तो शब्द स्पन्दों का समूह मात्र। एक अक्षर एक शब्द भी हो सकता है पर एक शब्द एक अक्षर या अधिक अक्षरों का समूह होता है। शब्द-सीमा और अक्षर-सीमा पर विस्तृत विवेचन अपेक्षित है। शब्द एकाक्षरी (गा, आग), द्वयक्षरी (पाया, शिखर्), त्र्यक्षरी (जवाहर्) हो सकता है।

आक्षरिक अध्ययन की आवश्यकता

'जैसे लिखा जाय वैसा ही पढ़ा जाय और जैसा उच्चरित हो वैसा ही लिखा जाय' किसी भी भाषा का सबसे बड़ा गुण है इस दृष्टि से संस्कृत भाषा शत प्रतिशत ध्वन्यात्मक

कही जा सकती है। वैदिक संस्कृत में तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित आदि स्वरों से युक्त प्रत्येक अक्षर का उच्चारण निश्चित था। काल के प्रवाह से हिन्दी तक आते-आते शब्दों के लिखित रूप और उनके उच्चारणों में भेद हो गया। हिन्दी भाषा-भाषी के लिए प्रत्येक शब्द का उच्चारण और उसका आक्षरिक स्वरूप अभ्यास से सहज एवं सुलभ है, पर अहिन्दी भाषा-भाषियों के लिए इसमें कठिनाई है। आक्षरिक सीमा तथा बलाघात का ठीक प्रयोग उनके लिए समस्या है। हिन्दी के फैलते हुए रूप को देखते हुए यह नितान्त आवश्यक हो गया है कि उसके शब्दों के उच्चारण एवं लिखित रूपों में एकरूपता हो, साथ ही अहिन्दी क्षेत्र के जिज्ञासुओं एवं हिन्दी-प्रेमियों के लिए वह कोशों, पुस्तकों के माध्यम से सुलभ हो।

हिन्दी भाषा में आक्षरिक विन्यास पर अभी तक कोई पूरा कार्य नहीं हुआ है। हिन्दी के व्याकरणों,[१२] भाषा-विज्ञान की पुस्तकों[१३] तथा शोध-प्रबन्धों[१४] में यत्र-तत्र इस विषय पर सामग्री मिल सकती है।

इस राष्ट्रीय महत्त्व के कार्य की आवश्यकता का अनुभव मैंने आज से [illegible] वर्ष पूर्व किया था। इस अध्ययन की आवश्यकता का अनुभव इधर कई विद्वानों[१५] ने भी किया है। ज्यों-ज्यों मैंने देखा कि मेरे विषय से संबद्ध समस्याओं पर लोगों में रुचि बढ़ रही है, मेरी अपने अध्ययन में रुचि भी बढ़ती गयी। डाक्टर सक्सेना[१६] के निबन्ध 'ध्वनि [illegible] वर्तनी की समस्या' से मुझे विशेष प्रेरणा मिली।

हमारे यहाँ प्राचीन शास्त्रों में अनेक ऐसे उल्लेख मिलते हैं जिनसे यह सिद्ध होता है कि हमारे यहाँ शुद्ध उच्चारण का कितना अधिक महत्व था। यह तो सर्वविदित है कि 'इन्द्रशत्रु' मे प्रथम अक्षर पर उदात्त हो तो बहुव्रीहि समास होगा और अर्थ होगा 'इन्द्र है शत्रु जिसका' और यदि अन्तिम अक्षर उदात्त होगा तो तत्पुरुष होगा और अर्थ होगा 'इन्द्र का शत्रु'। इस प्रकार वैदिक भाषा में सुर-भेद से अर्थ-भेद हो जाता था। एक-एक अक्षर के शुद्ध उच्चारण का महत्त्व था। पाणिनीय शिक्षा[१७] में एक स्थान पर आया है :—

अवाक्षरम् अनायुष्यम् विस्वरम् व्याधि-पीडितम् ।
अक्षता (र २) शास्त्र-रूपेण वज्रम् (२) पतित मस्तके ॥

अर्थात् जब (किसी मन्त्र में) कोई अक्षर कम हो तो जीवन क्षय हो सकता है और जब अक्षर उचित स्वर (सुर) के साथ न पढ़ा जाय तो उसे पढ़ने वाला व्याधि से पीड़ित हो सकता है और जब कोई अक्षर अशुद्ध ही उच्चारित किया जाय तो वह उच्चारित रूप दूसरे के सिर पर वज्र की तरह पड़ता है।

फिर क्यों न पाणिनि के देश में पाणिनि की इस परम्परा का निर्वाह किया जाय और हिन्दी भाषा जैसी वैज्ञानिक तथा विकासशील भाषा का कोश तैयार किया जाय जो सब दृष्टियों से परिपूर्ण हो

संदर्भ-संकेत

(१) डानयल जोन्स : एन आउटलाइन्स आफ् इंगलिश फोनेटिक्स, नि० २१२, पृ० ५५ (२) As Gespersen long ago pointed out, (Lehrbuch der Phonetik, P 203) this is somewhat the same kind of reasoning as would lead one to deny the existence of two adjacent hills because one cannot satisfactorily determine how much of the intervening valley belongs to one and how much to the other—Heffner R. M. S. (General Phonetics, 1952, PP 73-74 (३) When two sounds of a group are separated by one or more sounds less sonorous than either of them, the two sounds are said to belong to different syllables.—B. Hala (Phonetica 7, 1961, pp 240-245) (४) हॉगन, सिलेबिल, एफ़० आर० जे०, पृष्ठ २१७-२१८ (५) डॉ० बाबूराम सक्सेना : सामान्य भाषाविज्ञान, पंचम संस्करण, पृ० ७३-७४ (६) फ़र्थ, जे० आर० : साउन्ड्स एंड प्रोसोडीज़, टी० पी० एस०, १९४८, पृ० १२८-१५२ (७) ऋक् प्रातिशाख्य ८।३७, ८।३८, ८।४१, ८।४२, ८।४३, ८।४४ (८) पाइक, के० एल० : फ़ोनेमिक्स, १९५४, पृष्ठ ६५ तथा ९० (९) हॉगन : सिलेबिल, एफ० आर० जे०, पृष्ठ २१६ (१०) हैरिस, जेड० एस० : स्ट्रक्चरल लिंग्विस्टिक्स, पृष्ठ ८२ (११) ग्लीसन, एच० ए० : एन इन्ट्रोडक्शन टु डेस्क्रिपटिव लिंग्विस्टिक्स १९६१, पृ० ५३ (१२) कामताप्रसाद गुरु: हिन्दी व्याकरण, नि० ४०; बेसिक ग्रामर, (शिक्षा मन्त्रालय, भारत सरकार) पृष्ठ १२-१३ (१३) श्यामसुन्दर दास : भाषा रहस्य, सं० १९९२, पृष्ठ २३९-२४० (१४) डॉ० मसूद हुसैन : ए फ़ोनेटिक एंड फोनोलॉजिकल स्टडी आफ़ द वर्ड इन उर्दू (१५) श्री राजेन्द्र द्विवेदी का लेख 'ध्वनि अनुरूप लेखन', (भाषा, नवम्बर १९६१), डॉ० हरदेव बाहरी का लेख 'हिन्दी कोशों में उच्चारण संकेतों की आवश्यकता', (भाषा, नवम्बर १९६१) (१६) भाषा, बसन्त, १९६२, पृष्ठ ७५ (१७) पाणिनीय शिक्षा (मनमोहन घोष) कलकत्ता वि० वि० ।

संस्कृत-भाण साहित्य : उद्भव और विकास

• राजेन्द्र मिश्र

'भाण' शब्द की उत्पत्ति 'भण्' धातु से हुई है जिसका अर्थ होता है 'कथन'। भण्यते इति भाणः (भण् + भावे घञ् प्रत्यय) अर्थात् जो कहा जाय, प्रकट किया जाय। किन्तु 'भाण' शब्द जिस वाङ्मय के प्रतीक रूप में संस्कृत रूपकों का अङ्ग बनता है, उसका स्पष्ट बोध उपर्युक्त व्याख्या से नहीं हो पाता। क्योंकि उस व्याख्या के भी अन्तराल में कुछ ऐसी गूढ़ व्यञ्जनाएं अन्तर्हित हैं जिनका प्रकाशन 'भाण' शब्द की यथाकथित सार्थकता के लिए अत्यन्त आवश्यक है। जैसे 'दर्शन' शब्द की व्युत्पत्ति 'दृश्यते अनेन इति दर्शनम्' करते ही 'किं दृश्यते' का प्रश्न स्वतः उत्पन्न हो जाता है और जब तक हम 'आत्मा' अथवा 'ब्रह्म' को 'किम्' की जगह स्थानापन्न नहीं करेंगे, तब तक 'दर्शन' शब्द की सार्थकता हमें नहीं प्रतीत हो पाती, ठीक उसी प्रकार 'भण्यते इति भाणः' कहते ही 'कथं भण्यते' की समस्या स्वयं अनाहूत उपस्थित हो जाती है और जब तक हम 'कथम्' की पुष्टि न कर लें, तब तक 'भाण' की सार्थकता भी बुद्धि-बहिष्कृत हो रहती है।

तात्पर्य यह कि 'भाण' शब्द, कथनोपकथन की एक विशिष्ट परिपाटी की ओर इङ्गित करता है, क्योंकि रूपक के अन्य भेदों में जहाँ नायक, नायिका, पीठमर्द, अन्य नायक, विट, चेट प्रभृति अनेक पात्र रङ्गमञ्च पर उपस्थित होकर नाटक की कथावस्तु को क्रमशः प्रारम्भ से लेकर फलागम तक अभिनय के माध्यम से पहुँचाते हैं, वहाँ भाण में कथावस्तु के इस क्रमिक विकास का सुदुर्वह भार केवल एक ही नायक पर केन्द्रित होता है। अकेले वही रङ्गमञ्च पर उपस्थित होकर अभिनय-कला की प्रकृष्ट गुणवत्ता से, अपनी विदग्ध वचन-चातुरी से और कथावस्तु के सरस वातावरण से संवलित होकर समस्त इतिवृत्त को उसके ध्येयविन्दु तक पहुँचाने का प्रयत्न करता है। अतएव 'कथं भण्यते' का रहस्य इसी तथ्य मे निहित है कि भाण में 'कथावस्तु' का उपस्थापन सहृदय सामाजिकों के समक्ष अकेले ही किया जाता है। इस प्रकार एक ही पात्र द्वारा कथनोपकथन का उपस्थापन होना, भाण वाङ्मय का अन्यव्यवच्छेदक गुण माना जा सकता है जिसके कारण वह इतर रूपक-कृतियों से पृथक है

से अन्यतम है। पाश्चात्य नाट्य-शास्त्र में जैसे अनुकरण को ही रूपक का जीवातु स्वीकार करके देश, काल एवं संघटना की एकता को ही उसके उत्कर्ष का मूलाधार माना गया है, ठीक उसी प्रकार भारतीय 'रूपक' का भी प्राणतत्व 'अनुकरण' ही है। आचार्य धनञ्जय स्पष्टतः कहते हैं—'अवस्थानुकृतिर्नाट्यम्' (दश० १।७,। राम अथवा महाराज उदयन का पुरातन इतिवृत्त, चूंकि अभिनेतृगण रंगमञ्च पर अभिनय के माध्यम से उपस्थित करते हैं, अतएव दूसरे शब्दों में वे राम एवं दुष्यन्त प्रभृति पात्रों की उन-उन अवस्थाओं का अनुकरण मात्र करते है। और चूंकि नील, पीत एवं लोहित आदि रंगों की भाँति इस अभिनय को दर्शक अपनी आँखों से देखते भी है, अतः इसे रूप भी कहते हैं। इसी प्रकार रामादि की अवस्थाओं का प्रकृत नट पर आरोप होता है, इसी कारण इसे 'रूपक' भी कहते हैं। इस प्रकार 'नाट्य', 'रूप' तथा 'रूपक' ये तीनों सामान्य पद, संस्कृत के एक विशिष्ट दृश्य वाङ्मय के बोधक है जिनसे सिद्ध होता है कि 'अवस्थानुकरण', दृश्यमानता' तथा 'आरोप' ये तीनों तत्व समवेत रूप से संस्कृत दृश्यकाव्य के प्राण तत्त्व हैं। किन्तु देश-काल एव घटना की एकता का निर्वाह संस्कृत नाटकों में नहीं मिलता। केवल इसलिये कि पाश्चात्य एवं पौरस्त्य (भारतीय) नाट्य-रचना में उनके प्रणेताओं का उद्देश्य मौलिक रूप से परस्पर भिन्न है। पाश्चात्य नाटककारों की भाँति, भारतीय नाट्यकारों का यह उद्देश्य कभी नही था कि वे जीवन की विकल परिस्थितियों का उद्दाम चित्रण उपस्थित करके या स्वार्थभावना की नंगी नाचों में पलने वाली प्रतिहिंसाओं का दुर्दान्त वृत्त प्रस्तुत करके यथार्थवादिता का श्रेय लेते एवं मानव-जीवन की वेदी पर हिंसा-ज्वाला-क्रोध-वैमनस्य-पाप-ईर्षा तथा मृत्यु सरीखी दुरभिसन्धियों की प्रतिष्ठा करके उसे 'दुःखान्त' रूप देते। इसके विपरीत, वे जन-जीवन को 'सत्य, शिव एवं सुन्दर तत्त्व' की संगमस्थली ही समझते थे और इसी कारण जीवन के उसी रूप को उन्होंने काव्य के माध्यम से भी कल्पित किया, भले ही इस चरम लक्ष्य की पूर्ति के लिये उन्हें 'देश काल एवं घटना की एकता' की बलि दे देनी पड़ी।

उपर्युक्त कथन से स्पष्ट है कि पाश्चात्य मनीषियों ने 'नाटक' के जिस प्राणतत्त्व तथा जिस उद्देश्य को ईसवी शती के बहुत बाद में पहचाना, अन्य प्रमुख तथ्यों से परिनिष्ठित उसी प्राणतत्व तथा उससे भी अधिक उत्कृष्ट उद्देश्य की स्थापना भारतवर्ष में आचार्य भरत ने ई० पू० द्वितीय शती में ही कर दी थी। आचार्य भरत का 'नाट्यशास्त्र' ही भारतीय नाट्यवाङ्मय का प्राचीनतम प्रामाणिक इतिवृत्त प्रस्तुत करता है। यद्यपि अनेक पाश्चात्य एवं पौरस्त्य विद्वानों के नाट्योत्पत्ति सम्बन्धी बहुविध सिद्धान्तों से यह तथ्य सिद्ध हो चुका है कि नाटकीय तत्व ऋग्वेद के संवादसूक्तों में ही प्राप्त हो जाते हैं।

आचार्य भरत ने रूपक के दस भेद बताए हैं—नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग प्रहसन, अङ्क, वीथी, डिम, ईहामृग तथा समवकार। इनका पारस्परिक पार्थक्य कुछ तो इनकी अङ्क-संख्या पर और कुछ प्रतिपाद्य प्रकार पर आधारित होता है। यहाँ यह अभिप्रेत नहीं कि उनके सूक्ष्म भेदों का विवरण दिया जाय, क्योंकि एक तो हमें भाण-वाङ्मय का ही वैशिष्ट्य निदर्शन अभीष्ट है, दूसरे ये सूक्ष्म भेद नाट्यग्रन्थों में सविस्तर देखे जा सकते हैं। पूर्वपरिच्छेद में भी रूपक की बृहत् परिसीमन का एकमात्र ध्येय यह है कि रूप

का ही अंग विशेष होने के कारण उसकी विशेषताएँ भाणों के पक्ष में भी घटित हो जायँ इस प्रकार आनुषङ्गिक रूप से भाण-नाट्य में भी अनुकरण, आरोप तथा हास्यात्मकता का भरपूर अस्तित्व माना जा सकता है। भाण-रचना का, केवल प्रहसन से थोड़ा साम्य है, क्योंकि दोनों एकाङ्की तथा समाज की ओछी प्रवृत्तियों का पर्दाफाश करनेवाले होते हैं। किन्तु प्रहसन की भाँति, भाण का लक्ष्य केवल दर्शकों को हँसाना भर नहीं है, वरन् समाज की घृणित वासनाओं, जुआ, शराबखोरी तथा वेश्यावृत्ति के दुष्परिणामों का वैसा निबन्धन है जो विध्यात्मक होता हुआ भी विपरीत लक्षणा के सहारे उसकी निषेधाभिव्यक्ति में पर्यवसित हो।

प्रहसन के अतिरिक्त अन्य समस्त भेद दो से लेकर दस अंक तक के होते हैं। सत्य तो यह है कि नाटक, प्रकरण, व्यायोग एवं प्रहसन के अतिरिक्त रूपक के अन्य भेद कभी लिखे ही नहीं गए। केवल १२वीं शती में महोबा नरेश परमर्दिदेव (परमाल) के महामात्य वत्सराज ने सम्भवतः आचार्य भरत की मान्यता को सार्थक बनाने के ध्येय से ही ईहामृग (रुक्मिणी हरण), डिम (त्रिपुरदाह) तथा समवकार (समुद्रमंथन) की रचना की। जनश्रुति है कि उन्होंने अंक तथा वीथी की रचना की थी जो कि अब उपलब्ध नहीं। रूपक की ही भाँति उपरूपक भी दृश्य-काव्य के अंग हैं जिनके अठारह उपभेदों की चर्चा साहित्य-दर्पणकार ने की है। इनमें भी अनेक एकाङ्की प्राप्त होते हैं, जैसे—उत्प्रेक्षणक, रासक आदि। धनञ्जय के टीकाकार आचार्य धनिक ने भी दशरूपक १/८ की व्याख्या करते हुए कहा है कि—"डोम्बी श्रीगदित, भाण, भाणी, प्रस्थान, रासक एवं काव्य ये सात नृत्यभेद भी भाण के ही समान (रूपक के भेद) हैं।" भाण के समान होने का तात्पर्य यही है कि वे भी एकाङ्की होते हैं। साथ ही साथ, नृत्य-समावेश से प्रतीत होता है कि उक्त सातों भेदों का प्रयोग नृत्य में ही होता है। किन्तु जिस भाण की चर्चा प्रस्तुत सन्दर्भ में की जा रही है, न तो उनका नृत्य से कोई विशिष्ट सम्बन्ध ही है और न उनका परिपाद्य डोम्बी, रासक अथवा काव्यादि की ही भाँति होता है। इनके प्रतिपाद्य विषयक पार्थक्य-ज्ञान के लिये हमें संगीतराज प्रभृति संगीत ग्रन्थों को देखना चाहिये।

समवेत रूप में भाण संस्कृत-रूपक का वह विशिष्ट रूप है जो अनुकरण, आरोप एवं हास्यात्मकता से युक्त एकाङ्की, एकपात्राभिनेय तथा एकाहचरित होता है। आचार्य भरत के मतानुसार इसमें एक ही व्यक्ति दूसरे के वचनों को आत्मसंस्थ करके, उत्तर-प्रत्युत्तर सहित व्यक्त करता है [द्रष्टव्य: नाट्य० १८/१०८]। यदि आचार्य धनञ्जय का साक्ष्य ग्रहण किया जाय तो भाण की प्रमुख विशेषताएँ इस प्रकार होंगी—स्वयं अथवा अन्य द्वारा अनुभूति धूर्ततायुक्त चरित का होना, केवल मुख एवं निर्वहण सन्धि का प्रयोग, विट (अकेले) का नायकत्व, आकाशभाषित प्रभृति अर्थोपक्षेपकों द्वारा कथा का विकास, भारती वृत्ति की स्थिति, वीर अथवा शृङ्गार रस तथा एकाङ्कित्व। धनञ्जय ने दस लास्याङ्गों का भी विधान भाणों में किया है, किन्तु प्रायोगिक दृष्टि से भाणों में वह बहुत कम प्राप्त होता है।

भाणों का उद्भव

भाणों का उद्भव कब हुआ, यह अधिकारिक रूप से तो नहीं कहा जा सकता, किन्तु इतना तो निश्चित है कि भाणों का प्रचलन आचार्य भरत के पूर्व ही हो चुका था। क्योंकि उन्होंने इनका विस्तृत व्याख्यान 'नाट्यशास्त्र' के अठारहवें अध्याय में किया है। इसके अतिरिक्त अन्य भी ऐसे प्रमाण मिलते है जिनके अनुसार भाण-रचना का प्रारम्भ आचार्य भरत से पूर्व ही निश्चित होता है। भारतीय नाटकों की उत्पत्ति, अपनी परम्परा के अनुसार दैवी ही मानी गई है। यद्यपि मैक्समूलर एवं सिलवन लेवी का (ऋग्वेद) संवादसूक्त-सिद्धान्त, मैकडॉनेल का नृत्यमूलकता-सिद्धान्त, पिशेल का पुत्तलिका-सिद्धान्त, स्टेनकोनो का छाया-सिद्धान्त, डॉ० कीथ का वीर-पूजा-सिद्धान्त तथा वेबर का यवनिका-सिद्धान्त, सबके सब भारतीय नाटकों की उत्पत्ति को मानोनुकूल विचारधाराओं से सम्बद्ध करने में प्रयत्नशील है, किन्तु उन सब के होते हुए भी इस तथ्य को किसी प्रकार निराकृत नहीं किया जा सकता कि भारतीय नाटक ही विश्व-वाङ्मय की प्राचीनतम नाट्य-कृति है। ऋग्वेद के संवाद-सूक्तों में नाट्यतत्त्व अनिवार्यतः हमें स्वीकार करना चाहिये। भले ही उनका अभिनय कभी सम्पन्न न हुआ हो, किन्तु जब उस सूक्त के द्रष्टा ऋषि ने सूक्तगत पात्रों का साक्षात्कार किया होगा, तब निश्चित ही उनकी नाटकीयता का भाव उसके हृदय में रहा होगा। पणि राक्षसों से सरमा नाम देव शुनी जिन शब्दों में इन्द्र का संदेश कहती है और जिस प्रकार कभी मीठे शब्दों में उन्हें बहकाने की तथा इन्द्र-भय से भीत करने की चेष्टा करती है, उसका साकार रूप कल्पित करते ही ऐसा प्रतीत होता है मानो वह रंगमंच पर उपस्थित होकर वैसा ही अभिनय कर रही हो।

इस प्रकार शुष्क तर्कों द्वारा हम सुदृढ़ विश्वासों को नहीं ठुकरा सकते। 'सूत्रधार' शब्द से प्रो० पिशेल की भाँति डोरे का सम्बन्ध तथा 'जवनिका' (यवनिका ?) शब्द से डॉ० वेबर की भाँति यूनान का सम्बन्ध जोड़ना स्वार्थ-सिद्धि मात्र है। सत्य यही है कि गुप्तकालीन भारत की ही भाँति उपनिषद एवं वेदकालीन भारत में भी मनोरञ्जन के विविध साधन विद्यमान थे। यद्यपि नाट्यशास्त्र के प्रामाण्यानुसार नाट्योत्पत्ति शूद्रों के लिये त्रेता युग में हुई थी, किन्तु इस अन्तर्कथा से नाट्यप्रचलन संबन्धी इस सत्य पर कोई आक्षेप नहीं कि लोक-प्रयोग की दृष्टि से नाटक अपनी उद्भवतिथि से हजारों वर्ष प्राचीन रहा होगा। वेदों के पश्चात् रामायण, महाभारत, जैन बौद्ध ग्रंथों तथा वात्स्यायन कृत कामसूत्र में भी नाटक एवं उसके अभिनय के स्पष्ट उल्लेख प्राप्त होते हैं।[1] इसी प्रकार महर्षि पाणिनि प्रोक्त नटसूत्र एवं पतञ्जलि के प्रमाण भी भारतीय नाटकों की प्राचीनता के साक्षी है।[2]

ऐसी स्थिति में, अवश्य ही भाणों का उद्भव अत्यन्त प्राचीन काल में हुआ होगा। भाण का प्रतिपाद्य एवं उस प्रतिपाद्य की प्रदर्शन-विधि दोनों ही इतने उदात्त एवं लोकवृत्तानुकूल हैं कि जनता ने सर्वप्रथम उन्हीं को मनोरञ्जन का साधन चुना होगा। यदि सर्वप्रथम न भी चुना होगा तो भाणों को सर्वाधिक महत्त्व देने में तो कोई आशङ्का की ही नहीं जानी चाहिये। जैसा कि पहले कहा जा चुका है, भाण 'एकनट नाटक' है जिसका कि विकास

स्वगत प्रकाश एवं आकाशभाषितादि सूक्ष्म अभिनय विधियों से ही होता है। यदि हम ऋग्वेद में विद्यमान द्यूतकरसूक्त (ऋग्वेद १०/३४) देखें तो स्वतः स्पष्ट हो जायेगा कि उसकी सारी कथावस्तु 'भाण' सरीखी ही है। और यदि कोई व्यक्ति आज भी जुआरी के वेशमें रंगमञ्च पर उपस्थित होकर द्यूतकर-सूक्त की उन्हीं पंक्तियों को साभिनय प्रस्तुत करे, तो निश्चय ही सम्बुद्ध सामाजिक उसे भाण का ही अभिनय समझेंगे। जुआरी द्वारा अपनी वृत्ति की निन्दा, पत्नी एवं सास द्वारा दूर से ही खदेड़ा जाना, बूढ़े और बिकाऊ घोड़े के साथ अपनी उपमा, ये सब के सब तत्त्व उसे भाण नायक से सर्वथा अभिन्न सिद्ध करते हैं। एक चित्र द्रष्टव्य है—

आँख फूटती है मुझे देख सदा सास की,
दुलहिन भी कभी-कभी दूर रोक रखती है।
हाय रे! जुआरी कहीं दयावान् पाता नहीं,
बूढ़े औ बिकाऊ एक घोड़े की भाँति ही, बिलकुल बेकार है!

देश के अवारे नित्य छाती से लगाते हैं
दुलहिन जुआरी की,
पाँसे हैं बने शनि, जिसकी सम्पत्ति के —
भाई, माँ, बाप भी बेगाने बन कहते हैं
'बाँध ले जाओ इसे, यह तो लावारिस है।' (अनुवाद—ऋक् ३-४)

उक्त पद्यगत भावों से आचार्य भरत एवं धनञ्जय प्रोक्त अनेक भाण विषयक वैशिष्ट्य स्पष्ट हो जाते हैं। इस प्रकार सिद्ध है कि रूपक के अंग-विशेष के रूप में भाणों की रूपरेखा भी हम वैदिक सूक्तों में ही पाते हैं। यद्यपि आज प्राप्त होनेवाले भाण वाङ्मय की प्राचीनतम कृति वररुचि प्रणीत 'उभयाभिसारिका' है जिसे चतुर्भाणी के सुयोग्य सम्पादक डॉ० मोतीचन्द्र एवं डॉ० वासुदेवशरण जी ने गुप्तकालीन स्वीकार किया है,[3] किन्तु 'उभयाभिसारिका' को मौर्ययुग की विरासत अथवा स्पष्टतः नन्दवंशीय अन्तिम सम्राट् महापद्म के महामात्य वररुचि की ही कृति माननी चाहिये। इस प्रकार प्राचीनतम भाण रचना (उभयाभिसारिका) ई० पू० चतुर्थ शती की ही होनी चाहिये। क्योंकि 'भगवदज्जुकीय' प्रहसन जो भाण कोटि की ही रचना है, इसको विण्टरनित्ज जैसे पाश्चात्य मनीषियों ने ई० पू० पाँचवीं शती की कृति मानी है।[4]

उक्त प्रहसन के प्रणेता श्री बोधायन कवि हैं। यद्यपि पण्डित ए० के० पिशारोती ने 'भगवदज्जुकीय' को एक संग्रह ग्रन्थ माना है, जैसा कि वे 'भासनाटक चक्र' के विषय में भी अपनी सम्मति देते हुए उन्हें ई० सात से दस तक के बीच की रचना स्वीकार करते हैं। किन्तु पं० गणपतिशास्त्री की गवेषणापूर्ण स्थापनाओं तथा सिलवाँ लेवी सदृश पाश्चात्य विद्वानों के समर्थनों से न केवल भास उन नाटकों के कर्ता हैं, वरन् यह भी निश्चित है कि भास ही प्राचीनतम संस्कृत नाटककार हैं। यदि कालिदास का समय ई० पू० प्रथम शती है और नाट्याचार्य भरत का ई० पू० द्वितीय शती, तो भास कृत नाटकों में विद्यमान नाट्यशास्त्रीय मान्यताओं के स्पष्ट उल्लङ्घनों के आधार पर उन्हें पूर्व भरतयुगीन कृति न

मानना दुराग्रह मात्र होगा। बोधायन कृत उपर्युक्त प्रहसन में भी प्रस्तावना में दशविध रूपकों की गणना में 'वार एवं सल्लाप' को भी लिया गया है, जिससे सिद्ध होता है कि प्रहसनकार भरत की मान्यताओं से सर्वथा अपरिचित था।

इस प्रकार स्पष्ट है कि जैसे 'पातालविजय' एवं 'जाम्बवतीजय' सरीखे काव्यों का कर्तृत्व महर्षि पाणिनि को दिया जाता है और जैसे महाभाष्यकार के प्रमाण से लक्ष श्लोकात्मक व्याडि के ग्रन्थ का हमें ज्ञान होता है, ठीक उसी प्रकार हमारा नाट्यसाहित्य भी भरत के पूर्व भी अत्यन्त वैभव-सम्पन्न था। यह हमारा दुर्भाग्य है कि आज उस वैभव के लुट जाने पर हमें उस विषय में तरह-तरह की उलटी-पलटी कल्पनाएँ करनी पड़ती हैं। मुनि अथवा महर्षि शब्द स्वयं प्राचीनता के द्योतक हैं, क्योंकि इनका सम्बन्ध उस युग से है जब कि भारतीय विद्वान भौतिक के स्थान पर आध्यात्मिक उन्नयन को ही सर्वस्व समझते थे। तब तक न देश में तुमुल-संग्रामों का घोष ही गूँज सका था और न राजाश्रित कवियों की वाग्धारा का स्रोत ही फूट सका था। तत्कालीन विद्वानों का झुकाव, विशेषकर आमुष्मिक कल्याण की ओर ही था। फिर भी वे समाज एवं राजवर्ग से अपना सम्बन्ध भी यथाकथञ्चित् मानते थे। अतः उनके मनोरञ्जनार्थ नहीं तो स्वान्तः सुखाय ही, उन्होंने वेद-पुराण दर्शन एवं बहुविध दृश्य एवं श्रव्य काव्यों की रचना की। पाणिनि, भास, भरत, बोधायन तथा वररुचि के ग्रन्थों में 'मुनि' शब्द आज भी संयुक्त रूप में प्राप्त होता है। चतुर्भाणी के अन्य लेखकों (शूद्रक-श्यामिलक तथा ईश्वरदत्त) की उपाधि मुनि नहीं, अतः निश्चित ही उनका जीवनकाल विभिन्न ऐतिहासिक युगों को संकेतित करता है। दूसरी बात यह कि बौद्धधर्म का जैसा परिस्खलन शूद्रकादि की कृतियों में द्रष्टव्य है, वैसा वररुचि की 'उभयाभिसारिका' में स्पष्ट नहीं है।

सारांश यह है कि भाणों का सांकेतिक उद्भव रूपक के अंग रूप में वैदिक सूत्रों से ही हुआ और ई० पू० चौथी शती में वररुचि मुनि (जिनकी दूसरी संज्ञा कात्यायन भी थी और जो महापद्मनन्द के महामात्य तथा पाणिनीय सूत्रों के वार्तिककर भी थे) ने सर्वप्रथम 'उभयाभिसारिका' नामक भाण लिखा। संभव है, वररुचि से भी पूर्व कोई भाण लिखा गया हो, किन्तु प्रमाणाभाव में प्राथमिकता वररुचि को ही जाती है। इस प्रकार 'उभयाभिसारिका' का प्रणयन मौर्ययुग का प्रारंभ है न कि गुप्तकाल, जैसा कि डॉ० मोतीचन्द्र जी स्वीकार करते हैं। सत्य तो यह है कि चतुर्भाणी के प्रत्येक ग्रन्थ भिन्न-भिन्न युगों की रचनाएँ हैं और यह तथ्य उनके आभ्यन्तर-साक्ष्य से सिद्ध भी हो जाता है। अतएव, उन्हें साकल्येन एक युग की कृति मानना आत्मगौरव मात्र है। 'उभयाभिसारिका' के पश्चात् शूद्रककृत 'पद्मप्राभृतक' (ई० द्वितीय शती) श्यामिलककृत 'पादताडितक' (ई० चतुर्थ शती) तथा ईश्वरदत्तकृत 'धूर्तविटसंवाद' (ई० चौथी से आठवीं शती के बीच) आते हैं, जिसके पश्चात् भाण रचनाओं की एक अविच्छिन्न परम्परा प्रारम्भ हो जाती है जो कि महाराज हर्ष से लेकर अद्यावधि उसी रूप में अक्षुण्ण है।

भाणों का विकास

समाज के निम्नवर्गीय पक्ष का चित्रण करने के ध्येय से ही भाणों की परम्परा का उदय हुआ। निम्नवर्गीय पक्ष का तात्पर्य केवल यही नहीं है कि हेय जातियो अथवा पदवलित

वर्गों का ही इतिवृत्त भाणों का प्रतिपाद्य है, वरन् उसका प्रमुख सङ्केत निम्न अथवा लोकनिन्द्य कार्यों में निरत, उन कुलीन व्यक्तियों की भी ओर है, जो दुनिया की आँखों में धूल झोंककर, अपनी स्थिति कायम किये हुए हैं और शरत बाबू प्रणीत 'बामनेर मेये' (ब्राह्मन की बेटी) के प्रमुख पात्र गोलोक चटर्जी की भाँति जिनका मूलमंत्र 'ऊपर सुमिरिनी भीतर कतरनी' का प्रतिपदानुपालन है। भाणों की कथावस्तु का आलोचनात्मक विकास परिशीलित करने के पूर्व अधिक संगत होगा कि उनके प्रतिपाद्यों का सामान्य परिचय हम समझ लें।

इन भाण रचनाओं में, विशेष करके वेशवाटी तथा उसमें अनुरक्त लफंगों तथा आवारों के इतिवृत्त प्रस्तुत किये गये है। प्रत्येक भाण में कोई विट-विशेष (जो कि उसका नायक तथा अकेला पात्र होता है) अपने किसी मित्र का सन्देश लेकर अथवा किसी सङ्केत-स्थान में भेंट कराने के ध्येय से नायिका के यहाँ चल पड़ता है। रास्ते में वह एक छोर से दूसरे छोर तक बसी हुई अपनी परिचित वेश्याओं से भेंट करता हुआ, उन पर फबतियाँ कसता हुआ, उनके रुपये-पैसे के लेन-देन सम्बन्धी झगड़ों को निपटाता हुआ अथवा उनके घर में घुसे हुए समाज के पाखण्डी धर्मध्वजों की माखौल उड़ाता हुआ अन्त में अपने लक्ष्यस्थान पर पहुँचता है। उसकी यह यात्रा, प्राय: प्रभात से प्रारम्भ होकर सायंकाल में समाप्त होती है। नायिका भी प्राय: सन्देश की ही ताक में रहती है, अत: विट की मध्यस्थता पाते ही प्रेमियों का संगम हो जाता है। यही भाण-प्रतिपाद्यों की सामान्य रूपरेखा है। किन्तु प्रतिभाशाली कवियों ने कथा के और रूप भी कल्पित किये हैं। कहीं-कहीं नायक (विट) किसी वेश्या के प्रथमार्तवमहोत्सव मे निमंत्रित होकर उसके यहाँ प्रस्थान करता है, तो कहीं नायक स्वयं प्रेमासक्त होकर प्रेयसी की किसी सखी का आधार पाकर उससे भेंट करने के लिये चल पड़ता है। इसी प्रकार 'कर्पूर-चरित', 'मुकुन्दानन्द' एवं 'रससदन' संज्ञक भाणों में कथाविषयक अन्य मोड़ भी परिलक्षित होते है। वस्तुत: 'उभयाभिसारिका' के पश्चात् ज्यों-ज्यों हम नूतन भाण रचनाएँ पाते हैं, उसी क्रम मे उनका कथा एवं प्रतिपाद्य-शैली विषयक विकास भी निखरता जाता है।

किन्तु यह एक विचारणीय प्रश्न है कि भाणों ने 'टिकुलीटोले' तथा उसके 'पण्डों' को ही क्यों अपना प्रतिपाद्य बनाया? क्या समाज का अन्य कोई प्रख्यात-वर्ग भाणों का इतिवृत्त बनने योग्य नहीं था? क्या संस्कृत-नाट्य-वाङ्मय में 'मृच्छकटिक' सरीखे भाणेतर संज्ञा वाले नाट्य-ग्रन्थ नहीं हैं जो समाज का छिद्रान्वेषण करने में उनसे तिल भर भी पीछे नहीं है? वस्तुत: इन प्रश्नों का उत्तर इतना रोचक एवं महत्वपूर्ण है कि उन्हें जानने के पश्चात् भाणो की स्वतन्त्र सत्ता के विषय मे कोई चिकित्सा रह ही नहीं जाती। किसी भी देश की पुरातन परम्परा को देख कर यह तथ्य जाना जा सकता है कि व्यवहार अथवा प्रयोग, सिद्धान्त का पूर्ववर्ती होता है। परम्परा रूढ़ि की पूर्ववर्तिनी तथा पश्यन्ती प्रभृति विचारधारायें 'वैखरी' की पूर्ववर्तिनी हैं। ठीक इसी प्रकार, समाज के जिन वर्गों को नाटक, प्रकरण, भाण, व्यायोग, प्रहसन प्रभृति रूपकों, अठारह प्रकार के उप रूपकों एवं समस्त श्रव्य काव्यों ने अपना प्रतिपाद्य बनाया, वे अनादि काल से ही अथवा यह कहा जाय कि वैदिक-समाज के युग से ही अपने स्वाभाविक रूप में अवस्थित रहे। कवियों ने बिना किसी पूर्वाग्रह के उनमें से किसी एक वर्ग को चुनकर उसे अपने काव्य (दृश्य अथवा श्रव्य) का प्रतिपाद्य बनाया। वस्तुत: उन रचनाओं

को दृश्य अथवा श्रव्य कहना अथवा दृश्य में भी उन्हें नाटक, प्रकरण, व्यायोग अथवा भाण संज्ञा देना परवर्ती लक्षणकारों का कार्य था। अतः दशविध रूपक का व्याख्यान करनेवाले आचार्य भरत के पूर्व सैकड़ों नाट्य-ग्रन्थ रहे होंगे। ठीक इसी प्रकार कथा एवं आख्यायिका का सूक्ष्म विश्लेषण करके उनके नियामक लक्षणकार दण्डी के पूर्व उस विषय के ग्रन्थाकार अवश्य ही उनके पूर्ववर्ती रहे होंगे। इस प्रकार दण्डी के विषय में यह साधिकार कहा जा सकता है कि उपर्युक्त विवेचन के समय उनकी दृष्टि कादम्बरी' एवं 'हर्षचरित' पर केन्द्रित रही होगी, किन्तु इन ग्रन्थों के प्रणेता महाकवि बाणभट्ट के विषय में हम निश्शङ्क भाव से यह नहीं कह सकते कि उन्होंने किसी ग्रन्थ के अनुकरण पर ही उन्हें लिखा। कवि की मौलिकता, उसकी जन्मजात 'प्रतिभा' होती है जबकि सिद्धान्तयिता लक्षणकार की मौलिकता उसकी 'आहार्य प्रतिभा' होती है जिसे वह कवि की ही रचनाओं में खोजकर पा लेता है।

इसलिये यह कहना अल्पज्ञता का सूचक है कि 'भाण' होने के कारण ही उस कोटि की रचनाओं ने समाज का एक 'मैला आँचल' अपनाया। वरन् कहना तो यह चाहिये कि समाज की दुष्प्रवृत्तियों का, मानव-जीवन के आत्यन्तिक विरोधों का और लोक के समक्ष अपने चारित्रिक उद्घोषों की पवित्रता स्थापित करनेवाले तथाकथित सम्मान्य नरशार्दूलों के आदर्शाभासों का क्षोदक्षेम करने के ही कारण तादृश रचनाओं को आचार्यों ने 'भाण' नाम दिया। यही रहस्य अन्य दृश्य अथवा श्रव्य काव्य-विधाओं के भी विषय में सत्य है। इतना होने पर भी एक तथ्य अवधेय है, वह यह कि प्राचीनतम लक्षणकार के बाद प्रणीत की जाने वाली रचनाओं में विषयपार्थक्य हम स्पष्टतः पा सकते हैं, क्योंकि फिर तो अधिकांश कवि प्राय सिद्धान्तकर की मान्यता स्वीकार करके ही काव्यरचना में प्रवृत्त होते है। परन्तु लक्षणकार के पूर्ववर्ती कवियों की कृतियों में यह पार्थक्य या तो मिलेगा नहीं, या फिर अत्यल्प मिलेगा। उदाहरणार्थ, बोधायन कवि प्रणीत 'भगवदज्जुकीय' एवं वररुचिप्रणीत 'उभयाभिसारिका', दोनों ही नाट्य-शास्त्रकार भरत की पूर्ववर्तिनी प्रहसन एवं भाण रचनाएँ हैं, किन्तु इनका विषयपार्थक्य भरत के पश्चात् लिखी गई प्रहसन एवं भाण कृतियों की अपेक्षा अत्यन्त सूक्ष्म है।

इस प्रकार, जहाँ अन्य दृश्य अथवा श्रव्य काव्य-भेदो ने जहाँ केवल उदात्त राजाओ के चरित्र को, अपने आश्रयदाता नरेश के चरित्र को, किसी पौराणिक आख्यान तथा अपने व्यक्तिगत जीवन की ही किसी मर्मस्पर्शी घटना को, किसी निरी काल्पनिक कथा को अथवा अन्यान्य इतिवृत्तों को अपना प्रतिपाद्य बनाकर और कल्पना से संवलित करके उसे लोकोत्तर वर्णन का पवित्र-परिपाक बनाया, वहाँ भाणों ने समाज के उस वर्ग को अपना आलोक-विषय बनाया जिसे बहिरंग दृष्टि से तो कोई नहीं चाहता, किन्तु छिपे तौर पर सभी उससे चिपके से रहना चाहते हैं। उसी वर्ग को आज 'टिकुलीटोला' की संज्ञा दी जाती है, किन्तु भाणों की भाषा में उसे 'वेशवाट' कहते हैं।

भाणों में घोर यथार्थवाद के दर्शन होते हैं। यद्यपि 'मृच्छकटिक' सरीखे नाटकों में अथवा आख्यायिकादि ग्रन्थों में भी यथार्थवादिता दरशाने की ही चेष्टा कवियों ने की है, किन्तु तब भी दोनो में बहुत अन्तर है भाणेतर काव्यों में यथार्थवाद को साज-सवार कर

काव्यानुकूल अर्थात् श्लील या आदर्शरूप बना लिया गया है, किन्तु भाणों में उसे बिना किसी परिष्कार के मौलिक रूप में रखा गया है। दूसरी बात यह कि भाणेतर काव्यों का यथार्थ उतना चुटीला और प्रभावशाली नहीं है जितना कि भाणों का। भाणों में पद-पद पर व्यञ्जना-वृत्ति एवं अन्यापदेश रीति का आश्रय लिये जाने के कारण हृदयद्रावी चुटीले व्यङ्ग्य की एक अद्भुत सृष्टि हो गई है जिसके कारण वह अद्वितीय है। यद्यपि प्रहसन की संघटना बहुत कुछ भाण के ही समान है, क्योंकि हास्य दोनों में उभयनिष्ठ है, तथापि प्रहसनों में जहाँ हास्य ही एकमात्र साध्य है, वहाँ भाणों में वह साधन मात्र है। प्रहसन में कवि पात्रों के वेश का ही ऐसा वर्णन करता है या उनमें ऐसी ऊटपटांग, अव्यवस्थित बातें कहलाता है कि पाठक बिना किसी अन्तःप्रेरणा के खिलखिला उठते हैं, किन्तु भाणों का हास्य मौखिक नहीं है, उसका पर्यवसान एक विप्लवकारिणी प्रतिक्रिया में होता है। भाणों में अपवादस्थलों को छोड़कर पात्र की टेढ़ी-मेढ़ी बात पर या उसके वेश पर हमें प्रायः हँसी नहीं आती है, प्रत्युत् हँसी आती है वर्णित पात्रों की उन नकली प्रवृत्तियों को देखकर, जिनके सहारे वे अपने को समाज का मुखिया मानने में सङ्कोच भी नहीं करते। किन्तु पाठक की यह हँसी अन्त में पर्यवसित होती है उनके प्रति होनेवाली थूत्कार में, घृणा में और सहानुभूति में।

प्रारम्भिक दशा में, अनुशीलन से ऐसा प्रतीत होता है कि कवियों ने सम्भवतः नग्न यथार्थों के प्रतिपादन में थोड़ा सङ्कोच भी किया था, किन्तु गुप्त-युग में, जबकि मदान्ध बौद्धधर्मावलम्बी भिक्षु पवित्र विहारों को 'विहारस्थली' समझकर दिनदहाड़े भिक्षुणियों की घाँघरों में छिपने लगे, वेदपाठी ब्राह्मण, बड़े-बड़े राजकुमार, कचहरियों के न्यायमूर्तिगण, कवि, धार्मिक एवं लुच्चे, लफंगे, आवारे, गुण्डे जब स्वच्छन्दतापूर्वक वेशवाटों में पर्यटन करने लगे, तब भाण लिखनेवाले कवियों ने भी एक नया मोड़ लिया; फल यह हुआ कि यथार्थवाद न केवल अपने नग्न रूप में, प्रत्युत् यथेष्ट नमक-मिर्च के साथ लोक के समक्ष आया। नग्न यथार्थ के विविध रूप, 'पद्मप्राभृतक' 'पादताडितक' एवं अन्य परवर्ती भाणों में देखे जा सकते हैं।[५]

तेरहवीं शती ई० तक केवल 'चतुर्भाणी' के चार ग्रन्थ प्राप्त होते हैं। किन्तु उसी शती में उत्पन्न महोबा नरेश (परमर्दिदेव) के महामात्य श्री वत्सराज ने 'कर्पूरचरि' लिखकर बहुत दिनों से स्थगित भाणों की परम्परा को पुनः आगे बढ़ाया। इस विषय में किसी को यह आपत्ति नहीं उठानी चाहिये कि महाराज हर्ष के बाद और पृथ्वीराज चौहान के पूर्व, अर्थात् मध्यवर्ती लगभग ५०० वर्षों में भाणों की रचना क्यों नहीं हुई? वस्तुतः वैदेशिक आक्रमणों के कारण हमारा साहित्य इतना छिन्न-भिन्न और विनष्ट हो गया कि यह प्रश्न स्वयं अप्रामाणिक सा प्रतीत होगा। थोड़ी देर के लिये यदि वह ठीक भी होगा तो हमें यह न भूल जाना चाहिये कि काव्य-रचना की एक विशिष्ट धारा ही एक परिमित युग में सर्वाभिमानी होती है। हिन्दी के रीतिकाल में आप छायावाद अथवा नई कविता का नाम तक नहीं पा सकते। इसी प्रकार संस्कृत-साहित्य में भी जिस युग में जिस 'काव्य-प्रकार विशेष' की रचना का प्राधान्य रहा, उसी वर्ग की रचनाएँ उस युग में अधिक हुईं। वस्तुतः प्रथम शती ईसवी से ही परिस्खलित होने वाला बौद्धधर्म, गुप्त युग तक अपनी अवनति

की पराकाष्ठा पर पहुँच गया। अन्य सामाजिक बुराइयों ने भी उसके पतन में सहयोग दिया। आज 'चतुर्भाणी' का अध्ययन करके ही हम यह जान पाते हैं कि जिस गुप्त काल को ऐतिहासिकों ने भारतीय प्रगयाथा का स्वर्णयुग माना है, उसका अभ्यन्तर कितना खोखला था। उन दिनों उज्जयिनी तथा पाटलिपुत्र नगरियों में काशी, शूरसेन, विदर्भ, लङ्का एवं यूनान तक की वेश्याएँ आबाद थीं और न केवल चोर, बदमाश, गुण्डे, चुगलखोर, शराबी-कबाबी एवं लुच्चे, अपितु महाप्रतीहार, महावैद्य, सेनापति, राजकुमार एवं नरेश तक इन्हीं वेशवाटों की धूलि माथे लगाते थे। 'पादताडितक' में इन तथ्यों का विस्तृत विवरण द्रष्टव्य है।

वत्सराज के पश्चात् भाणों की जो परम्परा चली, वह आज तक उसी रूप में जीवित है। पन्द्रहवीं शती में वामनभट्ट बाण एवं रूप गोस्वामी ने 'शृङ्गारभूषण' तथा 'दानकेलि-कौमुदी', सत्रहवीं शती में वरदाचार्य, रामभद्रदीक्षित, राज चूड़ामणि दीक्षित तथा गुरुराम ने क्रमश: 'वसन्ततिलक' 'अय्याभाण' 'शृंगारतिलक' एवं 'मदनगोपालविलास', अठारहवीं शती में नल्लाकवि एवं काशीपति ने क्रमश: 'शृङ्गारसर्वस्व' एवं 'मुकुन्दानन्द' तथा उन्नीसवीं शती में युवराज, महिषमङ्गल, रंगाचारी, निवासाचार्य तथा रामवर्मन् ने क्रमश: 'रससदन', 'महिषमङ्गल', 'पञ्चभाणविजय', 'रसिकरञ्जन' तथा 'शृङ्गार सुधा' नामक भाणों का प्रणयन किया। वर्तमान शती में भी श्रीमहालिङ्ग शास्त्री एवं सुदर्शनशर्मा प्रभृति कवियों ने 'मर्कटमर्दलिका' एवं 'शृङ्गारशेखर' आदि भाण लिखे हैं। अवधेय है कि भाणों की यह नामावलि 'स्थालीपुलाकन्याय' से ही दी गई है। वस्तुत: तञ्जौर, मद्रास, त्रिवेन्द्रम् तथा काशी के प्राचीनतम पुस्तकालयों में भाण सम्बन्धी असंख्य पाण्डुलिपियाँ आज भी अप्रकाशित एवं अपठित रूप में पड़ी हैं जिनका प्रकाशन दिन प्रति दिन उन पुस्तकालयों की मुखपत्रिकाओं द्वारा हो रहा है।

कवि काशीपति की रचना को कुछ लोग अत्यन्त प्राचीन भी मानते हैं। यद्यपि इस मान्यता के पीछे कोई ठोस आधार नहीं है, फिर भी कई दृष्टियों से यह भाण अपने ढंग का अद्वितीय ग्रन्थ सिद्ध होता है। भाणों में प्राय: संस्कृत का ही प्रयोग मिलता है, क्योंकि दूसरों द्वारा पूछे तथा दिये गये उत्तर-प्रत्युत्तर भी भाण में एक मात्र विट द्वारा ही व्यक्त किये जाते हैं, अत: पराभिव्यक्तियों को भी वह अपनी ही भाषा में कहता है जो कि शुद्ध संस्कृत होती है। प्रस्तावना में नट एवं नटी भी संस्कृत में ही वार्ता करते हैं। ऐसी रचनाओं को 'शुद्धभाण' कहा जाता है, और जहाँ संस्कृत-प्राकृत दोनों का प्रयोग हो, उन्हें 'मिश्रभाण' की संज्ञा दी गई है। ऐसी रचनाएँ मुख्यत: काशीपति एवं युवराज कवि की ही हैं। किन्तु इन दोनों में भी काशीपति ही पूर्ववर्ती सिद्ध होते हैं, क्योंकि प्रस्तावना में नट कहता है—"अधुना विरल: खलु, मिश्रभाणप्रचार:। विरलाश्च तथा विधा: कवय:"। यदि युवराज की रचना काशीपति के पूर्व की होती तो सम्भवत: वे ऐसा नट से कभी न कहलवाते। अत: उनकी प्राचीनता १८ वीं शती में सीमित होकर भी युवराज की पूर्ववर्तिनी सिद्ध होती है।

वस्तुत: मिश्रभाण, भाणों के विकास का एक भव्य रूप है। किन्तु विकास का एक उत्कृष्टतर रूप हम काशीपति की कृति 'मुकुन्दानन्द' में पाते हैं जो कि अन्य किसी

भी भाण रचना में नहीं प्राप्त होती। वह है 'मुकुन्दानन्द' के कथानक की रूपकात्मकता। जैसा कि ग्रन्थ के नाम से ही सिद्ध हो जाता है, इसमें वेशवाटी के सारे वृत्तान्त, भगवान् कृष्ण एवं गोपियों के बहाने व्यक्त किये गये है। फलत: रचना प्रकृष्ट प्रतीकों, सङ्केतों, पहेलियों एवं अन्यापदेशों से भरी रहने के कारण अत्यन्त रसमय एवं हृदयावर्जक बन गई है। इसी प्रकार प्राय: प्रत्येक भाण में कुछ न कुछ नवीनता अवश्य दिखाई गई है।

समाज का छिद्रान्वेषी होने के कारण भाणों में पात्रो के नाम भी ऐसे चुने गये है, जिन्हें पढ़ते ही उस नाम की व्यञ्जना, विपरीतलक्षणा से उद्भासित हो जाती है। उनके विशेषणों में तो हास्य एवं व्यङ्ग्य का ऐसा पुट दिया गया है कि उनका साकार चित्र आँखो के समक्ष आ जाता है। वृषलचौक्षामात्य विष्णुदास, निरपेक्ष तथा कांकायन वैद्य ईशानचन्द्र, 'पादताडितक' में वर्णित न्यायाधीश, चित्रकार एवं वैद्य है, किन्तु चरित्र के वे इतने धनी है कि उसे उनके नामों की व्यंजनाएँ ही बता सकती हैं। इसी प्रकार सरणिगुप्ता, पराक्रमिका एवं मदनसेना जैसे नाम उन-उन नामोंवाली वेश्याओं की रति सम्बन्धी बेहयाइयों से प्रत्यक्ष सम्बद्ध है। विस्तृत परिज्ञान के लिए 'चतुर्भाणी' की पूर्वोल्लिखित व्याख्या एवं लेखक का पूर्वनिर्दिष्ट निबन्ध अवश्य देखना चाहिये।

उपर्युक्त विवेचनों का निष्कर्ष केवल इतना ही नहीं है कि भाणों में 'भड़ैती' के सिवाय और कुछ है ही नही। सत्य तो यह कि भाण रचनाएं उत्कृष्ट काव्यों की भी सर्जना करती हैं। 'अन्यापदेश' जो सर्वोत्तम काव्य-रचना-विधान मानने योग्य है, भाणों मे प्रतिपद प्रयुक्त हुआ है। विट की अहीन यात्रा का उद्देश्य केवल वेश्याओं से भेंट करना ही नहीं है वरन् इसी बीच वह नगर में आयोजित मल्लयुद्ध, मेष-युद्ध, तीतर एवं मुर्गे का युद्ध, उलूक-युद्ध (शृङ्गारसर्वस्व पद्य ३२, १३३-१३७), संपेरे द्वारा सर्पनृत्य, जादूगरी (शृङ्गारतिलक) तथा अन्यान्य दृश्य भी देखता है जिनका कि अत्यन्त रमणीय एवं हृदयग्राही वर्णन भाणो मे मिलता है। ग्राम-नगर-वलभी-अट्टालिका एवं वन-उपवन-पशु-पक्षी सबके सुरम्य, काव्यमय रूप भाणों के प्रतिपाद्याङ्ग हैं जिनके कारण वह समस्त विश्ववाङ्मय में अपना सानी नहीं रखता।

संदर्भ-संकेत

(१) रामायण १।४।६, २।६७।१५ आदि। महा० १।५१।१५, २।१२।३६, २।१५।१३, कामसूत्र१।४।२८-३१ (२) अष्टाध्यायी ४।३।११०, तथा १११ पतञ्जलिप्रणीत महाभाष्य-३।१।२६ (३) चतुर्भाणी (शृङ्गारहाट) की प्रस्तावना (हिन्दी ग्रन्थ रत्नाकर कार्यालय, बम्बई, प्रथम संस्करण १९५९ ई०) (४) भगवदज्जुकीय प्रहसन की प्रस्तावना, मंगलोदय प्रेस, त्रिचूर (कोचीन राज्य) सन् १९२५ ई० (५) सविस्तर द्रष्टव्य—लेखक का निबन्ध 'प्राचीन संस्कृत साहित्य में अपशब्द एवं गलियां' (सुरभारती, १९६९ई० संस्कृत विभाग, प्र०वि०)

ब्रज और गुजरात का सांस्कृतिक संबंध

• ओमप्रकाश सक्सेना

गुजरात और ब्रज-प्रदेश की भौगोलिक परिस्थितियाँ प्रायः समान हैं। इन दोनों प्रदेशों की भूमि ऐसी है, जिसके कारण आवागमन में किसी प्रकार का व्यवधान उपस्थित नहीं होता। आवागमन की सुविधा के कारण ब्रज-प्रदेश और गुजरात का सांस्कृतिक संबंध सदियों से चला आ रहा है और वे परस्पर दूर होने के बावजूद भी एक दूसरे के निकट रहे हैं। ऐतिहासिक दृष्टि से यह संबंध कृष्ण का यादवों समेत मथुरा छोड़कर द्वारका में जा बसने से प्रारम्भ होता है।[१] कृष्ण के जीवन का उत्तरार्द्ध द्वारका में ही व्यतीत हुआ और वहीं उन्होंने यादवों का राज्य स्थापित किया।[२] द्वारका से ही उग्रसेन ने समस्त मध्यदेश पर शासन किया। काठियावाड़ में प्रभास से कुछ मील दूर, जहाँ श्री कृष्ण शर-विद्ध होकर गिरे थे, आज भी दिखाया जाता है।[3] कृष्ण का सम्बन्ध मथुरा और द्वारका दोनों से ही रहा है। इसीलिए दोनों को भारत के सात मोक्षदायक पुनीत नगरों में माना गया है।[४] प्राचीन द्वारका तथा वर्तमान द्वारका की स्थिति में कुछ अन्तर माना जाता है।[५] फिर भी वर्तमान द्वारका का इतिहास लगभग २००० वर्ष पुराना है।[६] मध्यदेश और गुजरात के सांस्कृतिक संबंध को बताने वाले अनेक प्रमाण शिलालेखों, मूर्तियों, ताम्रपत्रों, तथा भाषा-साहित्य के रूप में प्राप्त होते हैं।

धार्मिक समानता

कृष्ण-भक्ति मथुरा से द्वारका तक के विशाल क्षेत्र में प्राचीन काल से ही प्रचलित रही है। इसके अनेक प्रमाण मिलते हैं। मथुरा से बलराम तथा कृष्ण की अनेक मूर्तियाँ पुरातात्विक खोजों द्वारा प्राप्त हुई हैं। ईसा की दूसरी शताब्दी की कृष्ण की एक मूर्ति मथुरा से प्राप्त हुई है, जो सबसे प्राचीन है। शिलापट पर वासुदेव, कृष्ण को सूप में रखकर यमुना पार करते हुये दिखलाये गये हैं।[७] ई० ६०० के लगभग की एक अन्य मूर्ति में वे गोवरधन उठाये हुए हैं और नीचे ग्वाल बाल खड़े हैं। एक अन्य मूर्ति, जो गुप्तकाल की है, में कृष्ण को कालीयदमन करते हुये दिखलाया गया है। बलराम की एक शुंगकालीन प्रतिमा मथुरा से तथा दूसरी विदिशा से मिली है। इनमें बलराम को हल-मूसल लिये हुए चित्रित किया

गया है ८ मथुरा के आस पास ई १०० पूर्व का शुंगकालीन मुद्राएं प्राप्त हुई है जिन पर कृष्ण की आकृतियां है ९

गुजरात में कृष्ण-भक्ति के प्रचार का एक महत्वपूर्ण प्रमाण बावला सारंगदेव के समय के एक शिलालेख से प्राप्त होता है, जो १२६२ ई० का है और जिसमें सारंगदेव के पाल्हणपुर में व्यापार में नियुक्त अधिकारी मेहन्तपेथड़े द्वारा कृष्ण की पूजा आदि के निमित्त दान देने का उल्लेख है। इस श्लोक का प्रारम्भ, 'वेदानुद्धरते जगन्त वहते भूभार मुदिभ्रते' से होता है, जो 'गीत गोविंद' की हैं। इस शिलालेख से एक कृष्ण मंदिर होने की सूचना प्राप्त होती है।[१०] गिरनार के रेवतीकुण्ड से प्राप्त होने वाला ई० १४१७ का एक शिलालेख 'नवनीत चोर दामोदर' की स्तुति से प्रारम्भ होता है। कृष्ण का त्रैलोक्यमोहन रूप गुजरात में ही उपलब्ध होता है।[११] कालीयदमन और गोवर्द्धन-धारण विषयक अनेक प्रतिमाएं आबू, मनोद, सोमनाथ तथा मांगरोल नामक स्थानों से प्राप्त हुई हैं।[१२] जो गुजरात में कृष्णभक्ति की प्राचीनता की ज्वलन्त उदाहरण हैं।

कृष्ण के अतिरिक्त विष्णु के अन्य रूपों की उपासना व्रज तथा गुजरात में समान रूप से प्रचलित रही है। इसके भी अनेक प्रमाण हमें उपलब्ध होते हैं। विष्णु की कुषाण-कालीन कुछ चतुर्भुजी और अष्टपरी मूर्तियाँ मिली हैं, जो प्रतिमा-विज्ञान की दृष्टि से पर्याप्त महत्वपूर्ण हैं। मथुरा से प्राप्त एक मूर्ति (संख्या २४८७) पर विष्णु को बोधिसत्व मैत्रेय के समान दिखाया गया है। यहीं से प्राप्त एक अन्य शिलापट्ट (संख्या २५२०) पर विष्णु को अर्ध-नारीश्वर, गजलक्ष्मी तथा कुबेर के साथ प्रदर्शित किया गया है। विष्णु की गुप्तकालीन मूर्त्तियाँ तत्कालीन कला का उत्तम उदाहरण हैं। इन मूर्तियों में विष्णु को ध्यानमुद्रा में दिखाया गया है और उनके विविध अंग तथा वस्त्राभूषण अत्यन्त सुरुचिपूर्ण ढंग से अंकित है। विष्णु के विश्वरूप की भी कुछ सुंदर प्रतिमाएँ अलीगढ़, कामवन, कन्नौज आदि में मिली हैं।[१३] कुछ मूर्तियाँ विष्णु के अतिरिक्त बाराह तथा नृसिंह की भी हैं। गुजरात में स्कंदगुप्त के गुजरात शासक पर्णदत्त के पुत्र चक्रपालित द्वारा गुप्त सं० १३८ में चक्रपाणि विष्णु के मन्दिर के निर्माण कराये जाने का उल्लेख मिलता है।[१४] जूनागढ़ के लेख में विष्णु की स्तुति करने के उपरांत ही लेख के विवेच्य विषयों का निरूपण इन शब्दों में किया गया है—

श्रियमभियत भोग्यां नैक कालापनीतां।
त्रिदशपति सुखार्थे यो बलयराजयहारः॥
कमलनिलयनायाः शाश्वतं धाम लक्ष्मयाः।
सजयति विजितार्जि विष्णुरत्यन्तजिष्णु॥[१५]

देलमाल में लीम्बो जी माता के मन्दिर के दक्षिण-पश्चिम एक छोटा सा मन्दिर है, जिसकी पूर्व की दीवाल में गरुड़ पर बैठे हुए विष्णु की मूर्ति है।[१६] मोढ़ेरा के सूर्य मन्दिर के निकट विष्णु के अनेक मन्दिर है, इन्हीं में एक शेषशायी विष्णु की मूर्ति है, जो ७-८ वीं० शताब्दी की है।[१७] लाठी के समीप ई० १४६६ की एक विष्णु की चतुर्भुज मूर्ति प्राप्त हुई है।[१८]

विष्णु तथा कृष्ण के अतिरिक्त, सूर्य, ब्रह्मा आदि अन्य देवताओं की भी मूर्तियाँ व्रज-प्रदेश में प्राप्त हुई हैं। ब्रह्मा की दो मूर्तियाँ मथुरा से मिली हैं। एक में उनके तीन मुख एक सीध

मे दिखाए गये हैं और चौथा बीच वाले सिर के पीछे है। महावन में मिली हुई एक कलापूर्ण मूर्ति पर ब्रह्मा अपनी पत्नी के साथ बैठे हुए दिखाये गये हैं।[१९] सूर्य की एक ऐसी मूर्ति मिली है, जिसमें वे कटार तथा कमल का गुच्छा लिए बैठे हैं। इसी प्रकार मध्यदेश से अग्नि, इन्द्र, कार्तिकेय, गणेश, नवग्रह और कामदेव की भी मूर्तियाँ मिली हैं। देवियो में लक्ष्मी, सरस्वती, दुर्गा तथा उनके विविध रूप (काली, चामुंडा, महिषमर्दिनी) सप्तमातृका, गंगा, यमुना, मातृदेवी, वसुधारा, आदि की भी अनेक मूर्तियाँ मिली हैं। कौशाम्बी, अहिच्छत्रा, भढ़खेरा, और ग्वालियर से प्राप्त सूर्य की तथा काशी, कन्नौज, कामवन, मथुरा आदि से प्राप्त कार्तिकेय की मूर्तियाँ उल्लेखनीय हैं।[२०]

हिन्दू त्रिदेवों में ब्रह्मा, विष्णु के अतिरिक्त शिव हैं, जिनके विविध रूपों की प्रतिमाएं खोज में मिली हैं। कुषाण शासकों में से कई ने अपने सिक्कों पर नंदी बैल सहित एक या अनेक मुखवाली शिव मूर्तियों को अंकित कराया था।[२१] कुषाण सम्राट् वमाकाडफिसीज की मुद्राओं पर त्रिशूलधारी शिव तथा उनके वाहन नन्दी का अंकन मिलता है। इस नरेश की मुद्राओं पर माहेश्वर शब्द उत्कीर्ण है।[२२] कुषाणकालीन शिव की एक मूर्ति, जिसमें शकलोग पूजा करते हुए दिखलाये गये हैं, प्राप्त हुई है। कुछ मूर्तियाँ एकमुखी, चतुर्मुखी और पंचमुखी शिव की भी मिली हैं।[२३] कुछ मूर्तियों में शिव-पार्वती को दंपत्तिभाव में दिखाया गया है तथा कुछ में अर्द्धनारीश्वर भाव का चित्रण है। शिव की जो गुप्तकालीन मूर्तियाँ मिली हैं, उनमें विन्ध्यप्रदेश के नयना और भुमरा की प्रतिमाएँ महत्वपूर्ण हैं। ऊँचेहरा (सतना) तथा उसके पास खोह से कुछ अलंकृत शिवलिंग मिले हैं। चन्द्रगुप्तकालीन मथुरा के अभिलेख से ज्ञात होता है कि उदित नामक शैव आचार्य ने अपने पूर्ववर्ती आचार्यों के सम्मान में शिवलिंगो की प्रतिष्ठा की थी। गुप्तकाल के उपरांत भी शैव धर्म निर्बाध रूप से गतिशील रहा। हर्षवर्द्धन के शासनकाल में यह जनसमुदाय का प्रिय धर्म था। ह्वुएनशांग के अनुसार इस समय तक वाराणसी शिवधर्म का विश्रुत केन्द्र हो चुका था और थानेश्वर नगर में प्रत्येक गृही शिव की उपसता करता था। स्वयं हर्षवर्द्धन भी बौद्ध धर्म में दीक्षा लेने से पूर्व शिव का उपासक था। कन्नौज से कई सुन्दर प्रतिमाएं प्राप्त हुई हैं। यहाँ कुछ शिवलिंग ऐसे मिले है, जिन पर ब्रह्मा, विष्णु, शिव तथा सूर्य का अंकन है।[२४] कुछ पर सूर्य के स्थान पर चौथा मुख देवी का है। पंचदेव वाले कुछ शिवलिंग भी प्राप्त हुये हैं, जिनपर विष्णु, सूर्य, देवी और गणेश का अंकन मिलता है। कन्नौज से प्राप्त कल्याण सुन्दर (शिव-पार्वती परिणय) की प्रतिमा अंग सौष्ठव तथा भावाभिव्यक्ति में अद्वितीय है। इसका निर्माणकाल ७०० ई० के लगभग है।

मध्यदेश के समान ही गुजरात में भी विष्णु तथा अन्य देवताओं की मूर्तियाँ मिली है। गुजरात में अणहिलपुर पाटण से उत्तर १५ मील आगे कसा ग्राम में १०वीं शताब्दी के मन्दिर का एक भग्नावशेष है, जिससे ज्ञात होता है कि वहाँ ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश के अलग-अलग मंदिर थे। इसी मंदिर के उत्तर में विष्णु मंदिर की दीवालों में गरुड़, वाराह, वामन और लक्ष्मीनारायण की भी मूर्तियाँ हैं।[२५] अमलसाड़ स्टेशन से पूर्व वमडाछा नामक ग्राम से प्राप्त एक "ॐ नमो भगवते वासुदेवाय" भागवत के मंत्र से प्रारम्भ होता

है और इसके पश्चात् भगवान वाराह क स्तुति की गई है म ढेग का १ वीं शताब्दी का सूर्य मंदिर प्रसिद्ध है १ वीं शताब्दी का वडनगर के पूर्व का ग्र २ एक प्राचीन मंदिर है जिसके दरवाजे के ऊपर वाराह तथा वामन की मूर्तियां है। पाटण से आगे वादवार नामक ग्राम में प्राचीन मंदिर के खण्डहर हैं, जो वाराह अवतार के हैं।[२७] पोरबंदर के १५ मील उत्तर-पश्चिम विशावद ग्राम में रणछोड़ तथा शंकर के प्राचीन मन्दिर हैं।[२८] १२७२ वि० के प्रभास-पाटण के एक शिलालेख से ज्ञात होता है कि धीवर ने अपनी माता की इच्छानुसार 'मुरारिपु' (विष्णु) रोहणी स्वामी नाम का एक मंदिर बनवाया था।[२९] द्वारका से ४ मील दक्षिण-पूर्व वाडिया नामक ग्राम में राम और लक्ष्मण की भी दो मूर्तियाँ प्राप्त हुई हैं।[३०] ई० १२४६ के पोरबन्दर के पास कोटेला ग्राम के महाकालेश्वर मंदिर के लेख से ज्ञात होता है कि सौराष्ट्र के अधिकारी ने रेवती-कुण्ड के समीप एक ऐसे मंदिर का भी निर्माण कराया, जिसमें अन्य मूर्तियों के साथ महेश, विष्णु, रेवती तथा बलदेव की भी मूर्तियाँ थीं।[३१] वि० १४३७ का चक्रतीर्थ से प्राप्त शिलालेख हरि की स्तुति से प्रारम्भ होता है। धंधुसर के ई० १३८९ के शिलालेख में, "जलशायी विष्णुनो प्रबोध जय मारे थाय" वाक्य से विष्णु की स्तुति आरम्भ होती है।[३२] १२वीं शताब्दी के वेरावल के लेख में विष्णु पूजा के प्रचार करने का उल्लेख है।

वैष्णव धर्म के समान ही शैव धर्म के द्वारा भी गुजरात और मध्यदेश परस्पर सम्बद्ध रहे हैं, क्योंकि गुजरात में भी शैवधर्म के प्रचार और प्रसार के प्रमाण मूर्तियों, मन्दिरों और दानपत्रों के रूप में मिलते हैं। जिस प्रकार मध्यदेश में काशी शिव की नगरी समझी जाती है, उसी प्रकार गुजरात में सोमनाथ। ऐसी मान्यता है कि आज भी नर्मदा के जल में से शिवलिंग निकलते हैं। सोलंकी शासकों के शासनकाल में सोमनाथ पाटण गुजरात का प्रसिद्ध शैवतीर्थ माना जाता था। ज्योतिर्लिङ्गों के वर्णन मे सोमनाथ का भी उल्लेख मिलता है। लकुलीश जो शैव सम्प्रदाय के प्रवर्तक थे, गुजरात में ही हुए थे।[३३] गुजरात के ऐतिहासिक काल के प्रारम्भिक राजाओं यथा, रूद्रराम, रुद्रसिंह आदि के नामों में प्रयुक्त रुद्रादि से ज्ञात होता है कि वे शैवधर्म के अनुयायी थे। गुजरात के प्रतापी वल्लभी शासक (५०६-७६६ ई०) शैव थे। आज भी वल्लभीपुर के खण्डहरों में शिवलिंग प्राप्त होते हैं। ई० ६०६ के एक दानपत्र में महादेव की पूजा धूप, गंध आदि के लिए दान देने का वर्णन है। सोलंकी वंश के अनेक लेखों से यह ज्ञात होता है कि ईसा की १०वीं शती से १४वीं शती तक सारे गुजरात में शैव-पाशुपत धर्म का अत्याधिक प्रचार था। वि० १०४३ के एक अन्य ताम्रपत्र में रुद्र महालय-देव की पूजा के लिए दान देने का उल्लेख है। ताम्रपत्र के ऊपर नन्दी का चिह्न अंकित है।[३४] इस प्रकार हम देखते हैं कि प्रभास के सोमनाथ से लेकर काशी के विश्वनाथ तक शैवोपासना का एक ही स्वर गूँजता रहा।[३५]

मूर्तियों, शिलालेखों, तथा मुद्राओं के अतिरिक्त गुजरात में प्राप्त प्राचीन-साहित्य से भी ज्ञात होता है कि विष्णु तथा उनके अन्य अवतारों की पूजा का वहाँ प्रचार था। हेमचन्द्र अपने 'द्व्याश्रय काव्य' के प्रारम्भ में अनहिलपुर पाटण के वर्णन में लिखते हैं कि विभिन्न राजाओं ने इन नगर में स्वयम्भू महेव विष्णु शम्भु सूर्य सोम तथा कार्तिकेय के मंदिरा का

निर्माण किया था।[36] सोमेश्वर ने "कीर्ति कौमुदी" (वि० १२८१) में पाटण के वर्णन मे लिखा है कि पाटण के सरोवर के चारों ओर—हर तथा उपेन्द्र के मंदिर थे।[37] कवि राजशेखर ने 'चतुर्विंशति' (वि० १४०५) नामक प्रबन्ध में राजा वीरधवले द्वारा निर्मित वीर-नारायण के मंदिर की चर्चा की है।[38] 'विष्णु भक्ति-चन्द्रोदय' (सन् १४१३) नामक ग्रंथ मे विष्णु पूजा की विधि, विष्णु-भक्ति की महिमा तथा विष्णु-भक्ति-विषयक कथाएँ वर्णित हैं।[39]

वैष्णव तथा शैव धर्म से इतर जैन तथा बौद्ध-धर्म के द्वारा भी गुजरात और मध्यदेश एक सूत्र में बंधे रहे हैं। मथुरा का कंकाली टीला तो जैनधर्म का बहुत बड़ा केन्द्र रहा है।[40] इस टीले की खुदाई में लगभग १५०० कलावशेष प्राप्त हुए हैं।[41] इनसे ज्ञात होता है कि कुषाण काल से ईसा की दसवीं शताब्दी तक मथुरा जैन-धर्म का प्रबल केन्द्र रहा। जैन तीर्थंकर सुपार्श्व की जन्मभूमि होने के कारण उत्तर भारत के जैनियों के लिए इसका आकर्षण सदैव रहा है।[42] यह परम्परा से प्रसिद्ध है कि जैनियों की दूसरी धर्म सभा आदि स्कन्दिलाचार्य के नेतृत्व में मथुरा में ही हुई थी, जिसमें नष्ट होते हुए आगमों की वाचना की पुनर्व्यवस्था की गई।[43] अतः स्पष्ट है कि मध्ययुग में मथुरा जैनधर्म की सर्वश्रेष्ठ पीठस्थली थी।

गुजरात तो शताब्दियों तक जैनधर्म की श्वेताम्बर-शाखा का प्रमुख केन्द्र रहा और आगे चलकर जैनधर्म गुजरात का राजधर्म भी बन गया।[44] गुजराती जैन साहित्य मे श्रीकृष्ण को भी स्थान प्राप्त हुआ। ६१वें तीर्थंकर नेमिनाथ को श्रीकृष्ण का बड़ा भाई बतलाया गया। नेमिनाथ जब कभी द्वारका जाते तो कृष्ण उनके वचनों को बड़ी श्रद्धा से सुनते थे। 'वसुदेव हिंडी' प्राचीन जैन ग्रन्थ है, जिसमें कृष्ण-चरित वर्णित है।[45]

मथुरा बौद्धधर्म का प्रमुख केन्द्र रहा है। भगवान बुद्ध स्वयं यहाँ आये थे। उनके बाद महाकात्यायन मथुरा आये और गुदावन विहार में ठहरे। मथुरा के राजा ने बौद्धधर्म स्वीकार किया था। उपगुप्त नाम के प्रसिद्ध आचार्य यहीं हुए थे। चीनी यात्री फाह्यान तथा ह्यूमान-चुआङ्ग के उल्लेखों के अनुसार मथुरा में २० संघारामों के होने का पता चलता है।[46]

गुजरात में भी इस बात के कतिपय प्रमाण मिलते हैं कि वहाँ बौद्धधर्म का प्रचार अन्य धर्मों के समान हुआ। बौद्धकाल में गुजरात में शांति रेवाचार्य द्वारा बौद्धधर्म का प्रचार हुआ।[47] उत्तर पश्चिम में नवीं शताब्दी तक जालंधर, गुजरात, राजपूताना, और उड्डीयान में बौद्धमत प्रतिष्ठित था। वल्लभी में शीलादित्य सप्तम के समय तक बौद्ध धर्म का सम्मान था। गुजरात के शासक राष्ट्रकूट दंतिवर्मन के एक शिलालेख (८६७ ई०) मे मंगलाचरण में बुद्ध की वंदना है और उसके भाई ध्रुव द्वितीय के दानपत्र में बौद्ध संघ का स्पष्ट उल्लेख है।[48] ह्वेनसांग लिखता है कि इस नगर में (वल्लभी) इस समय १०० बौद्धमठ बने हुए हैं, जिनमें रहने वाले विद्यार्थी भिक्षुओं की संख्या लगभग ६०० है।[49]

राजनीतिक सम्पर्क

राजनीतिक दृष्टि से भी गुजरात और मध्यदेश का घनिष्ट सम्पर्क रहा है और दोनो ही एक दूसरे के द्वारा शासित होते रहे हैं। डॉ० ग्रियर्सन ने गुजरात को मध्यदेश का उपनिवेश कहा है[50] इस सम्बन्ध में डॉ० धीरेन्द्र वर्मा का मत भी उल्लेखनीय है भौगो

मिक दृष्टि से विन्ध्य के पार पहुँचने के लिये गुजरात का प्रदेश सबसे अधिक सुगम है। इसीलिए बहुत प्राचीनकाल से यह मध्यदेश का उपनिवेश रहा है।'[५१] प्राचीनकाल से ही अनेक जातियाँ गुजरात में जाकर बसती रही हैं। पौराणिक युग से मध्यदेश के लोगों का गुजरात में जाकर बसने का उल्लेख प्राप्त होता है। पुराणों में सर्वप्रथम मनु के पौत्र (शर्याति के पुत्र) आनर्त के गुजरात में आने की कथा मिलती है।[५२] इन्हीं के नाम पर गुजरात का नाम आनर्त भी रहा है। आर्य संस्कृति के उत्थानकाल में गंगा और यमुना के मध्य के तपस्वी ऋषियों के आश्रमों से ही जीवन के नवीन मार्गों तथा नूतन विचारों को जन्म मिलता था, जो धर्म का रूप लेकर मात्र गुजरात में ही नहीं, सम्पूर्ण देश में स्वीकृति पाते थे।[५३] प्राचीनकाल से ही काशी हिन्दू-संस्कृति का महान केन्द्र रही है। यहाँ के पंडितों को गुजरात में विशेष सम्मान दिया जाता था।[५४] मूलराज के शासनकाल में प्रयाग, कान्यकुब्ज तथा वाराणसी आदि से सहस्रों ब्राह्मण गुजरात आये और यहीं बस गये।[५५]

पश्चिम के विद्वानों के मतानुसार भारत में आर्यों के दो दल आये, एक पहले आया, दूसरा बाद में। जो दल पहले आया, वह मध्यदेश में आकर बस गया। इस दल के पश्चात् दूसरा प्रबल दल आया और उसने पहले दल के आर्यों को मध्यदेश से निकाल बाहर किया।[५६] यह निकला हुआ दल ही पंजाब, सिंध, गुजरात, महाराष्ट्र में जाकर बसा। आर्यों के समान ही शक लोग भी मध्य एशिया से भटकते हुए ईसा की दूसरी शताब्दी तक भारत में आ गये थे। ये तक्षशिला तथा मथुरा होते हुए ही काठियावाड़, कल्पद्वीप, तथा आसपास के प्रदेशों में जाकर रहे।[५७] बाद में ये शक हिन्दू हो गये। ये कई शाखाओं में बँटे थे जो गुजरात से मध्यदेश तक फैली हुई थी। मथुरा इन्हीं शाखाओं में से एक की राजधानी थी। क्षत्रप रुद्रदमन गुजरात का प्रसिद्ध शासक हुआ है।[५८]

गुर्जरों ने हूणों तथा अन्य आक्रमणकारियों के साथ ईसा की छठी शताब्दी में भारत में प्रवेश किया।[५९] हूण तो राजस्थान में ही बस गये, किन्तु गुर्जर पहले पंजाब में बसे, फिर मथुरा होते हुए काठियावाड़ पहुँचे। पंजाब में स्थित गुजरात, गुजरानवाला, तथा गुर्जर खा आदि नगर इस तथ्य को अधिक स्पष्ट करते हैं। धीरे-धीरे ये गुर्जर पंजाब से गुजरात की ओर चले गये।[६०] आभीर जाति भी पंजाब तथा मथुरा होकर ही काठियावाड़ पहुँची थी। ई० ९१५ के निकट कन्नौज का सम्राट महिपाल सम्पूर्ण गुजरात का सम्राट कहलाता था।[६१] एक मुस्लिमयात्री अलमसूदी के अनुसार उस समय कन्नौज का शासक गुर्जर का शासक समझा जाता था।[६२] ए० के० फार्बस ने लिखा है कि सुप्रसिद्ध वल्लभी राज्य की स्थापना करने वाला कनकसेन अयोध्या का ही एक निष्कासित राजकुमार था।[६३] गिरनार के शिलालेख इस बात के साक्षी हैं कि गुजरात पर चन्द्रगुप्त मौर्य का आधिपत्य था।[६४] बिन्दुसार के समय में महाराष्ट्र, गुजरात, कर्नाटक आदि सारे प्रदेश मौर्य-साम्राज्य के अन्तर्गत थे।[६५] अशोक का साम्राज्य भी मध्यप्रदेश के साथ गुजरात, काठियावाड़, तथा उत्तरी कोंकण तक विस्तृत था।[६६] विभिन्न मुद्राओं तथा स्कंदगुप्त के गिरनार के लेख से प्रमाणित होता है कि गुजरात गुप्त साम्राज्य का एक अंग था।[६७] गुप्त सम्राटों के शासनकाल में सौराष्ट्र, जिसमें आधुनिक गुजरात एवं काठियावाड़ सम्मिलित थे, पश्चिम का एक महत्वपूर्ण प्रान्त था

जूनागढ़ के अभिलेख से पता चलता है कि स्कंदगुप्त के काल में इस प्रान्त का राज्यपाल पर्णदत्त नामक एक अत्यन्त योग्य व्यक्ति था। स्कंदगुप्त के कर्मचारियों में वही इस प्रान्त की रक्षा के निमित्त सबसे कुशल व्यक्ति समझा जाता था। जिस प्रकार देवता वरुण के ऊपर पश्चिमी दिशा का भार सौंपकर स्वस्थ हो गये थे, उसी प्रकार स्कंदगुप्त अपने पश्चिमी प्रान्त सौराष्ट्र की रक्षा का भार पर्णदत्त को सौंपकर आश्वस्त हो गया था—

नियुज्य देवा वरुणं प्रतीच्यां स्वस्था यथानोन्मनसोबभूवु:।
पूर्व्वेतरस्यां दिशि पर्णदत्तं नियुज्य राजा धृतिमांस्तथाभूत् ॥[६८]

सारिग्रामसिंह गुप्त साम्राज्य का अंतिम वाइसराय था, जिसके अधीन दक्षिणी गुजरात का समस्त भाग था।[६९] ई० ८४३ के दौलतपुर के शिलालेख से ज्ञात होता है कि गुजरात तक मिहिर भोज का आधिपत्य था और वहीं की कन्या से उसने विवाह भी किया था।[७०] ई० १०१६ में भोज ने कोंकण पर अधिकार कर महाराजाधिराज परम भट्टार्क की उपाधि धारण की थी। कोंकण विजय के वार्षिकोत्सव पर भोज ने आधुनिक गुजरात के खेरा जिले के चार ग्राम दान में दे दिया था।[७१] प्रभाकरवर्द्धन को 'गुर्जर नरेश की निद्रा को भंग करने वाला' बतलाया गया है।[७२] वल्लभी शासक ध्रुवसेन द्वितीय के शासनकाल मे मालवा का भी कुछ भाग वल्लभी के अधीन था। ह्वेनसांग लिखता है कि हर्ष ने अपनी पुत्री का विवाह ध्रुवसेन द्वितीय के साथ किया था।[७३]

हूणों के आक्रमण से मथुरा से लेकर गुजरात तक का क्षेत्र पदाक्रान्त हुआ; जिसका सम्मिलित विरोध राजपूतों की विभिन्न शाखाओं—परमार, चालुक्य, परिहार, चौहानों—ने किया। वर्षों तक गुजरात, कन्नौज और उज्जियनी से ही शासित होता रहा। गुर्जर और प्रतिहारों ने अपना केन्द्र कन्नौज को ही बनाया। यवनों के आक्रमणों का सामना एक बार पुन: मथुरा से गुजरात के लोगों को सम्मिलित रूप में करना पड़ा। गुजरात के अत्यन्त प्रतापी शासक सिद्धराज जयसिंह के शासन की सीमा आधुनिक महोबा तक थी।[७४] अलाउद्दीन खिलजी ने १२९७ ई० में गुजरात को जीतकर दिल्ली सल्तनत में मिला लिया था। मुहम्मद तुगलक ने अपने जीवन के अंतिम ६ वर्ष गुजरात में ही व्यतीत किये।[७५]

शासन के साथ ही गुजरात की सीमाएँ भी समय-समय पर बदलती रही हैं। प्राचीन समय में गुजरात का क्षेत्र उतना विस्तृत नहीं था, जितना आज है। पहले केवल मही नदी के उत्तर के प्रदेश को ही गुजरात कहा जाता था और कालनपुर, कड़ी, अहमदाबाद, मही काठा और खेड़ा तक ही वह सीमित था।[७६] एक अन्य विवरण के अनुसार गुजरात तीन खण्डों में विभक्त था। पश्चिमी भाग सौराष्ट्र, दक्षिणी भाग लाट, तथा उत्तरी भाग आनर्त देश कहलाता था।[७७] आनर्त में उस समय तक गुर्जरों का राज्य स्थापित नहीं हो पाया था। बाम्बे गजेटियर में लाट प्रदेश में (नर्मदा और खम्भात के मध्य का भूभाग) ७वीं शताब्दी के किसी एक छोटे से गुर्जर राज्य का उल्लेख हुआ है, पर वह अधिक प्रसिद्ध नहीं था। क्योंकि अलबरुनी (६४० ई०) जिस गुर्जर प्रदेश का वर्णन करता है उसमें वर्तमान गुजरात का एक भी भाग सम्मिलित नहीं था उस गुर्जर राज्य की राजधानी जयपुर के समीपवर्ती नगर

बजन या नारायन में थी।[७८] ९वीं शताब्दी में राजपूताने का उत्तरी और मध्य भाग गुजरात कहलाता था[७९] तथा इस क्षेत्र के निवासी गुर्जर नाम से जाने जाते थे।[८०] मध्यकालीन गुजरात में मालवा, खानदेश, तथा राजपुताने का दक्षिणी भाग भी सम्मिलित था। इस शताब्दी में ग्वालियर गुर्जर-गढ़ कहा जाता था। १८वीं शताब्दी तक उत्तर भारत का सहारनपुर गुजरात नाम से ज्ञात था।[८१] आधुनिक गुजरात की रूपरेखा तब तक निश्चित नहीं हुई, जब तक वह मुगल साम्राज्य का अंग नहीं बन गया। १५७३ ई० में अकबर ने गुजरात को विजय कर उसके राज्य की सीमाएँ निर्धारित करके उसे अपने साम्राज्य में सम्मिलित कर लिया।[८२] गुजरात और मध्यदेश पुनः एक सूत्र में बँध गये।

भाषागत एकता

प्राचीनकाल से ही संस्कृत भाषा का प्रचार और प्रसार ब्रज और गुजरात दोनों प्रदेशों में समान रूप से रहा है। वैदिक संस्कृत के पश्चात् (जबकि उसका स्वरूप वैयाकरणों ने स्थिर, सुनिश्चित कर दिया), जन-साधारण की बोलियों को विकास का अवसर मिला। बौद्ध तथा जैन धर्म के प्रवर्तकों और प्रचारकों ने अपने उपदेशों के लिए इन्हीं जन-बोलियों का आश्रय लिया। तत्पश्चात् इन्हें मागधी और पालि नाम दिया गया। फिर भी लोगों की बोलियों में बराबर परिवर्तन होता रहा और अशोक की धर्मलिपियों की भाषाएँ ही बाद में प्राकृत के नाम से प्रसिद्ध हुईं। भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में सात प्राकृतों का उल्लेख किया है—शौरसेनी, मागधी, अर्धमागधी, दाक्षिणात्य, बाह्लीकी, आवन्ती, प्राच्य।[८३]

इन प्राकृतों में शौरसेनी प्राकृत सबसे अधिक उन्नत, लोकप्रिय तथा संस्कृत से प्रभावित भाषा थी। शौरसेनी ब्रजभाषा का पुराना रूप है।[८४] इसीसे हिन्दी-क्षेत्र की बोलियों का विकास हुआ। मथुरा के आसपास का प्रदेश शौरसेनी प्रदेश कहा जाता था। यहाँ की प्राकृत का भी यही नाम पड़ा। शौरसेनी प्राकृत वर्तमान पश्चिमी उत्तर प्रदेश, पूर्व पंजाब, राजस्थान, मध्यप्रदेश और गुजरात के क्षेत्र तक फैली हुई थी।[८५] साहित्य में प्रयुक्त होने पर यद्यपि वैयाकरणों ने 'प्राकृत' भाषाओं को कठोर नियमों में बाँध दिया, किन्तु लोक-जीवन में प्रचलित बोलियाँ व्याकरणिक नियमों में नहीं बाँधी जा सकीं तथा वे निरन्तर विकासमान रहीं। बाद में इन बोलियों को अपभ्रंश (बिगड़ी हुई भाषा) नाम से अभिहित किया गया। जब साहित्यिक प्राकृतें मृत हो गईं, उस समय इन अपभ्रंशों को साहित्यिक भाषा का गौरव प्राप्त हुआ। संस्कृत वैयाकरणों ने संस्कृत से भिन्न समस्त भाषाओं को अपभ्रष्ट कहा है किन्तु भारतीय भाषाओं के इतिहास में 'अपभ्रंश' का रूढ़ार्थ 'आभीरों' आदि की भाषा माना गया है। काव्यादर्श में आचार्य दण्डी लिखते हैं कि काव्य में आभीरों आदि की भाषा अपभ्रंश कहलाती है। आरंभ में जब आभीर भारतीय संस्कृति में दीक्षित नहीं हुए थे तो उन्हें और उनकी भाषा को अपभ्रष्ट कहा जाता था। उनके राजस्थान, सिंध, और गुजरात में फैल जाने पर आभीरी और शौरसेनी प्राकृत के मेल से अपभ्रंश ग्रामीण भाषा के रूप में विकसित होने लगी और शासन सत्ता ग्रहण करने के पश्चात इन्हीं की भाषा को अपभ्रंश कहा गया[८६]

ये आभीर कौन थे, इस पर अभी तक विद्वानों की एक राय नहीं है। कुछ उन्हें विदेशी मानते हैं, जबकि कुछ के मत से इनका भारतीय होना भी सिद्ध होता है। 'महाभारत' में इनका सर्वप्रथम उल्लेख मिलता है, जिसमें वर्णित है कि ये उपजातियाँ पंचनद में रहती थीं। ई० सन् के प्रारम्भ होने के समय उत्तर-पश्चिम की ओर से निरन्तर आक्रमणों के दबाव के कारण वे गुजरात, काठियावाड़ क्षेत्रों में चली गईं। इस तथ्य की पुष्टि काठियावाड़ से प्राप्त १८१ ई० की उस राजाज्ञा से होती है जिसमें आभीर सेनापति रुद्रभूति का उल्लेख है। इलाहाबाद में समुद्रगुप्त के लौह-स्तम्भ के एक लेख से ऐसा प्रतीत होता है कि उस समय तक आभीरों का प्रभुत्व मालवा और राजस्थान में हो गया था और वे झाँसी तक फैले हुए थे।[८७] मिर्जापुर में अहरौरा नाम से आभीरों का प्रभाव प्रतीत होता है तथा लासी से लेकर देवगढ़ के क्षेत्र का नाम भी उन्हीं का दिया हुआ है। इसप्रकार हम देखते हैं कि इन आभीरों का विस्तार, जो गोपाल-कृष्ण या गोविन्द के उपासक थे, गुजरात से लेकर शूरसेन प्रदेश तक व्याप्त था और इनकी भाषा अपभ्रंश का प्रसार भी लाट, सुराष्ट्र, गवण, दक्षिणी पंजाब, राजपूताना, अवंती और मँदसौर आदि में था।[८८] भरतमुनि ने अपने नाट्यशास्त्र में जिसे 'आभीरादि गिरः' कहा था, वही भाषा तीन शताब्दियों के पश्चात् साहित्यिक भाषा के रूप में आती है। साहित्यिक भाषा के रूप में अपभ्रंश के प्रयोग की पुष्टि काठियावाड़ में प्राप्त वल्लभी के राजा ध्रुवसेन द्वितीय के ताम्रपत्र से भी होती है। अपभ्रंश के साहित्यिक रूप ग्रहण कर लेने के कारण कुछ विद्वानों ने साहित्यिक प्राकृतों को ही अपभ्रंश में परिवर्तित कर दिया, जिसके कारण प्रत्येक प्राकृत से एक अपभ्रंश रूप का विकास हुआ — जैसे शौरसेनी प्राकृत का शौरसेनी अपभ्रंश, मागधी प्राकृत का मागधी अपभ्रंश। वैयाकरणों ने अपभ्रंशों को इस प्रकार विभक्त नहीं किया था, वे केवल तीन अपभ्रंशों के साहित्यिक रूप मानते थे जिनमें नागर अपभ्रंश मुख्य थी और जो शौरसेनी से प्रभावित तथा गुजरात एवं राजपुताने में प्रचलित थी। हेमचन्द्र ने जिस अपभ्रंश का उल्लेख अपने व्याकरण में किया है, वह पछाहीं भाषा है, जिसका व्यवहार ब्रज-मण्डल से लेकर राजपुताना और गुजरात तक था।[८९] डॉ० भण्डारकर अपभ्रंश भाषा के उद्गम और विकास का क्षेत्र मथुरा के आस-पास मानते हैं। उन्होंने स्पष्ट लिखा है कि, "छठीं-सातवीं शताब्दी के आसपास अपभ्रंश का जन्म उस प्रदेश में हुआ, जहाँ आज कल ब्रजभाषा बोली जाती है। यह शौरसेनी अपभ्रंश किसी समय गुजरात में भी प्रचलित थी।" तेरहवीं शताब्दी के आस-पास मारवाड़, गुजरात और राजस्थान में एक ही भाषा बोली जाती थी।[९०]

देवसेन, सोमप्रभु, मेरुतुंग एवं हेमचन्द्र आदि जैन लेखकों की रचनाओं के अतिरिक्त रामसिंह, अब्दुर्रहमान आदि लेखकों की रचनाओं में उपलब्ध शब्दों की विस्तृत सूची में आधुनिक मालवी और गुजराती शब्दावली को देखकर कहा जा सकता है कि मालवी के बीज भी उसी क्षेत्र में विद्यमान थे, जहाँ से राजस्थानी और गुजराती के अंकुर प्रस्फुटित हुए।[९१] अस्तु, गुजराती का राजस्थानी के साथ ही मालवी से घनिष्ठ सम्बन्ध रहा है। इसी प्रकार गुजराती और मारवाड़ी दोनों का उद्गम-स्थल भी एक ही है।[९२]

भारतीय आर्यभाषा के विकास के उपर्युक्त सर्वेक्षण से यह स्पष्ट हो जाता है कि पूर्व

मध्ययुग में व्रजप्रदेश से लेकर गुजरात तक प्रायः एक ही भाषा प्रचलित थी। भाषा ने भारतीय धर्म साधना के सदृश गुजरात और व्रजमण्डल के सम्बन्धों को घनिष्ट एवं स्थायी बनाया है। भाषा की यह स्थिति मीराँ के पदों से पूर्णरूपेण स्पष्ट हो जाती है। उनके पदो का गुजराती, राजस्थानी और व्रज में पाये जाने का यही कारण है। व्रजभाषा के कवियो के सदृश गुजरात के कवियों ने भी परम्परागत आदर्श भाषाओं को तुलना में लोक-भाषा का आश्रय ग्रहण किया। लोक-चेतना और लोकभाषा की युगपत् स्थिति गुजरात और व्रज के वैष्णव साहित्य से पूर्णतया स्पष्ट होती है। कृष्णभक्ति के साथ व्रजभाषा के ललित पद और शब्दरत्न भी गुजरात पहुँचे। गुजराती कवियों की भाषा में प्राप्त व्रजभाषा की शब्दावली दोनो की एकता की द्योतक हैं। वस्तुतः भाषा ने दोनों प्रदेशों की एकता को स्थायित्व प्रदान करने मे सेतु का कार्य किया है।

साहित्यिक समरूपता

उपर्युक्त सूत्रों के अतिरिक्त गुजरात और व्रजप्रदेश वैष्णवधर्म एवं उसके साहित्य के माध्यम से भी परस्पर एक सूत्र में बँधे रहे हैं। ईसा की ११वीं शताब्दी से लेकर १५वीं शताब्दी तक दोनों प्रदेशों का लोक जीवन पर्याप्त अस्त-व्यस्त रहा। यवनों के निरन्तर आक्रमणों और पाशविक अत्याचारों से दोनों प्रदेशों का जन-जीवन पर्याप्त प्रभावित हुआ। विषम-परिस्थिति में हतप्राण प्रजा ने पराजय की विस्मृति के लिए प्रेम-लक्षणा भक्ति का आश्रय ग्रहण किया। इस तरह भक्ति और धर्म जनता का धारणहार बना और वैष्णव-धर्म का मुख्य-ग्रंथ श्रीमद्भागवत इनका उपजीव्य बना। दोनों भाषाओं के कृष्ण-भक्ति-काव्य में भागवत को प्रमुख ग्रंथ के रूप में स्वीकार किया गया तथा गुजरात और व्रजमण्डल भावात्मक स्तर पर एक दूसरे के अत्यन्त निकट आ गये।

कृष्ण की जन्मभूमि होने के कारण व्रज प्रदेश में भागवत का प्रचार प्राचीन काल से ही रहा है। सभी कृष्ण भक्त आचार्यों ने भागवत को अपना उपजीव्य ग्रन्थ माना है।[१३] कृष्ण-लीलाओं के साथ अपनी दार्शनिक मान्यताओं की अभिव्यक्ति के लिए उन्होंने भागवत का आधार लिया। स्वामी वल्लभाचार्य ने भागवत की 'सुबोधनी टीका' में शुद्धाद्वैत सिद्धान्त के अनुसार भागवत के सिद्धान्तों की व्याख्या की। निम्बार्क सम्प्रदाय में शुकदेवाचार्य ने 'सिद्धान्त प्रदीप' में भागवत का विवेचन किया। चैतन्यमत में सनातन गोस्वामी के द्वारा 'वृहद् वैष्णव तोष्णी'' नामक रचना में भागवत दशम-स्कंध की आध्यात्मिक विवेचना हुई। इसी प्रकार जीव गोस्वामी ने भागवत के गूढ़ अर्थ की अभिव्यक्ति के लिए 'षट-सन्दर्भ' की रचना की। राधा वल्लभ और हरिदासी सम्प्रदायों में, यद्यपि भागवत की प्रत्यक्ष मान्यता नहीं है, तथापि कृष्ण की जो लीलाएँ इन सम्प्रदायों में मान्य हुईं उनका मूल उद्गम 'श्रीमद् भागवत' ही है। कृष्ण भक्ति के इन सम्प्रदायों के संरक्षण में जो व्रजभाषा का काव्य लिखा गया, उन पर भागवत का प्रभाव स्पष्ट है।

मध्य देश में भागवत की लोकप्रियता का एक प्रमाण उसके भाषानुवादों की पुष्ट परम्परा भी है। कृष्ण भक्त आचार्यों के अतिरिक्त लोक में भी भागवत का पर्याप्त आदर

हुआ, जिसके परिणामस्वरूप उसके जन-भाषा में अनुवादों की आवश्यकता का अनुभव किया गया। वैष्णव भक्त कवि भागवत के अनुवादों में प्रवृत्त हुए। परिणामतः मध्यदेश में भागवत के भाषानुवादों की प्रवृत्ति को पर्याप्त प्रश्रय मिला। मध्यदेश में नंददास कृत दशम स्कंध, हरिदासकृत भागवत दशम स्कंध, हितदास कृत भागवत दशम स्कंध, कृष्णदास कृत भागवत भाषा, व्रज कुँवरि कृत व्रजदासी भागवत, वैष्णवदास रस जानि कृत भागवत भाषा आदि अनेक भाषानुवाद प्राप्त होते हैं।[१४] मध्यदेश में भागवत के इन अनुवादों से उसकी लोकप्रियता स्वयं सिद्ध है। भागवत के लोकप्रिय एवं भक्ति-भाव-व्यंजक कथानकों और अन्तर्कथाओं पर आधारित अनेक स्वतन्त्र काव्यों की भी रचना हुई जो प्रकारान्तर से भागवत की ही लोकप्रियता के प्रमाण हैं।

ब्रजप्रदेश के समान ही गुजरात में भी श्रीमदभागवत का प्रचार-प्रसार रहा है और वहाँ के साहित्य पर इसका व्यापक प्रभाव परिलक्षित होता है। ईसा की १०वीं शती तक भागवत की प्रसिद्धि गुजरात में हो चुकी थी। मूलराज सोलंकी ने भगवत की ११०८ प्रतियाँ सिद्धपुर के ब्राह्मणों को दान में दी थीं। एक विद्वान् की धारणा है कि यदि गुजराती साहित्य में से भागवत से अनुप्रेरित सारी रचनाओं को निकाल दिया जाय तो बहुत कम ऐसी रचनाएँ रह जायेंगी, जिन्हें साहित्य कहा जा सकेगा।[१५]

भागवत के इसी प्रभाव का परिणाम है कि गुजरात के कई कवियों के भागवत दशम स्कंध के गुजराती में पद्यानुवाद प्राप्त होते हैं। सं० १५२९ में प्रभास पट्टन के कायस्थ केशवदास हृदेराम ने भागवत दशम स्कंध का पद्यानुवाद किया था।[१६] वि० १५४१ में भीम नामक कवि ने बोपदेव कृत 'हरिलीला षोडसकला' का गुजराती में अनुवाद किया, जिसमें भागवत की अनुक्रमणिका का विशद रूप से वर्णन है। १६वीं शताब्दी में पाटण गुजरात के महाकवि भालण ने भागवत दशम स्कंध का बहुत ही ललित अनुवाद किया। सं० १६८४ में अविचलदास द्वारा रचित भागवत के एक दो-स्कंध, जो नड़ियाद में रचे थे, मिलते हैं।[१७] इसी प्रकार हरिरस कथासार नामक भागवत का सार, जिसकी रचना सं० १६८८ में हुई, मिलता है। भागवत के पूर्ण अनुवादों के साथ ही उसमें वर्णित विभिन्न प्रसंगों पर स्वतन्त्र रूप से भी लिखा गया। वीरसिंह जनार्दन नाकर कृत उषाहरण, मेघजी देवीदास कृत रुक्मिणी हरण, वस्ता कृत सुभद्राहरण, चतुर्भुजब्रेहदेव कृत भ्रमरगीता, सूरदास कृत प्रह्लादाख्यान, हरिदास कृत भागवतसार और ध्रुवचरित, मेगलकृत ध्रुवाख्यान, नारायणभट्ट कृत तृतीय स्कंध तथा ऐकादशस्कंध; कायस्थ कवि भगवानदास कृत भागवत ऐकादश स्कंध, संत महाराज कृत भागवत; रत्नेश्वर कृत भागवत (जो भागवत की श्रीधरी टीका का गुजराती में शब्दशः अनुवाद है), वल्लभ भट्ट कृत भागवत, तुलजाराम कृत दशम् स्कंध; प्राणदास कृत भागवत सार; रघुनाथ कृत दशम स्कंध; दयाराम कृत द्वादस स्कंध; भागवतानुक्रमणिका[१८] आदि रचनाओं का उल्लेख इस सम्बन्ध में किया जा सकता है।

भागवत के अतिरिक्त व्रजभाषा और गुजराती कृष्णभक्ति काव्य को जयदेव कृत 'गीत गोविन्द' ने भी अत्यधिक प्रभावित किया है। 'गीत गोविंद' का प्रभाव व्रजभाषा के अनेक कवियों के काव्य पर मिलता है। उसकी ललित पदावली तथा माधुर्य भावना कृष्णभक्त

कवियो को अत्यन्त रुचिकर प्रतीत हुई ब्रजप्रदेश मे 'गीतगोविंद' का पर्याप्त प्रचार एव आदर है। सूरदास और हरिराम व्यास[९९] के पदो पर भी गीत गोविन्द का छाया स्पष्ट रूप से लक्षित की जा सकती है। गीतगोविन्द के काव्य सौष्ठव से प्रेरित होकर कुछ कवियों ने ब्रजभाषा मे उसके अनुवाद भी किये, जो पर्याप्त सुन्दर हैं। ब्रजभाषा मे गीतगोविन्द के प्रमुख प्राप्त अनुवादों में रामरायकृत 'गीतगोविंद पद,' वैष्णवदास रसजानि कृत 'गीतगोविन्द भाषा' आदि उल्लेखनीय रचनाएँ है।[१००] ये अनुवाद गीतगोविंद की लोकप्रियता के स्पष्ट प्रमाण है। उसकी ललित पदावली अपनी माधुर्य भावना तथा काव्यात्मकता के कारण कृष्ण भक्त कवियों को आकृष्ट करती रही है।

गुजरात में भी 'गीतगोविन्द' की लोकप्रियता के अनेक प्रमाण मिलते है। ब्रजप्रदेश के समान गुजरात के भी कृष्णभक्त कवि उसकी ललित पदावली से प्रभावित हुए। गुजराती के आदि कवि नरसी मेहता की 'सुरत संग्राम' आदि रचनाओं पर जयदेव के गीतगोविन्द का स्पष्ट प्रभाव मिलता है।[१०१] निम्नलिखित उद्धृत पंक्तियों में वे जयदेव का ऋण स्वीकार करते हैं—

अेक जाणे छे व्रज नी गोपी के रस जयदेव पीधो रे।
उगतो रस अवनी ढ़लतो, नरसैंयो ताणी ने लीधो रे ॥[१०३]

इसी प्रकार सं० १४६५ में रचित पाटण के पास धानेडा ग्राम के नर्तीष नामक कवि के 'फागुकाव्य' पर भी गीतगोविन्द की ललित शैली का प्रभाव स्पष्ट लक्षित होता है।[१०३] भालण पर गीतगोविन्द का प्रभाव निम्न पंक्तियों में देखा जा सकता है—

हरि बिना चन्द्रचकोर, जेम चकवी ने हरीनश भोर।
तेम मुने वाहाला नंद किशोर, हरि विण हुँ मुई रे ॥[१०४]

मध्यदेश और गुजरात के साहित्यिक सम्बन्धों का एक सूत्र गुजराती कवियों द्वारा ब्रजभाषा में काव्य रचना करना भी है। गुजरात में बल्लभ सम्प्रदाय, स्वामी नारायण सम्प्रदाय, सूफी सप्रम्दाय, जैन धर्म और संतमत के व्यापक प्रभाव तथा गुजरात के मुसलमान शासकों और राजपूत राजाओं के हिन्दी प्रेम के कारण गुजरात के अंचल में हिन्दी को फलने फूलने का पर्याप्त अवसर मिला। गुजरात में १५वीं शताब्दी से लेकर आज तक तीन सौ से भी अधिक ऐसे कवि हो गये हैं, जिन्होंने स्वभाषा गुजराती में काव्य रचना करने के साथ-साथ हिन्दी (डिंगल, व्रज, अवधी, खड़ी बोली) में भी रचनाएं प्रस्तुत कीं। यहाँ पर सभी कवियों का उल्लेख न कर हम संक्षेप में ब्रजभाषा में रचना करने वाले कुछ वैष्णव कवियों का उल्लेख मात्र ही करेंगे।

ब्रजभाषा में रचना करने वाले वैष्णव कवियों की परम्परा गुजराज में भालण से प्रारम्भ होती है। भालण द्वारा रचित गुजराती काव्य "भागवत दशम स्कंध" में ५ पद ब्रजभाषा के भी प्राप्त होते हैं। भालण के समय के बारे में अभी विद्वानों में बड़ा मतभेद है। भालण कृत 'द्वितीय नलाख्यान' के अनुसार कवि की उपस्थिति सं० १५४५ में मान्य है। यदि भालण के इस समय और इन पदों को प्रामाणिक मान लिया जाय तो भालण को ब्रजभाषा में काव्य-रचना करने का गौरव प्राप्त होता है। भालण के पश्चात् प्रभास पाटण के निवासी

केशवदास कायस्थ के गुजराती ग्रन्थ 'कृष्ण लीला काव्य'' के १४वें और १६वें सर्ग में ब्रजभाषा की फुटकर रचनाएँ मिलती हैं। गुजराती के सुप्रसिद्ध कवि नरसी मेहता की भी कुछ स्फुट हिन्दी रचनाएँ मिलती हैं। जूनागढ़ निवासी कवि श्रीकमदास (१७३४-१७८६ ई०) ने 'डाकोरे लीला' और 'रुक्मणी हरण'' नामक प्रबंध काव्य और १६० के लगभग स्फुट पदों की रचना ब्रजभाषा में की। ब्रजभाषा में रचना करने वाले गुजराती कवियों में चाँदोद निवासी दयाराम (१७७७-१८१३ ई०) सर्वश्रेष्ठ हैं। इस गुजराती कवि ने ४१ ग्रन्थ और १२,००० स्फुट पदों की रचना ब्रजभाषा में की है। इनके रचे हुए 'सतसैया' और 'रसिक रंजन' ब्रजभाषा के उत्कृष्ट ग्रंथ हैं। इस कवि ने न केवल ब्रजभाषा में काव्य रचना की, वरन् ब्रजभाषा के काव्य ग्रन्थ का गुजराती में अनुवाद भी किया। गिरदास के 'सारावली' का अनुवाद दयाराम ने ४७ वर्ष की आयु में किया था। यह अनुवाद मूल-ग्रंथ का शब्दशः अनुवाद है।[११५] उपर्युक्त उदाहरणों से यह स्पष्ट हो जाता है कि गुजरात में अनेकों कवियों ने गुजराती के साथ ब्रजभाषा में भी काव्य रचना की। उनका यह ब्रजभाषा प्रेम दोनों प्रदेशों को एक सूत्र मे बाँधने में अधिक सहायक सिद्ध हुआ।

मध्यदेश और गुजरात के साहित्यिक सम्बन्धों का एक सूत्र दोनों प्रदेशों में प्रचलित कीर्तन-परम्परा भी है। कीर्तन-प्रणाली के द्वारा मध्ययुग में व्रज और गुजरात एक सूत्र मे आबद्ध रहे हैं। व्रज-प्रदेश में स्थापित वल्लभ-संप्रदाय का जैसे-जैसे गुजरात में प्रचार और प्रभाव बढ़ने लगा, वैसे-वैसे गुजरात में वल्लभ-सम्प्रदाय के मन्दिरों का निर्माण हुआ और नित्य पूजा सेवा के लिए कीर्तन-प्रणाली का विधान रखा गया। इष्ट की पूजा और अर्चना में कीर्तन का प्रमुख स्थान होने के कारण कृष्ण भक्त कवियों ने कीर्तन हेतु गेय पदों की रचना की, जिनका गान कृष्ण के अष्ट प्रहर सेवा में किया जाने लगा। जिस कीर्तन की स्थापना श्रीमद् वल्लभाचार्य ने की, उसकी परम्परा आज भी अक्षुण्ण बनी हुई है। वल्लभ-सम्प्रदाय के गुजरात में व्यापक प्रचार होने के साथ ही, ब्रजभाषा, जो इष्ट की भाषा कहलाती थी, में रचे हुए पद भी राजस्थान होते हुए गुजरात पहुँचे। धीरे-धीरे इन कीर्तनों का प्रभाव बढ़ता गया। जहाँ-जहाँ पुष्टिमार्गीय मन्दिरों या बैठकों का निर्माण हुआ, वहाँ ये कीर्तन भी पहुँचे। गुजराती भक्तों ने इन्हें लिपिबद्ध कर अपने नित्य उपयोग के लिए सुरक्षित रखा। यही कारण है कि गुजरात में इन पदों का संकलन साम्प्रदायिक काव्यों के द्वारा ही अधिक हुआ, सहित्यिक काव्यों से कम।

वल्लभ-सम्प्रदाय के जिन कवियों के पद गुजरात पहुँचे, उनमें अष्टछाप के कविगण प्रमुख हैं। इन अष्टछापी कवियों के पदों के साथ ही अन्य पुष्टिमार्गीय भक्त कवियों के पदो का भी प्रचार गुजरात में हुआ। निम्बार्क, चैतन्य, राधावल्लभ, हरिदासी तथा अन्य कृष्ण-भक्त सम्प्रदायों का प्रचार उस व्यापक रूप से गुजरात में नहीं हुआ, जिस रूप में वल्लभ सम्प्रदाय का। इसी से इन सम्प्रदायों के पद गुजरात में कम संख्या प्राप्त होते हैं। कृष्ण-भक्ति के साथ ही गुजरात में राम-भक्ति का भी प्रचार हुआ। गुजराती हस्तलिखित पदसंग्रहों में रामानंद, अग्रदास, तुलसीदास के पद प्राप्त होते हैं। कृष्ण और राम के साथ ही मध्य-देश की निर्गुण विचारधारा का भी प्रचार गुजरात में हुआ जिसमें कबीर पंथ प्रमुख हैं। कबीर,

धर्मदास, रैदास, मलूकदास की रचनाएं गुजरात पहुँची कबीर की विचारधारा का प्रभाव गुजराती के निर्गुण साहित्य पर पर्याप्त मात्रा म पड़ा है।

तात्पर्य यह है कि विविध भक्त सम्प्रदायों में प्रचलित कीर्तन की प्रणाली ने गुजरात और व्रज को एक सूत्र में बाँधने में पर्याप्त सहायता की। विविध भक्तों के गेय पद मध्यदेश से गुजरात में पहुँचे तथा वहाँ सगुण और निर्गुण भक्ति के प्रचार में सहायक सिद्ध हुए। इस सम्बन्ध में एक गुजराती लेखक का कथन, "कृष्णभक्ति के मुख्य केन्द्र होने के कारण उसके प्रभाव का प्रवाह मथुरा से द्वारका की ओर प्रवाहित हुआ" सत्य सिद्ध होता है।१०६

अस्तु, उपर्युक्त विवेचन के संदर्भ में यह स्पष्ट रूप से परिलक्षित होता है कि अत्यन्त प्राचीनकाल से ही व्रज और गुजरात अनेक माध्यमों से एक सूत्र में आबद्ध रहे हैं। निर्गुण-सगुण की देशव्यापी भक्ति-भावना व्रज और गुजरात को समान रूप से प्रभावित कर वहाँ के जन-मानस को उद्वेलित करने में सहायक सिद्ध हुई है। मध्यदेश के लगभग सभी प्रमुख भक्ति-सम्प्रदायों की शाखा-प्रशाखाएँ गुजरात में पहुँची, जिनसे दोनों प्रदेश सांस्कृतिक स्तर पर एक दूसरे के निकट आये। मध्यदेश और गुजरात के साहित्यों में मिलने वाली समान प्रवृत्तियों का मूल स्वर वस्तुतः सांस्कृतिक है।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) गुजराती और व्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ४६५ (२) भारतीय साहित्य, वर्ष ६, अंक २, पृ० ६१ (३) गुजरात एण्ड इट्स लिट्रेचर, पृ० १२ (४) गुजराती और व्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ४६५ (५) नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १२, पृ० ६७ (६) दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देस, पार्ट I, सेक्शन II चेप्टर III, पृ० १३१ (७) व्रज का इतिहास, पृ० ८४ (८) हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, भूमिका, पृ० २२६ (९) कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इंडिया, पृ० ४२६ (१०) वैष्णव धर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ४२६ (११) गुजराती साहित्य, खण्ड ५, पृ० ३११ (१२) चालुक्य आफ् गुजरात, पृ० २६५ (१३) हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, भूमिका, पृ० २२६ (१४) वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३५० (१५) हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, भूमिका, पृ० ७२ (१६) वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३५२ (१७) वही, पृ० ३५२ (१८) वही, पृ० ३६० (१९) हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, भूमिका, पृ० २२५ (२०) हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, भूमिका, पृ० २२७-२२८ (२१) वही, पृ० २२६ (२२) वही, पृ० ७६ (२३) व्रज का इतिहास, पृ० ८२ (२४) हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, भूमिका, पृ० ३२७ (२५) वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३२१ (२६) गुजरात नो ऐतिहासिक लेख, पृ० १४१-४२ (२७) सोमनाथ एण्ड अदर मेडिकल टेम्पल इन काठियावाड़, पृ० ३८ (२८) वही, पृ० ४४ (२९) वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३५५ (३०) चालुक्याज आफ् गुजरात, पृ० ३८२ (३१) वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३२६ (३२) वही, पृ० ३५८ (३३) भारतीय साहित्य, अप्रैल १९६१, पृ० ६१ (३४) शैवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० १४६-१६२ (३५) गुजराती और व्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन पृ० ४६६ (३६) वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास पृ० १४५

(३७) वही, पृ० ३५६ (३८) वही, पृ० ३५५ (३६) वही, पृ० ३५६ (४०) ब्रज का इतिहास पृ० ८७ (४१) सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ४८ (४२) वही, पृ० ४८ (४३) ब्रज और ब्रजयात्रा, पृ० ७ (४४) गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ४४६ (४५) पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ७०५ (४६) ब्रज और ब्रजयात्रा, पृ० ८ (४७) भारतीय साहित्य, अप्रैल १६६१ पृ० ६१ (४८) हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० २४६ (४६) हिन्दी साहित्य, प्रथम खण्ड, भूमिका पृ० ३८ (५०) सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य, पृ० ७७ (५१) मध्यदेश, पृ० ३ (५२) सरस्वती, दिसम्बर १६६२ (५३) गुजरात एण्ड इट्स लिट्रेचर, पृ० ८ (५४) गुजराती साहित्य (मध्यकालीन) पृ० १०४ (५५) सरस्वती दिसम्बर, १६६२ (५६) हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास, पृ० ७१ (५७) गुजराती साहित्य ना मार्ग सूचक अने वधूमार्ग सूचक स्तम्भो, पृ० ३ (५८) सूरपूर्व ब्रजभाषा और उसका साहित्य पृ० ५२ (५६) ग्लोरी दैट वाज गुर्जरदेश, पृ० १ (६०) छठी गुजराती साहित्य परिषद् नो रिपोर्ट, पृ० २२ (६१) ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश, पृ० १४ (६२) वही, पृ० १५ (६३) रासमाला, पृ० १६-२७ (६४) गुजरात नो सांस्कृतिक इतिहास, पृ० २७ (६५) हिन्दी साहित्य, पृ० ३१-३२ (६६) हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० XXIV (६७) गुजरात नो सांस्कृतिक इतिहास, पृ० ४२ (६८) हिन्दी साहित्य, पृ० ३७-३८ (६६) दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देस, पृ० २४ (७०) वही, पृ० ६६-७० (७१) वही, पृ० १३० (७२) हिन्दी साहित्य, पृ० ४२ (७३) वही, पृ० ३८ (७४) गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन पृ० ४६७ (७५) हिस्ट्री आफ गुजरात, पृ० ३० (७६) भारतीय साहित्य, अप्रैल १६६१, पृ० ६१ (७७) छठी गुजराती साहित्य परिषद् नो रिपोर्ट, पृ० २१ (७८) गुजराती लैंग्वेज एण्ड इट्स लिट्रेचर, वाल्यूम III, पृ० १६३ (७६) दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश, पृ० १ (८०) गुजराती एण्ड इट्स लिट्रेचर, पृ० २४ (८१) दि ग्लोरी दैट वाज गुर्जर देश, पृ० १ (८२) गुजराती और ब्रजभाषा कृष्णकाव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ४६७ (८३) हिन्दी साहित्य, पृ० १४२ (८४) ब्रज का इतिहास १४६-४७ (८५) हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० २४ (८६) हिन्दी साहित्य, पृ० १४३ (८७) हिन्दी और प्रादेशिक भाषाओं का वैज्ञानिक इतिहास, पृ० ५६ (८८) गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० २४८ (८६) ब्रज का इतिहास, पृ० ५६-५७ (६०) भारतीय साहित्य, जनवरी १६५६, पृ० २४ (६१) हिन्दी अनुशीलन, धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक, पृ० १२ (६२) पुरानी राजस्थानी, पृ० ४ (६३) भागवत सम्प्रदाय, पृ० १४७-४८ (६४) गवेषणा, मार्च, १६६४ पृ० ११० (६५) गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन पृ० ४६६ (६६) पोद्दार अभिनन्दन ग्रन्थ, पृ० ६३ पृ० (६७) गुजराती साहित्य, खण्ड ५, पृ० १६ (६८) वैष्णवधर्मनो संक्षिप्त इतिहास, पृ० ३७६-८० (६६) व्यास वाणी पृ० ३६८ (१००) सूर सागर, पद सं० १३०२ (१०१) पोद्दार रस-दर्शन, पृ० १६० (१०२) गुजराती साहित्य, खण्ड ५, प्रकरण ८, पृ० ६३ (१०३) वही, पृ० २१३ (१०४) वही, पृ० ३१७ (१०५) सूर सारावली, पृ० ६ (१०६) गुजराती और ब्रजभाषा कृष्ण काव्य का तुलनात्मक अध्ययन, पृ० ४८१ ।

पृथ्वीराज रासो : महोबा समय

● कस्तूरचन्द जैन

आदि कालीन रासो काव्य-ग्रन्थों में पृथ्वीराज रासो की प्रमाणिकता का प्रश्न, सुदीर्घ अन्वेषण और व्यापक शोध का आधार पाकर भी अब तक उलझा हुआ है। प्राचीन हिन्दी साहित्य में ऐसा कोई ग्रन्थ नहीं है, जिसकी पाठ-निर्धारण और प्रामाणिकता की समस्या पर इतना अधिक विचार-मंथन हुआ हो। रासो का मूल रूप क्या है, वह कब लिखा गया, उसका रचयिता कौन है और क्या उसे ऐतिहासिक कृति के रूप में स्वीकार किया जा सकता है— आदि प्रश्नों पर पिछली शताब्दी के अंतिमांश से विचार होता आया है। कदाचित् संवत् १९४२ मे सर्वप्रथम कविराज श्यामलदास के लेख[1] से इस समस्या पर विचार प्रारम्भ हुआ और तब से अब तक, वैज्ञानिक अध्ययन-पद्धति और पाठ-विज्ञान के परिप्रेक्ष्य में, रासो की समस्त उपलब्ध प्रतियों का विद्वानों द्वारा यथासमय निरीक्षण-परीक्षण किया जाता रहा है। अनुपलब्ध मूल रासो की लगभग सौ से अधिक[2] रूपान्तरित प्रतियाँ, अब तक चार भिन्न आकार-सरणियो मे प्राप्त हुई है; जिन्हें बृहत्, मध्यम, लघु और लघुतम् रूपान्तरों की संज्ञा दी गई है। स्मरणीय है कि इन सभी आकार-रूपों की अधिकांश प्रतियाँ राजस्थान में मिली हैं, तथा संख्या की दृष्टि से बृहत् रूपान्तर की प्रतियाँ सर्वाधिक मात्रा में उपलब्ध हैं। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी ने कुल ५१ प्रतियों का उल्लेख किया है, जिनमें से ३३ बृहत् रूपान्तर की प्रतियाँ है।[3] सन् १९११ में रासो के बृहत् पाठ का सर्वप्रथम संपादन श्री मोहनलाल विष्णुलाल पांड्या और आचार्य श्यामसुन्दर दास ने नागरी प्रचारिणी सभा काशी से किया था। रासो की प्रामाणिकता का प्रारम्भिक विवेचन इस प्रति पर ही मूलतः आधारित है। रासो की प्राचीनतम प्रति लघुतम रूपान्तर में उपलब्ध है, जिसका लिपिकाल संवत् १६६७ स्थिर किया गया है। यद्यपि यह काल-निर्धारण असंदिग्ध नहीं है।[4] इस लघुतम रूपान्तर के कुछ अंश अब प्रक्षिप्त सिद्ध हो चुके हैं,[5] और मुझे संदेह है कि इसमें प्रयुक्त 'रासउ-रसाल'[6] शब्द इसे रासो से भिन्न किसी स्वतंत्र कृति की स्थिति न प्रदान करते हों। बृहत् रूपान्तर में संवत् १६७० से पूर्व की कोई प्रति अब तक प्रमाणिक नहीं मानी गई है।[7] प्रमाणिकता के प्रश्न को लेकर पुरातन प्रबध संग्रह, हम्मीर-महाकाव्य, पृथ्वीराज विजय, सुर्जनचरित महाकाव्य, आईन-ए-अकबरी तथा परमाल रासो आदि रासो के सम-सामयिक इतिहास और काव्य-ग्रन्थों से उसके अनुमानित मूल रूप का, भिन्न दृष्टियों से तुलनात्मक अध्ययन किया गया है, परन्तु किसी निश्चित निष्कर्ष पर अब तक नहीं पहुँचा जा सका

महोबा समय : —

प्रस्तुत लेखक को पृथ्वीराज रासो की एक खंड प्रति उपलब्ध हुई है जो 'महोबा समय' से संबद्ध है। यहाँ यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि कतिपय विद्वान् रासो के महोबा समय को प्रक्षिप्त मानते हैं, और उनकी धारणा है कि इस 'समय' के चन्द की रचना होने में संदेह है।[८] यही नहीं, उनका अनुमान है कि यह एक स्वतंत्र ग्रन्थ है।[९] जिसकी रचना किसी बुन्देलखंडी कवि ने वैक्रमीय सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दी में की है।[१०] यह आश्चर्य की बात है कि डॉ० माताप्रसाद गुप्त जैसे रासो के अधिकारी विद्वान् महोबा समय को न तो कोई स्वतंत्र ग्रन्थ मानते हैं, और न उसे पृथ्वीराज रासो का एक भाग मानने के लिये तैयार हैं।[११] महोबा खंड को प्रक्षेप मानते हुए, परमाल रासो को 'प्रक्षेप का प्रक्षेप,[१२] कहकर सम्भवतः उन्होंने एक बड़े विवाद से पीछा छुड़ाने का प्रयत्न किया है। मैं नहीं कह सकता कि यह मनोवृत्ति रासो के साथ कहाँ तक न्याय करेगी। महोबा खंड की उपलब्ध विवेच्य प्रति पृथ्वीराज रासो, परमाल रासो और महोबा समय के इस त्रिकोणात्मक संघर्ष पर महत्वपूर्ण प्रकाश डालती है, और अंततः रासो की प्रामाणिकता के प्रश्न पर नई विचार-दशा का संकेत देती है।

नामकरण : शब्द-प्रयोग की समस्या :—

उपलब्ध प्रति 'ग्रन्थारम्भ' में 'पृथीराज रायसो' के नाम से अभिहित हुई है। ग्रन्थ-समाप्ति पर पुष्पिका में 'पृथीराज राइसौ' के साथ 'समवो महोवे को' का भी उल्लेख है।[१३] रायसौ या राइसौ शब्द के स्थान पर रासो के लघु रूपान्तरों में रासउ और रासु तथा बृहत् रूपान्तरों में 'रासो' शब्दों का प्रयोग हुआ है। डॉ० माताप्रसाद गुप्त का अनुमान है कि रासो में 'उ' की मात्रा का प्रयोग अउ, ओ और औ के लिए भी हुआ है, अतः लघु रूपान्तर के आधार पर मूल पाठ में 'रासउ' शब्द-प्रयोग की अधिक सम्भावना है।[१४] महोबा समय का 'राइसौ अथवा 'रायसौ' शब्द डॉ० गुप्त के इस अनुमान पर पुनर्विचार की आवश्यकता प्रतिपादित करता है। स्मरणीय है कि तथाकथित परमाल रासो में ग्रन्थ के नामकरण के लिए 'पृथ्वीराज— रासो' शब्द का प्रयोग कहीं नहीं हुआ है।

लिपिकाल तथा अनुवादक :—

महोबा समय की विवेच्य प्रति का लिपिकाल संवत् १८०६, तदनुसार सन् १७५६ ई० है। कार्तिक सुदी ग्यारस, बुधवार को लेखक ने ग्रन्थ रचना समाप्त की थी।[१५] आचार्य श्यामसुन्दर दास ने महोबा खंड की छतरपुर-प्रति का लिपिकाल संवत् १८४६ तथा परमाल रासो के नाम से संबद्ध एशियाटिक सोसाइटी की प्रति का लिपिकाल संवत् १६२५ स्थिर किया है।[१६] इस प्रकार महोबा खंड की उपलब्ध प्रतियों में से कदाचित् यह सबसे प्राचीन प्रति है। इस प्रति का आकार लगभग ९″ × ६″ है, तथा इसमें ५८ पत्र हैं। पत्र के दोनो ओर मोटी कलम से सुन्दर सुगठित अक्षरों में पीले कागज पर लिखा गया है। पुस्तक के सभी पत्र मजबूत जिल्द में सुरक्षित हैं पुष्पिका के अंत में लिपिकार ने अपना परिचय दिया

है जिसके अनुसार उसके पूर्वज बसहरी ग्राम के निवासी थे और वह कलगवा कस्बे का निवासी है. कलगवा ग्राम, महाराजकुमार श्री लाला राजाजू का अधिकार क्षेत्र कहा गया है। लिपिकार ने अपना नाम खुमान वैश्य अंकित किया है।[१७] लेखक को यह ग्रंथ कैलगवाँ समीपी नारहट ग्राम (झाँसी, उ० प्र०) में एक बुंदेला परिवार से सन् १६५८ में प्राप्त हुआ था।

महोबा-समय का लेखक : चंद वरदायी :—

'महोबा समय' का लेखक ग्रंथ की पुष्पिका में कवि चंद कहा गया है।[१८] चंद के लिए सम्पूर्ण ग्रन्थ में, चंद, कवि चंद, कव्वि चंद, कव चंद, गुर चंद, चंद वरदाह, चंद वरदाहि, वरदाह चंद, वरदाइ चंद, वरदाय और वरदाह नामों का प्रयोग हुआ है। चंद शब्द का प्रयोग कुछ स्थलों पर जयचंद, चंड पुंडीर और चंदराम नामक किसी योद्धा के लिए भी हुआ है। ग्रन्थ-लेखक कवि चंद अथवा चंद वरदाई लगभग ३० स्थलों पर चार भिन्न रूपों में हमारे सामने आता है—लेखक अथवा कवि के रूप में, योद्धा के रूप में, पृथ्वीराज के सलाहकार-मित्र के रूप में और मंत्र-दाता अथवा गुरु के रूप में। कवि और सलाहकार-मित्र के दो भिन्न रूप अनेक स्थलों पर मिले-जुले प्रतीत होते हैं। आल्हा और ऊदल के संबंध में पृथ्वीराज की प्रायः सभी जिज्ञासाओं का समाधान चंद ही करता है। योद्धा के रूप में वह परमाल की सेना से लड़ता है और घायल होता है। मंत्र-दाता अथवा गुरु के रूप में चंद के व्यक्तित्व और उसकी 'वरदाई' उपाधि पर महत्वपूर्ण प्रकाश पड़ता है। 'विरदिया' अथवा 'विरुदिया' उपाधि को विरुद (प्रशस्ति) शब्द से संबद्ध कर इस संबंध में बड़ी भ्रांति पैदा की गई है।[१९] ये दोनों शब्द महोबा खंड में कहीं नहीं मिलते। वस्तुतः मूल शब्द वरदाई है, जिसका सामान्य अर्थ 'वर देने वाला' होता है। महोबा खंड के अनुसार चौहान-चंदेल युद्ध की अंतिम स्थिति में चंद अपनी मंत्र-शक्ति से आल्हा के मंत्र बल को क्षीण कर देता है। युद्धोपरान्त उसकी भेंट गोरखनाथ से होती है, तथा वह भगवान शंकर की सिद्धि तथा अपने गुरु रामदेव के आशीर्वाद से मंत्र-शक्ति के बल पर सभी मृत योद्धाओं को पुनर्जीवित कर[२०] सदल बल पृथ्वीराज के साथ दिल्ली प्रस्थान करता है। तंत्र-विद्या में पारंगत चंदवरदाई ही महोबा खंड के युद्ध-प्रसंग को सुखान्त भूमिका प्रदान करता है। पृथ्वीराज रासो के अन्य किसी प्रसंग में चंद का यह गुरुवत् तांत्रिक[२१] 'वरदाई' रूप दिखाई नहीं देता। महोबा खंड को प्रक्षिप्त मानने वाले विद्वान इसीलिए 'वरदाई' विश्लेषण की अन्यथा गलत और भ्रमपूर्ण व्याख्या में संलग्न दिखाई देते हैं।[२२] चंदवरदाई के अतिरिक्त किसी अन्य रचनाकार के उल्लेख का सर्वथा अभाव महोबा समय को किसी भिन्न कृतिकार की रचना सिद्ध नहीं कर सकता।

ऐतिहासिक कथा-सूत्र :—

महोबा समय में पृथ्वीराज चौहान और चंदेल राजा परमर्दिदेव (परमाल) के युद्ध का वर्णन है। चौहान-चंदेल-युद्ध इतिहाससम्मत है[२३] विवेच्य प्रति में इस ऐतिहासिक

घटना के समय का उल्लेख है, जिसके अनुसार संवत ११४० में चौहान ने चंदेल पर 'कोप' किया।[२४] विद्वानों ने उक्त तिथि को अनैतिहासिक सिद्ध किया है और मदनपुर शिलालेख[२५] के आधार पर आचार्य श्यामसुन्दर दास का मत है कि संवत् १२३९ में पृथ्वीराज ने परम र्दिदेव पर विजय प्राप्त की थी, अतः उस संवत् को ग्यारह सौ की जगह बारह सौ होना चाहिए।[२५] वे इसीलिए 'ग्यारह सौ' को प्रक्षिप्त मानते हैं। इसी स्थल पर मैं कहना चाहूँगा कि महोबा समय का तिथि-निर्देश अनैतिहासिक भले ही हो, प्रस्तुत विचार-संदर्भ में प्रक्षिप्त नहीं कहा जा सकता, क्योंकि वह पृथ्वीराज रासो की अन्य तिथियों से पूरी तरह मेल खाता है।[२७] यदि वे सब प्रक्षिप्त हैं, तब दूसरी बात है, क्योंकि वैसी स्थिति में सम्पूर्ण रासो ही अनैतिहासिक और अब तक की शोध के अनुसार अप्रमाणिक सिद्ध होगा। संवत् ११४० के आसपास उपलब्ध होने वाली पृथ्वीराज के जीवन की कुछ अन्य तिथियों का उल्लेख [२८] इस स्थल पर अप्रासंगिक न होगा :—

(अ) संवत् ११३८ में पृथ्वीराज को दिल्ली का राज मिला तथा इसी वर्ष खट्टूपुर का धन निकाला गया।

(आ) संवत् ११४८ में भोरा भीम ने शिवपुरी को जलाया।

(इ) संवत् ११५१ में पृथ्वीराज की आयु ३६ वर्ष की थी तथा उसी वर्ष वह कन्नौज गया था।

(ई) संवत् ११५४ में दिल्ली का राज शहाबुद्दीन को मिला।

महोबा समय की घटना का अधिक प्रामाणिक विवेचन रासो के 'पद्मावती समय' के आधार पर होता है। संवत् ११३८ में पृथ्वीराज दिल्ली का शासक बना। इसके लगभग डेढ़ वर्ष बाद गौरीशाह [२९] के साथ उसका युद्ध हुआ।[३०] युद्ध के पश्चात्, जो संवत् ११४० में हुआ होगा, पद्मावती से पृथ्वीराज का विवाह हुआ। पद्मावती-विवाह के अवसर पर समुद्र शिखर[३१] में एक युद्ध हुआ जिसमें महोबा समय के अनुसार पृथ्वीराज के घायल सैनिकों को, जब वे लौटते हुए चंदेलराज की अनुमति के बिना महोबा में रुके थे,[३२] परमार्दिदेव ने मरवा डाला।[३३] पृथ्वीराज ने इसीलिए महोबा पर आक्रमण किया। स्पष्ट ही, यह घटना संवत् ११४० की है और मूल रासो में पद्मावती-विवाह के पश्चात् इसकी स्थिति होनी चाहिए।[३४]

पात्र और चरित्र :—

महोबा समय का चरित्र-नायक पृथ्वीराज है, जिसे युद्ध में विजय द्वारा अंततः फल-प्राप्ति होती है। पृथ्वीराज के घायल सैनिकों के महोबा-प्रवास से कथा आरम्भ होती है और युद्ध-पश्चात् अंतिम स्थिति में पृथ्वीराज द्वारा महोबा-विजय की सुखान्त सूचना दी जाती है।[३५] मध्यवर्ती युद्ध-प्रसंग में पृथ्वीराज के शौर्य और पराक्रम की प्रशंसा हुई है।[३६]

महोबा समय का दूसरा प्रधान पात्र महोबा का राजा परमार्दिदेव (परमाल) है, जिसका अपना कोई स्वतन्त्र व्यक्तित्व दिखाई नहीं पड़ता। वह क्रोधी, भीरु, विलासी और अदूरदर्शी है।[३७] उसकी पत्नी मल्हना (मल्हन दे) अत्यन्त कुशल, दूरदर्शी और चतुर स्त्री के रूप में चित्रित हुई है। वह महोबे के शासन-सूत्र का सुचारु संचालन करती है।

महोबा समय के दो प्रधान पात्र आल्हा और ऊदल है जिनकी यश-गाथा उत्तर भारत में आज भी गाई जाती है। आल्हा-ऊदल परमर्दिदेव के प्रधान सामंत हैं। युद्ध मे उन्होंने अपनी अलौकिक और असाधारण वीरता का परिचय देकर महोबा की लाज रख ली। आल्हा सल्ल-दल्ल का अवतार[३८] और गुरु गोरखनाथ का भक्त[३९] कहा गया है। वह अपनी मंत्र-शक्ति से युद्ध में खेत रहे ऊदल को पुनर्जीवित करता है। आल्हा तथा ऊदल के सम्बन्ध में पृथ्वीराज द्वारा उठाई गई अनेक जिज्ञासाओं और शंकाओं[४०] का समाधान कवि चंद-वरदाई द्वारा हुआ है। प्रधान पात्रों की भूमिका में चंद वरदाई का नाम भी स्मरणीय है, जो पृथ्वीराज के सलाहकार-मित्र, मंत्र-दाता और कुशल योद्धा के रूप मे चित्रित है।[४१] आल्हा-ऊदल की माँ देवलदे देशभक्त वीर क्षत्राणी और एक आदर्श नारी के रूप में चित्रित हुई है।[४२] महोबा-युद्ध के सन्दर्भ में पृथ्वीराज और परमर्दिदेव के पक्षधर अनेक सूर-सामंतों और उनके वीरतापूर्ण कार्यों का उल्लेख विवेच्य कृति में हुआ है। चदपुण्डीर, कन्ह, दाहिमा, कैमांस, जैत, कचक, बड़ गुज्जर, सलष, अत्ताताई, संजमराय, तावँर, अचलेस, अल्हनकुमार, सारंगराय, नवलेस, पज्जून, निट्ठुर और हाहुलीराय आदि पृथ्वीराज के प्रधान सामंतों के नाम इस संदर्भ में उल्लेखनीय है। यह सभी ऐतिहासिक पात्र है, जिनका उल्लेख पृथ्वीराज रासो के अनेक स्थलों पर, विशेषकर कन्नौज-युद्ध-प्रसंग में हुआ है। कमांस अथवा कैंवास पृथ्वीराज का मंत्री है, जिसका रासो में कालिमापूर्ण चरित्र अंकित है,[४३] यद्यपि महोबा समय में उसे 'बुद्धिद्वार' कहा गया है। कन्ह अथवा कन्हराय रासो में अन्यत्र जयचन्द की ओर से युद्ध-रत दिखाई पड़ता है।[४४] इन सामान्य असंगतियों को छोड़कर, सभी स्थलों पर महोबा समय के उक्त पात्र रासो के शेष भाग से संगति रखते प्रतीत होते हैं।

माहिल (महिला भोपति), मलखे (मलखान), वीरसिंह, जगनिक, ब्रह्मानंद, ऊल्हन, नरसिंह, अरिसिंह, लाखनसी,[४५] तालनसी, गोकुल बघेला, कर्मसिंह, मकरन्द कायस्थ, अमानराय, गोयंदराय, चक्रपाणि, देवकर्ण, केहरीसिंह, गुमानसिंह और सत्रसाल महोबा युद्ध के वे बुन्देला वीर हैं, जिन्होंने अपने पराक्रम और युद्ध-कौशल द्वारा चौहान-सेना के दांत खट्टे कर दिये। इनमें से अधिकांश पात्रों का रासो में अन्यत्र कहीं उल्लेख नहीं मिलता, परन्तु माहिल,[४६] मलखान,[४७] जगनिक और जल्हन[४८] जैसे पात्रों के साथ अनेक लोक-गाथाएँ जुड़ी हुई है, जिनका निश्चय ही कोई ऐतिहासिक आधार होना चाहिए। महोबा-युद्ध में जयचंद द्वारा परमाल की सहायतार्थ आए हुए लखन राठौर, रूपसिंह मोरी, वीरध राय तोंवर, कुंवर पाल, पुंगपाल और तल्लहन खां आदि सरदारों के नाम भी उल्लेखनीय है, जो रासो में अन्यत्र भी विवेचित हैं। इन सभी पात्रो के अतिरिक्त कथा के परिपार्श्व मे जयचन्द और गुरु गोरखनाथ के साथ गुरु रामदेव की[४९] भी चर्चा हुई है जिसे प्रासंगिक ही समझा जाना चाहिए।

संवाद-योजना :—

आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी की स्थापना है कि मूल रासो शुकशुकी-संवाद के रूप में लिखा गया था। उक्त दोनों कथाएँ दो व्यक्तियों के संवाद के रूप में लिखी जाती थीं।[५०]

संवाद-योजना की इस प्राचीन परम्परा का निर्वाह महोबा-समय की उपलब्ध प्रति में हुआ है। ग्रन्थारम्भ के दो दोहे द्रष्टव्य हैं,[५१] जो सभा-संस्करण के महोबा-समय तथा परमाल रासो में कहीं नहीं मिलते। सभा-संस्करण का महोबा-समय किसी भी प्रकार के संवाद-संयोजन की सूचना नहीं देता। परमाल रासो की संवाद-योजना भिन्न स्तर पर हुई है। उसके प्रथम खंड में व्यास-अनंगपाल-संवाद के माध्यम से चन्द्रवंशोत्पत्ति का विवरण दिया गया है। अल्हन-संबोध शीर्षक खंड में एक और संवाद सूचना मिलती है, जो पृथ्वीराज रासो से परमाल रासो की भिन्न और स्वतन्त्र स्थिति का संकेत देती है। इस सूचना के अनुसार व्यास ने अनंगपाल से और चन्द ने रावल से (जो कथा) कही, चौहान चंदेल (की उसी कथा) का छन्द-प्रबन्ध-पूर्ण वर्णन (मैं) करता हूँ।[५२] परमाल रासो और महोबा-खंड की यह भिन्न संवाद-योजना बड़ी सार्थक जान पड़ती है। परमाल रासो एक स्वतन्त्र कृति है और विवेच्य महोबा-समय पृथ्वीराज रासो का एक खण्ड मात्र है। यही कारण है कि परमाल रासो का लेखक संवाद की विधि-पूर्वक नियोजना में संलग्न दिखाई देता है[५३] और महोबा-समय का लिपिकार कथा के पूर्व प्रसंग और पूर्वोल्लेख से संवाद की सांकेतिक सूचना को कथा के स्वाभाविक प्रवाह में गतिशील कर देता है।[५४] ग्रन्थारम्भ में ही 'कितने दिवस बीते' जैसे, 'सुवा वचन' का उल्लेख मेरी उक्त धारणा का पर्याप्त प्रमाण समझा जाना चाहिए। कहना न होगा कि रासो-संबद्ध प्रामाणिकता और पाठ-निर्धारण की समस्या के समाधान में संवाद-योजना एक ठोस वैज्ञानिक आधार प्रस्तुत करती है।

उक्ति-शृंखला :—

रासो की उक्ति-शृंखला संबंधी विशेषता का उल्लेख करते हुए डॉ० माताप्रसाद गुप्त ने अनुमान लगाया है कि मूल रासो में उक्ति-शृंखला कहीं त्रुटित न रही होगी। लघुतम रूपान्तर की एक प्रति के ७८ उदाहरण लेकर वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे हैं कि वृहद् पाठों के क्रमशः अधिकाधिक त्रुटित होने का एक मात्र कारण ऐसे व्यक्तियों के द्वारा की गई पाठ वृद्धि होना चाहिए, जो इसे जान नहीं सके और इसीलिए उसे सुरक्षित रखते हुए, पाठ-वृद्धि न कर सके।[५५] पाठ-निर्धारण का यह आधार काल्पनिक और अवैज्ञानिक[५६] होते हुए भी इस तथ्य की ओर संकेत करता है कि रासो की प्रायः सभी उपलब्ध प्रतियों में उक्ति-शृंखला के न्यूनाधिक प्रयोग मिलते हैं। महोबा समय मे भी यह प्रवृत्ति दर्शनीय है। इसमें छन्द-परिवर्तन के अनेक स्थलों पर कुछ उक्तियों, वाक्यांशों अथवा आंशिक शब्द-योजनाओं की पुनरावृत्ति दिखाई पड़ती है। ऐसा प्रतीत होता है कि यह पुनरावृत्ति मूलक उक्ति-शृंखला प्रायः दोहा छन्द से संबद्ध होकर चली है। कुछ उदाहरण द्रष्टव्य हैं—

(१) **दोहा**—समदि सिखिरि गढ परन नृप, पकर साहि लिय संग।
छप्पय—समदि सिखिर गढि परन राज दिल्ली दिस चल्लिव।

(२) **दोहा**—गिरे ऊदल रन मोर्छा कटि दासी वपुपान।
छप्पय कटि दासी वपु पान लखी परमाल अवासह

(३) पद्धरी फलमज्ज देस कीनौ पयान
दोहा—आल महोबौ छाड़ि के कनवजि कियौ पयान।
(४) दोहा—बिना चूक परमाल नें घाइल किए निकंद।
छप्पय—हन घाइल बिन चूक और दासी व्र सुत्तह।
(५) दोहा—परस्थान नृप बाग में पीथक उतरे आय।
चौपही—बाग आय नृप कीए विनोदय।
(६) दोहा—आवै आल महोव जब कीवौ जुद्ध नरेस।
चौपही—आवै आल जुद्धि जब करियौ।

छंद-योजना :—

उपलब्ध प्रति में रासो के कतिपय प्रमुख छंदों का यथावसर प्रयोग हुआ है। वार्णिक छंदों में भुजंगी और मात्रिक छंदों में दोहा तथा छप्पय का सर्वाधिक प्रयोग हुआ है। छप्पय की रचना में कवि अधिक सफल दिखाई देता है। परुष प्रसंगों और वीर रस प्रधान रचना के लिए यह अधिक उपयुक्त छंद है। कदाचित इसीलिए आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी का अनुमान है कि रासो में चंद ने छप्पय छंद का अधिक प्रयोग किया है।[५७] महोबा-समय में छप्पय के कुल ४१ प्रयोग उपलब्ध हैं। चौपाई, पद्धरी, मोतीदाम, भुजंगी, हनुफाल[५८], अडिल्ल, नराच, चावर नराज[५९], रसावला[६०] और त्रोटक छंद क्रमशः हीन मात्रा में प्रयुक्त है। दोहा के लिए 'दोहरा', चौपाई के लिये 'चौपही', नराच के लिये 'नराज' और त्रोटक के लिये 'तोटक' शब्दों के प्रयोग भी उल्लेखनीय हैं। महोबा-समय की कुल छंद-संख्या लगभग ९०० है तथा सम्पूर्ण ग्रन्थ में २१२ बार छंद-परिवर्तन हुआ है। यह तथ्य उल्लेखनीय है कि रासो के सभा संस्करण में प्रकाशित महोबा समय की कुल छंद संख्या ८२६ है तथा १९७ स्थलों पर छंद-परिवर्तन हुआ है। स्मरणीय है कि लिपिकाल की दृष्टि से सभा संस्करण का महोबा समय १८वीं शताब्दी की रचना है जबकि विवेच्य प्रति सत्रहवीं शताब्दी में प्रतिलिपित हुई थी। यह तथ्य कम महत्वपूर्ण नहीं है कि विवेच्य प्रति अपेक्षाकृत पहले की रचना होते हुए भी छंद-संख्या की दृष्टि से सभा-संस्करण के महोबा समय से कुछ अधिक बड़ी है। अस्तु, यह धारणा उचित प्रतीत नहीं होती कि अधिकाधिक छंद-संख्या वाली प्रतियों के पाठों में उत्तरोत्तर पाठ-वृद्धि के प्रमाण मिलते हैं। निष्कर्षतः, छंदशास्त्रीय दृष्टि से उपलब्ध महोबा समय की प्रति द्रुतगामी छंद-परिवर्तन, दोहा-चौपाई शैली तथा अनेक प्राचीन छंदों के प्रयोग के कारण अपभ्रंश छंद-परंपरा के अधिक निकट जान पड़ती है। यह सभी छांदिक विशेषताएँ मूल रासो में अवश्य रही होंगी।[६१]

भाषा-प्रवृत्तियाँ :—

महोबा-समय की भाषा प्रवृत्तियों के स्वतंत्र अध्ययन का प्रयास अब तक नहीं हुआ है। रासो के प्रथम भाषा-अध्येता बीम्स महोदय[६२] ने 'महोबा खंड' को पृथ्वीराज रासो का २१वाँ समय स्वीकार करते हुए अपने की आधारभूत सामग्री के इसके

कुछ उदाहरणों को चुना था। इधर डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी ने अपने शोध-प्रबंध में महोबा समय में प्रयुक्त ४३ विदेशी शब्दों के आधार पर उसकी कतिपय भाषा-प्रवृत्तियों का सोदाहरण उल्लेख किया है।[१३] कहना न होगा कि यह प्रारम्भिक, असंबद्ध और एकांगी विवेचना किसी कृति के भाषा-निर्णय का पर्याप्त आधार नहीं हो सकती और केवल इतने अध्ययन के बल पर ही महोबा-समय को पृथ्वीराज रासो से भिन्न और स्वतंत्र रचना सिद्ध नहीं कर सकते।[१४]

महोबा समय की विवेच्य प्रति, सभी उपलब्ध प्रतियों में प्राचीनतम होने के कारण, भाषा के तुलनामूलक अध्ययन का अपेक्षाकृत अधिक प्रमाणिक आधार प्रस्तुत करती है। पृथ्वीराज रासो की ध्वनि-तत्व और रूप-तत्व की सामान्य प्रवृत्तियों के परिप्रेक्ष्य में, परिशिष्ट रूप में संकलित सामग्री के आधार पर, हम देखेंगे कि इसकी भाषा सत्रहवीं शताब्दी में लिपिबद्ध रासो के बृहत् संस्करणों की भाषा से किसी भी प्रकार भिन्न नहीं है।

ध्वनि विचार: —

(१) छंदानुरोध से अक्षरों के लघु रूप को गुरु और गुरु रूप को लघु बनाने की प्रवृत्ति : ओदसी, आनद, सुक्का, अनवाता, वरजाने, पुक्कारियौ, साहामें।

(२) स्वर के ह्रस्वीकरण की प्रवृत्ति : मात (माता) स्वाम (स्वामी) असल (असली) धरम (धर्म) भाइ (भाई) देखि (देखी, देखे) पुव्व (पूर्व)।

(३) शब्द के अन्तर्गत अनादि अक्षर में स्वर के गुण संबंधी परिवर्तन की प्रवृत्ति : अ > इ : असवार > असिवार, अ > उ : धर्मधर > धमुंधर, अ > इ : परमाल > परिमाल, मंडल > मंडिल, धरिती > धरती, राजकुमार > राइकुमार।

(४) य, उ और सु का छंद की मात्रा-पूर्ति के लिये अकारण प्रयोग : क्रोधउ, सुबोल, रखीय, सुसर्व।

(५) उद्वृत्त स्वर को पूर्ववर्ती स्वर के साथ संयुक्त करने की प्रवृत्ति।

(६) अकारण आनुनासिकता तथा वर्गीय आनुनासिक व्यंजनों में केवल ण, न और म का अस्तित्व : से, परदों, छूटें, अवें, सांवंध।

(७) म्ह तथा थ्य व्यंजन ध्वनियाँ : सम्हर, जुथ्य।

(८) संयुक्त व्यंजनों में पूर्व सावर्ण्य तथा परसावर्ण्य की प्रवृत्तिः जुथ्थ, हथ्थं, थट्ट, भमक्कै, सरद्दं, पुव्व।

(९) लिपिमूलक वैशिष्ट्य—इ, ई, ए, ब तथा ख के लिए सर्वत्र क्रमशः हि, इ, ऐ, व तथा ष का प्रयोग : आऐ, बैठाऐ, निवाहिऐ, सबही, होइ, सोइ, भाइ, लष, वीते।

रूप विचार :—

(१) ह-परक विभक्तियों के अवशेष : वरदाह, पक्षाह, कमधुज्जह, विचारह।

(२) कर्त्ता, कर्म, करण, तथा सम्प्रदान के बहुवचन में न विभक्ति का प्रयोग. सामंयन चंदेलन नरन।

(३) विशेषण ग्यारा चालीस से सौ इक आठ सहस नौमी दोय, चार, दोन्यों, साठ, दूइ, अघि (अर्ध)।

(४) वर्तमान तथा भूतकालिक क्रिया-पदों की प्रधानता : दोनों कालों में "बोलना' क्रिया के उपलब्ध रूप-बोलिव, बोलियो, बुल्लिव, बुल्लिय, बोलों, बुल्यौ, बोल, बोलि, बोली।

(५) सर्वनाम : उत्तम पुरुष-अपनौ, आपुन, मोह, मैं,
मध्यम पुरुष—तुम,
अन्य पुरुष – तासौं, वे, सोइ, तिन, ऐ।

(६) परसर्ग : कौ, काजै, तै, पै, सौ, पर, की, के, कै।

(७) निर्विभक्तक संज्ञा शब्द : आलन, रजपूतन, दिमारे, रसहि, भसुंडे, दिसान, महोवे।

(८) ओकारान्त क्रियार्थक संज्ञा-विशेषण रूप : परयो, बोलियौ, परदौ, महोबौ, अपनौ, सुनौ, परौ, वरौ, दौरौ, लरौ, थोरौ, जोरौ, करौ, बड़ौ, देखौ, दियौ, आयौ, रायसौ।

पश्चिमी हिन्दी का प्रभाव तथा कतिपय आक्षेप :

प्रस्तुत लेख के परिशिष्ट रूप में महोबा-समय की संकलित सामग्री के आधार पर उपलब्ध प्रति की कतिपय भाषा-प्रवृत्तियों पर ऊपर प्रकाश डाला गया है। पूर्वी राजस्थानी और पश्चिमी हिन्दी की यह सभी प्राचीन प्रवृत्तियाँ मूल रासो में अवश्य रही होंगी,[६५] यद्यपि रासो की भाषा, उपलब्ध प्रतियों में देश काल, कथा-संयोजन तथा छंद-परिवर्तन के प्रभावों से मुक्त नहीं रही है। यही कारण है कि हिन्दी के पूर्वी क्षेत्र में पायी जाने वाली कृतियाँ ब्रज, बुन्देली आदि बोलियों के प्रभावों से अपेक्षाकृत अधिक ग्रस्त हैं। रासो का महोबा-समय पूर्वी परम्परा में सुरक्षित रहने के कारण आदि ब्रज या बुन्देली के प्रभाव से युक्त है, तो यह स्वाभाविक ही है; विशेषकर जब कि समसामयिक आल्ह-खंड की प्रतिष्ठा इस क्षेत्र में किसी भी प्रकार रासो से कम नहीं रही। रासो संबद्ध महोबा-समय और जगनिककृत आल्ह-खंड की प्रतिस्पर्धा तथा उसके भेद की ठीक-ठीक कल्पना न कर पाने के कारण ही सुप्रसिद्ध भाषाशास्त्री डॉ० उदयनारायण तिवारी को यह कहना पड़ा कि "इसका उन्हत्तरवाँ महोबा समय वस्तुत: बहुत बाद में आल्ह-खंड से लेकर जोड़ा हुआ प्रतीत होता है।[६६] महोबा-समय से "रासा की भाषा" (?) का एक उदाहरण देते हुए उन्होंने कहा है कि उसमें "क्रिया तथा संज्ञा के प्राय: सभी रूप आधुनिक हैं, जो व्रज भाषा में प्रचलित हैं।" उक्त उदाहरण निम्न प्रकार है—

एक पहर में सावंत प्यारे, लोक हजार पांच तह मारे।
ये सावंत पृथ्वीराज पियारे, के ते ईंदल संकट बुहारे ॥[६७]

महोवा-समय के सभा-संस्करण अथवा उसकी उपलब्ध विवेच्य हस्तलिखित प्रति में उक्त पंक्तियाँ कहीं नहीं आई हैं। ऊदल द्वारा चौहान सेना के एक हजार सिपाहियों को मारने का उल्लेख अवश्य दोनों प्रतियों में आया है —

ऊदिल कौ नाच्यौ कमध, गिर्‍यौ सीस धर सूर।
हनि सैना प्रिथिराज की, एक हजार सपूर ॥
(महोबा समय सभा संस्करण छंद सं० ७११)

ऊवल को नाच्यो कमधु गिरे सीस धरि सूर।
हन सना प्रथीराज को ऐक हजार सुपूर।

(महोबा समय, हस्तलिखित प्रति, पत्र संख्या ४६)

उक्त दोहों की भाषा 'आधुनिक' नहीं कही जा सकती—और कहना न होगा कि डॉ तिवारी का निष्कर्ष महोबा-समय की किसी प्राचीन प्रति पर आधारित नहीं है। रूप-रचना और ध्वनि-विचार की दृष्टि से महोबा-समय की हस्तप्रति की भाषा रासो के सम्पूर्ण वैशिष्ट्य को आत्मसात् किये हुए है, यह तथ्य किसी प्रकार झुठलाया नहीं जा सकता।

विदेशी शब्द :—

सम्पूर्ण महोबा-समय की विवेच्य हस्तलिखित प्रति में अरबी, फारसी तथा तुर्की के कुल मिलाकर सत्ताईस विदेशी शब्द तथा उनके विविध रूप पाए गए हैं--मकसूद,[६८] सलाम, जेर, जागीरी, कुमख, पातिसाहि, फौज, चुगल, हजूर, निशान, हलकार[६९] तेगी, हलाल, निवाजिव,[७०] माफ, गुमानी, सौगाइत,[७१] नजर,[७२] जुवान,[७३] कासिद, मिजमानी, नगारी,[७४] हवेली, दरवाजे, कैद, तोपि,[७५] और हजार। डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी ने महोबा समय के सभासंस्करण में उपलब्ध ३६ विदेशी शब्दों का उल्लेख किया है।[७५] जिनमें से चुगल, जुवान हलकान और हल्लाल-इन चार शब्दों की पुनरुक्ति हुई है। शेष २६ शब्दो मे से आठ शब्द-बंदूक,[७७] दखल, [७८] खावन्द,[७९] मस्त,[८०] बस्ती, जोरवान, प्यादे, और हाल महोबा खंड की विवेच्य प्रति में नहीं मिलते। हल्लाल शब्द "लौनु हल्लाल"[८१] तथा मसलती शब्द "कर मसलति" के अर्थ-संदर्भ में प्रयुक्त हुए हैं। लगभग सात शब्दों का उल्लेख डॉ० त्रिवेदी नहीं कर पाए हैं, जिनका प्रयोग सभा संस्करण के महोबा समय में हुआ है, वे है—सलाम, पातिसाहि, फौज, हुजूर, निशान, तेग, और हज्जार। इसप्रकार, निष्कर्षतः सभाप्रति की अपेक्षा विवेच्य प्रति में विदेशी शब्द कम मात्रा में प्रयुक्त हुए हैं। पृथ्वीराज रासो के बृहत् संस्करण में लगभग साढ़े चार सौ विदेशी शब्द पाए गये है,[८२] जिनकी तुलना में महोबा समय के उक्त २७ शब्दों को संख्या अधिक नहीं कही जा सकती। रासो के लघुतम संस्करणो मे भी विदेशी शब्दों की संख्या कम नहीं है,[८३] अकेले कनवज्ज समय में ही लगभग ५० विदेशी शब्द पाए गये हैं।[८४] महोबा समय में प्रयुक्त विदेशी शब्द, जिन्हें हिन्दी की अपनी उच्चारण-पद्धति के अनुसार तद्भव रूप में अपनाया गया है, रासो के प्राय: सभी छोटे-बडे संस्करणों में व्यवहृत हुए है। अतः विदेशी शब्दों के प्रयोग के आधार पर महोबा समय को रासो से भिन्न प्रकृति की रचना सिद्ध नहीं किया जा सकता।

महोबा समय बनाम परमाल रासो :—

महोबा-समय की विवेच्य प्रति के परिचय-संदर्भ में यह स्पष्ट करने का प्रयास किया गया है कि अनेक दृष्टियों से वह पृथ्वीराज रासो का ही एक भाग या समय सिद्ध होता है, तथा किसी भी प्रकार उसे अन्यथा सिद्ध नहीं किया जा सकता। एक स्वतंत्र और निरपेक्ष कृति के लिए जिन प्रारंभिक और आधारभूत तत्वों या उल्लेखों को उपस्थिति किसी प्राचीन

रचना में अपरिहार्य मानी जाती है, उनके प्रभाव से महोवा समय सर्वथा असपृक्त है। यही नहीं, पृथ्वीराज रासो के पूर्वापर संबंधों का आद्यन्त निर्वाह उसमें हुआ है। यह भी संकेत किया जा चुका है कि रासो के संदर्भ में महोबा समय की स्वतंत्र अथवा खंड स्थिति के प्रश्न पर, रासो के अध्येता किस प्रकार के आधार-हीन, असंबद्ध और अनिर्णीत विचार रखते हैं। निश्चय ही महोबा समय की उपलब्ध प्रतियों के द्विविध स्वरूप ने इस विवाद को बल प्रदान किया है, अतः आवश्यक है कि रासो-संबद्ध महोवासमय और स्वतंत्र महोबा खंड अथवा आल्ह खंड की स्थिति का स्पष्टीकरण किया जाय।

परमाल रासो के नाम से प्रख्यात महोबा खंड वस्तुतः जगनिक-कृत आल्ह-खंड ही है, जो लोक-परम्परा में आल्हा के नाम से विख्यात है और लिखित रूप में अब तक अप्राप्य समझा गया है।[८५] आल्हा लोक-गाथा के लिये आल्हा-ऊदल, आल्ह खंड, परमाला (पवांरा)[८६] तथा 'महोवे की लड़ाई' शब्द-रूप आज भी बुन्देलखंड में प्रचलित है। आश्चर्य नहीं, यदि आल्हखंड के लिए महोबाखंड शब्द का प्रयोग प्राचीन प्रतियों में हुआ हो। 'खंड' और 'समय' शब्द-प्रयोगों पर भी ध्यान देने की आवश्यकता है। परमाल रासो की प्राचीन प्रतियों का महोबा-खंड के नाम से संबोधित किया गया है[८७] और 'महोबा समय' के नाम से उपलब्ध प्रतियाँ[८८] पृथ्वीराज रासो की समय-संयोजना की ओर इंगित करती हैं। खंड के नाम से प्रख्यात रचनाएं तो स्वतंत्र हो सकती हैं, परन्तु 'समय' नामधारी स्वतंत्र रचना-परम्परा प्राचीन साहित्य में परिलक्षित नहीं होती।

परमाल रासो (महोबा खंड) के विद्वान् संपादक आचार्य श्यामसुंदर दास ने ठीक ही कहा है कि 'वास्तव में यह पृथ्वीराज रासो नहीं है,—यह एक स्वतंत्र ग्रंथ है—जिसमें आल्हा-ऊदल की जीवनी सविस्तार दी गई है। मेरा अनुमान है कि किसी बुन्देलखंडी कवि ने इस ग्रथ की रचना की है। उसने इस ग्रन्थ के लिखने में आधार पृथ्वीराजरासो को माना हो और संभव है कि घटनाओं का विस्तारपूर्वक वर्णन किवदंतियों के आधार पर किया हो।'[८९] विद्वान् संपादक के उक्त मंतव्य से मैं पूरी तरह सहमत हूँ। परमाल रासो, जिसे मैं आल्हखड कहना चाहूँगा, रासो-शैली की एक स्वतंत्र वीरगाथा-कालीन काव्यकृति है जिसमें चंदेल शासक परमर्दिदेव और उनके दो प्रधान सामंतों—आल्हा तथा ऊदल के यश और पराक्रम का वर्णन है। आल्हा-ऊदल के संपूर्ण जीवन की झांकी तथा उनसे संबद्ध घटनाओं का चित्रण इस कृति में हुआ है। ग्रन्थारम्भ में देवताओं की वंदना हुई है तथा दो सर्गों में चन्द्रवंश की उत्पत्ति और उसका पूर्व-इतिहास वर्णित है। प्राचीन संवाद-शैली के आधार पर कथा के मूल-सूत्रों का सश्लिष्ट संयोजन हुआ है। इस प्रकार कथा-योजना की दृष्टि से एक स्वतंत्र काव्य-कृति की सभी आवश्यक शर्तों का विधिवत् पालन परमाल रासो (आल्हखंड) में देखा जा सकता है। ३६ खडों में विभक्त इस वृहदाकार रचना की कुल छंद संख्या ५२१५ है, जो पृथ्वीराज रासो के महोबा समय से छह गुनी अधिक है। महोबा समय के पिछले विवेचन के आधार पर अब यह निष्कर्ष सहज ही ग्रहण किया जा सकता है कि आकारगत भेद के साथ ही कथावस्तु, चरित्र-चित्रण संवाद-संयोजन तथा उद्देश्य की दृष्टि से भी रासो-संबद्ध महोबा समय परमाल रासो (आल्हखंड) से किसी प्रकार मेल नहीं खाता।

महोबा-समय को प्रक्षेप और परमाल रासो को 'प्रक्षेप का प्रक्षेप' मानने वाले डॉ० माता प्रसाद गुप्त के इस तर्क पर अभी हमें विचार करना शेष है कि रासो (सभा संस्करण) के अंत में प्रकाशित 'महोबा खंड' का यह (परमाल रासो) परिवर्धित रूपान्तर मात्र है, क्योंकि 'पूर्ववर्ती की लगभग समस्त पंक्तियाँ कुछ मिलाई हुई पंक्तियों के बीच इसमें भी मिल जाती है।[९०] आचार्य श्यामसुन्दर दास का यह कथन भी दृष्टव्य है कि परमाल रासो का नाम उपलब्ध हस्त-प्रति में' पृथ्वीराज रासो दिया हुआ है और कर्त्ता का नाम चंदवरदायी।[९१] विद्वान् संपादकों के उक्त मंतव्य पर विचार करने के पूर्व यह कथन समीचीन होगा कि महोबा समय से परमाल रासो की छंद-संख्या छह गुनी अधिक होने के कारण यदि महोबा समय की 'लगभग समस्त पंक्तियाँ' परमाल रासो में मिलती भी हैं, तो परमाल रासो की शेष पाँचगुनी अधिक पंक्तियों को 'कुछ मिलाई हुई' कैसे कहा जा सकता है ? सम्पूर्ण महोबा समय में लगभग ६०० छंद है, जबकि ३६ खंडों में लिपिबद्ध परमाल रासो के अकेले 'जयचंद मिलाप' शीर्षक दशम-खंड में ही छंदों की संख्या ८१५ है। पुनः, आचार्य श्यामसुन्दर दास ने भी यह स्वीकार किया है कि पृथ्वीराज रासो के नाम से जो ग्रंथ ६ खंडों में काशी नागरी प्रचारिणी सभा ने प्रकाशित किया है, उसमे और इसमें (परमाल रासो) आकाश-पाताल का अंतर है।[९२] यह एक मनोरंजक और सहज ही बोध-गम्य तथ्य है कि एक ओर जहाँ महोवा समय से परमाल रासो का आधार छह गुना अधिक बड़ा होने पर भी डॉ० गुप्त उसे 'प्रक्षेप का प्रक्षेप' सिद्ध करना चाहते हैं, वहाँ दूसरी ओर दोनों रचनाओं में समान छदों की उपस्थिति के साथ ही कृति और कृतिकार की अभिन्न संस्थिति की सूचना होने पर भी आचार्य श्यामसुन्दर दास परमाल रासो को पृथ्वीराज रासो से भिन्न रचना स्वीकार करते हैं।[९३] एक ही आधारभूमि पर स्थापित दो विरोधी निष्कर्ष निश्चय ही कुतूहलजनक है। वस्तुतः रासो-संबद्ध महोबा समय और आल्हखंड (परमाल रासो) के पारस्परिक संबंध-सूत्रों की भ्रमपूर्ण व्याख्या ही इन आधारहीन काल्पनिक निष्कर्षों की जननी रही है।

हमें स्मरण रखना होगा कि आल्हखंड (परमाल रासो अथवा महोबा खंड) का लेखक जगनिक परमर्दिदेव का कवि-मित्र, योद्धा और प्रमुख सलाहकार था। यही स्थिति पृथ्वीराज के सम्मुख चन्दवरदाई की थी।[९४] दोनों का कार्य-क्षेत्र भी लगभग समान था। रासो-शैली पर चन्द ने पृथ्वीराज रासो तथा जगनिक ने लोक भाषा में आल्हखंड और संस्कृत में पृथ्वीराज विजय महाकाव्य की रचना की थी।[९५] चन्दवरदाई और जगनिक मित्र तथा गुरु-भाई थे। इस तथ्य की पुष्टि पृथ्वीराज विजय,[९६] पृथ्वीराज रासो तथा आल्हखंड के पारस्परिक सूत्रों से होती है। रासोकार ने 'विजय' और उसके लेखक जगनिक के प्रति अपनी अभिज्ञता प्रकट की है।[९७] इधर जगनिक द्वारा भी रासो-कार के कार्य के की पर्याप्त अभ्यर्थना और प्रशंसा हुई है।[९८] यही नहीं, महोबा-समय और आल्हखंड मे जिन गुरु रामदेव की चर्चा आई है, वे चन्द[९९] और जगनिक[१००] दोनों के गुरु जान पड़ते हैं। पृथ्वीराज[१०१] और आल्हा[१०२] दोनो विरोधी व्यक्ति गुरु रामदेव को यथोचित सम्मान देते हुए प्रतीत होते है।[१०३] जगनिक और चन्द के उपर्युक्त परिचय-संदर्भ में यह स्वाभाविक ही है कि वे एक दूसरे के कृतित्व से परिचित और प्रभावित रहे हों। यही नहीं, अनेक स्थलो

पर वे एक दूसरे के अनुपूरक और प्रमशक रहे हैं[104] पारस्परिक प्रभाव और तालमेल की यह स्थिति महोब खण्ड (आल्ह खण्ड) और महोबा समय पृथ्वीराज रासो) में अधिक स्प ट दिखाई देती है क्योंकि युद्ध सम्ब धी दोनों के कथा सूत्र प्राय समान हैं यद्यपि दोनों ने अपने अपने आश्रयदाताओं के नायक व के भूमिका पर प्रतिष्ठित किया है महोबा युद्ध प्रसग को छोड़कर आल्ह खण्ड (परमाल रासो) की कथा-वस्तु किसी भी प्रकार रासो से मेल नहीं खाती और उसकी संगति आल्हा लोक-गाथा में बैठती है,[105] यद्यपि भाषा शैली और सम्पूर्ण रचना-विधान पृथ्वीराज रासो का ही अनुसरण करता चला है। ग्रन्थारम्भ में ही रासोकार का आभार महोबा खण्ड के लेखक ने स्वीकार किया है।[106]

दुर्भाग्यवश महोबा खण्ड (आल्ह खण्ड) की उपलब्ध प्रतियाँ[107] अधिक प्राचीन नहीं है, अतः ८०० वर्ष के अन्तराल में यदि उसके सहवर्ती महोबा समय (पृथ्वीराज रासो) की अधिकांश पंक्तियाँ उसमें मिल गई हैं और भ्रमवश उसे चन्द कृत रासो समझा गया है तो यह स्वाभाविक ही है। यह उल्लेख अप्रासंगिक न होगा कि चन्द और जगनिक के मित्र कवि जल्लहन के लिखे हुए अनेक छंद पृथ्वीराज रासो में आज से लगभग ५०० वर्ष पूर्व ही मिल चुके थे,[108] जिन्होंने आज जल्लहन के अस्तित्व को ही संदेहास्पद स्थिति में डाल दिया है। रासो की इस 'पाचक' प्रवृत्ति को ध्यान में रखते हुए आज आवश्यकता इस बात की है कि आल्ह खण्ड का प्राचीन रूप खोज निकाला जाए, तभी हम महोबा समय और महोबा खण्ड के नाम से अब तक बट्टे-खाते में पड़ी आई हुई रचनाओं के साथ न्याय कर सकेंगे और तभी रासो की अनेक समस्याओं के समाधान का मार्ग अधिक प्रशस्त हो सकेगा।

परिशिष्ट : संग्रह भाग

(क) संदर्भ-सूचना और वार्तालाप : ग्रन्थारंभ :—

श्री गणेशायन्मः श्री गुरुभ्योन्मः श्री परम गुरुभ्योन्मः

श्री सरस्वतीभ्योन्मः। अथा प्रथीराज रायसौ लिख्यते।

दोहा :

कहै छंद गुन चंद पढि कोधउ दंगल सोय।
चाउवान चंदेल कुल कंदल उपज न होय ॥१॥
ग्यारा सें चालीस इक जुद्ध अतुल भर होइ।
कातिक सुदि बुधि त्रोदसी संम्हर संम्हर लोह ॥२॥
किते दिवस बीते जहां आनंद उमग उछाह।
सुवा वचन सुनकै खबर रिख छत्री अमराह ॥३॥
आठ सहस असिवार सजि परस्थान नृप कीन।
पूरब दिस को गमनु किय सुवा वचन सुनि दीन ॥४॥
समदि सिरिधरि गढ़ परन नृप पकर साहि लिय संग।
चलि बहीर आही महुव बाढिवि रंग दुहु अंग ॥५॥

(ख) युद्धारम्भ और परमाल की मंत्रणा ग्रंथ का मध्य भाग

दोहा :—नौमी तिथ सुक्रा दिवस, चढ़े सकल सज सूर।
होय कोस अंतरु पर्‌यो, कर मुकाम वलपूर॥

छप्पय :—कर मसलत परिमाल
आल ऊदल ढिग वुल्लिव।
अरु कायथ कल्यान
धर्मधर मोहित मिल्लिव।
वोलिव जगनक भाट
वोलि लाखन कमधुज्जह।
वोलिव तालन तुरक
वोलियौ भूपति मज्जह।
रानी सुवोल परदौर लीय
देवलि ढिगां बिचारियव।
परिमाल कहैं सामंत हौं
मत्त सुमत्त उचारियव॥

चौपही :— वुल्लिव भामा सहज सुजानं।
राजा आलन मत्त सुमानं॥
धावर काजै ढिग बैठारौ।
पाछें जंग मत्त उचारौ॥
राजा उठ भीतर कौ आए।
धावर ढिग आल बैठाए॥
रानी मल्लिनदे ढिग वुल्लिय।
पाछे वाति मते की खुल्लिय॥
तेज पिथौरा कों अति कहिए।
तासौं युद्ध किसी विधि ढहिए।
हारै नगर महोवौं छूटें।
डंड दयैं तैं अपजसे कूटै॥
फिर देवलिदे वुल्लिय वानीय।
श्रवन सुनौं राजा अर रानीय॥
नीकौं होय सु करौं विचारह।
परगह वोलि मतौ सु उचारह॥
सुनियौ मात आल पै भाखौ।
रामाईन भारथ किय साखी॥
स्वाम सांकरैं छाडेंन कहैं।
सब सूर अे ते नृप सहैं

अपनों स्याम साकरें छाड़
आपुन आय फेर घर माड़े ॥
पवन नीर जौलों अक परहीं।
कहो व्यास साखयौ धरिहीं ॥
स्वाहि थाहि परलोक निहारै।
अपनो अंग जूझ सो टारे ॥
जासों जार जात जो कहिए।
असल बीज रजपूतन लहिए ॥
खुया हिमारैं आपुन मारै।
छत्री धरम सीस पर धारैं ॥
माया घर को दूरहि खैचें।
वे रन सूरज मंडिल बेधें ॥
मोह आस राज की भावैं।
बेटा कछू दिया नहि आवैं ॥
वे जीवंत सत्त कहि नारीय।
पारवती को अंस निहारिय ॥
बोलौ आल सुनौ हो माता।
कलयुग माझ रखौं अघवाता ॥
काल फौंज पीथल की खंडौं।
सामंथन के जुथ्थ विहंडौं ॥
मैं कुल काज चढ़ाऊ पानी।
भुव मंडिल में सबही जानी ॥
ईंदल की रखवारी कहिए।
देवलदे की लाज निबहिए ॥
मलनादे यम बोली बानी।
आलन सुनौ हमारी बानी ॥
सामंथ सूर विषम अति सुनीय।
राखो देस दंड दे दुनीयें ॥
ऊदल बैन समक सुन कही।
पहिलें ऐसी काहे नहीं लही ॥
घाइल मारत हम बरजानें।
अब क्यौं माता भऐ सियानें ॥

दोहा — चार वार विनती करी,
मानो नहीं लगार।
अब क्यों राजा समिजियो

लख सामंथन भार ॥
तुम आगें परमालदे,
मरहैं दोन्यौं भाइ ।
आजु वरौं सुर अक्षरी,
राज चंदेलन जाइ ॥
होनहार को मैटहैं,
कहि देवलदे सुद्ध ।
लौनु सीस चंदेल कौं,
पूत उजागैं दुद्ध ॥
मसलत कर बाहर कडे,
ऊदल आल नरेस ।
उत स्योपति पुकारियौं,
चौडा भार्यौं देस ॥
जारे गाउ उजार कै,
लूटी रिधि अचेत ।
थौरौ लरौ चंदेल तुम
थौरौ जोरौं हेत ॥
उठे आल बरजे नृपति
आज सनीचर बार ।
काल करौ चहुवान सौं
चौरौं जंग विचार ॥
जा धरिती कौं धाइकें
धुवा देखि नर सोइ ।
कहै आल परमाल सौं
बढौ नर्क घर होइ ॥
जा धरती कौ खाय कै
धुवा जु देखौ सोइ ।
कहै आल परमाल सौं
छत्री धर्मु न होइ ॥
स्याइविको देखौ बुरी
अंग रखावन सूर ।
कहै आल तिन नरन कौ
दीजे नर्क जरूर ॥
स्याइदि कौं घर ताक कै
ईंडी रखहि कराहि

कहँ आल तिन नरन कौ
गहिरे नरक पराहि ॥
बिगरी देखो नृपत कौ
ब्याकर कसक न होइ ।
साठ सहस लग नरक में
भ्रमत फिरैं नर सोइ ॥
चेरी सौं हासी करै
ब्यार धनी के शुद्र ।
कहँ आल तिन नरन कौं
कीजे स्वान प्रसिद्ध ॥

चौपाई :— एतो में बिनती उच्चारी ।
अबलग मैं यहा सबै समारी ॥
काल फौज पीथल की खंडौं ।
सामंतन के जुथ्थ विहंडौं ॥

दोहा :— आल कहो सबही सुनो,
प्रन की मन की बात ।
सूरज मंडल बेधिहैं,
ऐ छत्री साक्षात ॥
राजन आगें पैज कर,
कही बनाफर सोहि ।
प्रात करो चहुवान सौं,
जंग विरुद्ध न होहि ॥
सबही कौं नृप सीख दै,
गैर महल तब होहि ।
रानी सौ मसलत करैं,
मन धरि चिंता सोहि ॥

(ग) आल्हा का रोष और प्रत्याक्रमण की तैयारी : ग्रंथ का उत्तरार्द्ध :—

छन्द भुजंगी :—

परौं ऊबलं खेत सो आल जानौं, कियौ क्रोध अंगं रनं मर्न ठानौं ।
लियौ बीर-हथ्थं बुल्यौं बीर बानी, करी पैज मन मैं महा अंत जानी ।
धरैं हीस मुंडं गलं आजु मेरौं, उधारौं अबै नौलु परमाल तेरौं ।
इसे बोल आल्हन सबकौं सुनाए, धरैं स्वास धर्मं समर मद्ध आए ।
बजाए बुहँ बीर बाबै गरिष्ट, चलाए चमुके चली बाधि थट्ट

करैं खंड खंडे भसुंडे न धारैं, पिले बीर जोधा करी कुंभ फारैं।
भभक्कै भसुंडे न तुंडें न बरक्षो, लगै हीक बारं परैं बार तरक्षो।
सरद्द घटा जोम गाजंत गाजं, लरैं सूर साहामैं डरैं कूर भाजं।
घटा सैन बंधी दुहू बीर धाऐ, मनौ पुव्व पक्षाह घन उमड़ आऐ।

(ग्र) युद्धोपरान्त : ग्रन्थ समापन

छंद पद्धरी : —

सब सुभट सूर रन परि अचेत, भय विषम जुद्ध रत्त श्रोत खेत।
वरदाह चंद गुर रामदेव, पढ़ु मंत्र सजीवन सर्व भेव।
जागे सु सूर सांवंत सूर, दलि मलिय संत झलिमलिय नूर।
करि कूंच नृपति दिल्ली दिसान, पज्जून बोल हजूर आन।
तुम रहौ महोबै सुभट थान, घर सौंप भार हय गय प्रवान।

दोहा : — दियौ भार पज्जून कौं राख महोबै थान।
छाड चले परमाल कौं कीनौ नृपति प्रमान।
चहूआन दिल्लि नगर कीनौ नृपत प्रवेश।
घर घर मंगल महल हुव आयो जीत नरेस।
सजिम राइकुमार कौं बोल हजूर नरेस।
हय गय मनि मानिक बगस अधि आसन अधि देस।।

(ब) पुष्पिका :—

इती श्री कवि चंद विरचतायां पृथ्वीराज राइसौ
समवो महोबे कौ संपूर्ण समाप्तं।।

दोहा : — संवतु सति अष्ठातुदस ता ऊपर घटतार।
कातिक सुदि ऐकादसी बुद्ध नाम हैं वार।।
आदि वसहरी जानिये कैलगवा अस्थान।
श्री महाराइ सुजानऐ राजा जू तसु नाम।।
ता दिने लिखतं कसवा कैलगवा मद्धे ककरेड्य खुमानी
वानियौ जथा प्रति देखी तथा प्रति लिखो मम दोस

न दीयते। सुभं भवतु मंगल ददात्। श्री रामचन्द्रजूयात्मः। पोथी श्री महाराइ कोमार श्री लाला राजा जू की तस्स पठनार्थ श्री लला गिरवर सोचजू।

संदर्भ-संकेत

(१) जर्नल आफ एशियाटिक सोसाइटी आफ बंगाल, सन् १८८६, भाग १, पृष्ठ १०५। (२) पृथ्वीराज रासउ, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ ३ (३) संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, भूमिका भाग। (४) वही, भूमिका भाग। (५ पृथ्वीराज राउस, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ १, ६,

७। (६) उपलब्ध प्रतिलिपि की पुष्पिका, पृथ्वीराज रासउ के पृष्ठ ९ पर डॉ० माता प्रसाद गुप्त द्वारा उद्धृत। (७) पृथ्वीराज रासो, डॉ० बी० पी० शर्मा, भूमिका, पृष्ठ १२। (८) पृथ्वीराज रासो, सभा संस्करण, नागरी प्रचारिणी ग्रंथ माला, सन् १९१३, सिरीज नं० ४-२१, पृष्ठ २५०७। (९) "सम्भव है, यह कोई स्वतंत्र ग्रंथ रहा हो।" आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, भूमिका पृष्ठ, ३। (१०) परमाल रासो, आचार्य श्यामसुन्दर दास, भूमिका पृष्ठ, ३। (११) पृथ्वीराज रासउ, डॉ० माता प्रसाद गुप्त, पृष्ठ १७९। (१२) वही, पृष्ठ १७६। (१३) देखिये परिशिष्ट 'ख'। (१४) पृथ्वीराज रासउ, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, प्रस्तावना, पृष्ठ, ८।

(१५) संवतु सति अस्टासुदस ता ऊपर षटतार।
कातिक सुदि एकादसी, बुद्ध नाम है वार॥ पुष्पिका से उद्धृत।

(१६) परमाल रासो, भूमिका, पृष्ठ, १। (१७) देखिये परिशिष्ट 'च'। (१८) देखिये परिशिष्ट 'च' (१९) पृथ्वीराज रासउ, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ, १७०।

(२०) तारा सु अत्र कीनो उपाइ, दानो सुमंत्र संकर सहाइ।
महोबा समय, पत्र संख्या, ५२।

(२१) बली आल विद्या अनेगं उपाई, गुरं चंद आगै सु जानं न पाई।
महोबा समय, पत्र संख्या, ५६।

(२२) पृथ्वीराज रासउ, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ १७०। (२३) विस्तृत विवरण के लिये देखिये, "चंदेल और उनका राजत्व काल", पंडित केशवचन्द्र मिश्र। (२४) देखिये परिशिष्ट "क"।

(२५) ओं अंर्णोराजस्व पोत्रेण श्री सोमेश्वर सुनूना।
जेजाकभुक्ति देशोयं पृथ्वीराजेन लूनितः।

सवत् १२३६। आर्कियोलौजिकल सर्वे आफ इंडिया,, भाग २१, पृष्ठ १७३-१७४। (२६) परमाल रासो, पृष्ठ ७-८। (२७) 'तिथियों के विस्तृत विवरण के लिगे देखिए' पृथ्वीराज रासौ, भाग १, कविराज मोहनसिंह का संपादकीय वक्तव्य। (२८) डॉ० माताप्रसाद गुप्त कृत 'रासो साहित्य विमर्श' पृष्ठ १११ के आधार पर (२९) गौरीशाह-पृथ्वीराज युद्ध और पृथ्वीराज द्वारा सुल्तान को पकड़ने की सूचना महोबा समय में दी गयी है—

रजपुत बुट्ठ पच्चास रन लुट्ट जवर सैंना घनीय।
पट्ठान साठि हज्जार पर जीत चलिउ सम्हर धनीय।
सुलतान पकरि नृप लीए आपु। महोबा खंड, पत्र संख्या १।

(३०) कविराव मोहनसिंह, पृथ्वीराज रासउ, भाग १, संपादकीय, पृष्ठ १२।

(३१) पूरब दिस गढ़ गढ़न पति, समुद शिखर अति दंग।
वही, पद्मावती समय, पृष्ठ ३१४। तुलना कीजिये—
समदि सिखिर गढ़ परन नृप, पकर साहि लिय संग।
देखिये परिशिष्ट भाग क

पायस प्राय महोवे थान सो परमाल सुनी यह कान ।

महोबा समय, पत्र संख्

पकर बाग रजपूत सब, क्रोध जान परमाल ।

सिर लागे असिमान को पग दिये पसं पताल ।। वही, पत्र संख्या

समय में चौहान चंदेल युद्ध (संवत् ११४०) की तीन अन्य तिथियों का र

है .—

यैतवार एकदशी करैं जुद्ध को चाउ ।

सुक्रवार नौमी निवट संम्हर वीर नरिंद ।

नौमीं तिथि सुक्रा दिवस चढ़े सकल सज सूर ।

उल्लेख महोवा समय के सभा-संस्करण में भी मिलता है । (३५)

चल्यौ साज सम्हर धनी साथ्थ सूर अभंग,

लियैं अम्ग पनिहां सुधरि करन सिरावन जंग ।

म० स०, पत्र संख्या,

चलिन साजि सम्हरि धनिय, सामंत सूर सकज्ज,

क्यौर नयन चंदेल को लोविय सागर लज्ज ।

महोबा समय, सभा-संस्करण, छंद सं० ६३, पृ० २

कप कह्यौ परमाल नरेसह् आला आधौ-दीजै देसह् ।

लाख पेचास दर्व अर कन्या, दै चहुवान मिलाय सुसंध्या ।

महोवा समय, पत्र संख्या,

कहय चंद सुन राज आल अवतार लल्ल भय ।

महोवा समय, पत्र संख्या,

फिरियौ आल समर तजि सूरे, गोरिख ने मति दीनै पूरे ।

महोवा समय, पत्र सख्य

फिर राजन वरदाय सौं बानी उच्चर ऐम,

आल ऊव चंदेल सौं रोस गए सो केम । महोवा समय, पत्र संख्या,

में अन्यत्र चंद वरदायी का विस्तृत लेख उल्लेख हुआ है ।

सुन बानो देवल दे बुल्लिय, आला सुतन महोवै चल्लिय ।

पृथ्वीराज सौं युद्ध जु किज्जे स्वामधर्म को बहु जस लिज्जे ।

महोवा समय, पत्र संख्या,

) पृथ्वीराज रासउ, डॉ० माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ १६७ । (४४) रासो

माताप्रसाद गुप्त, पृष्ठ ६० । (४५) जयचंद का भतीजा । (४६) माहिल

साला तथा आल्हा-ऊदल का मामा था । उसकी कुमंत्रणा से ही आल

मकर कन्नोज जाना पड़ा था । बुन्देली लोक-वार्ता में माहिल मामा

४७) मलखान भी माहिल परिहार का भानजा और रिश्ते में आल्हा ऊ

८) जगनिक और वल्हन दोनों भाट कवि कहे गए हैं महोवा

आधार पर दोनों के स्वतंत्र अध्ययन की है। ४९) गुरु-रामदेव चंदवरदायी और जगनिक दोनों के गुरु कहे गये हैं तथा पृथ्वीराज और परमर्दिदेव दोनों उनको यथोचित् सम्मान देते हुए प्रतीत होते हैं। इस लेख में अन्यत्र गुरु राम देव की चर्चा आयी है। (५०) संक्षिप्त पृथ्वीराज रासौ, भूमिका, पृष्ठ १२। (५१) देखिये परिशिष्ट 'क'।

(५२) अनंगपाल सह व्यास कहि, रावल सो कहि चंद।
चाहुवान चंदेल को, वरनत छंद प्रबंध॥

परमाल रासो, अल्लहन संबोध खंड, पृष्ठ ३७।

(५३) परमाल रासो, प्रथम तथा तृतीय खंड। (५४) स्मरणीय है कि पृथ्वीराज रासो में महोबा समय का पूर्व कथा-रूप पद्मावती विवाह समय है, जिसमें कवि द्वारा शुक संवाद की विधिवत् योजना हुई है। इस प्रसंग की चर्चा निबंध में अन्यत्र हुई है। संदर्भ—कविराव मोहनसिंह द्वारा संपादित पृथ्वीराज रासौ, भाग १, समय १७, पृष्ठ ३२४-३६८। (५५) पृथ्वीराज रासउ, पृष्ठ २६। (५६) रासो-परंपरा के प्राचीन ग्रंथों में सर्वत्र यह प्रवृत्ति दिखाई नहीं देती। (५७) संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, भूमिका भाग। (५८) प्राचीन छंद ग्रंथों में इस छंद का नाम नहीं मिलता। अनुमान किया जाता है कि रासोकाल में यह व्यवहृत होता रहा है। 'चंदवरदायी और उनका काव्य' डॉ॰ विपिन बिहारी त्रिवेदी, पृष्ठ २१६। (५९) यह छंद रासो में अन्यत्र कहीं प्रयुक्त नहीं हुआ है। (६०) यह एक लोक प्रचलित छंद है, जिसका उल्लेख छंद-ग्रंथों में नहीं मिलता। युद्ध-स्थलों के चित्रण में इसका प्रयोग रासो में अन्यत्र भी हुआ है। (६१) संक्षिप्त पृथ्वीराज रासो, आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी, भूमिका (६२) स्टडीज इन दी ग्रेमर आफ़ चन्द वरदायी, जे॰ ए॰ एस॰ बी॰, जिल्द ४२, भाग, १, पृष्ठ १६५-१९१। (६३) डॉ॰ विपिन बिहारी त्रिवेदी, चंदवरदायी और उनका काव्य, पृष्ठ ३४४-३४६। (६४) 'इस ग्रन्थ की भाषा भी प्राचीन नहीं है, जैसी कि पृथ्वीराज रासो में अधिक अंश में प्रायः मिलती है, फिर शब्दों की बनावट तथा उनके रूप इस बात का स्पष्ट प्रमाण देते हैं कि यह अजमेर या दिल्ली में बना प्राचीन ग्रन्थ नहीं है। मेरा अनुमान है कि किसी बुन्देलखंडी कवि ने इस ग्रन्थ की रचना वैक्रमीय सत्रहवीं या अठारहवीं शताब्दी में की है।' आचार्य श्यामसुन्दर दास, परमाल रासो, भूमिका, पृष्ठ ३। 'संपूर्ण महोबा समय ८-१० छंदों को छोड़कर भाषा की परीक्षा के आधार पर काफी बाद की रचना प्रतीत होता है।' डॉ॰ विपिन बिहारी त्रिवेदी, चंदवरदायी और उनका काव्य, पृष्ठ ३४८। (६५) 'गार्सा द तासी, बीम्स, होर्नले, ग्रियर्सन, तेसीतोरी आदि यूरोपीय तथा डॉ॰ सुनीति कुमार चटर्जी, डॉ॰ धीरेन्द्र वर्मा, नरोत्तमदास स्वामी आदि भारतीय विद्वानों ने एक स्वर से रासो की भाषा को प्राचीन पश्चिमी हिंदी अथवा प्राचीन ब्रज भाषा कहा है।' पृथ्वीराज रासो की भाषा, डॉ॰ नामवरसिंह, पृष्ठ, ४४। (६६) डॉ॰ उदयनारायण तिवारी, वीर-काव्य, तृतीय संस्करण, पृष्ठ ६७। (६७) वही, पृष्ठ ९८। (६८) पाठान्तर-मगसुद (सभापति, छंद संख्या १६७)। (६९) पाठान्तर-हलकाल (सभापति, छंद संख्या ४०२)। (७०) पाठान्तर —निबाजिय (सभापति छंद १७)। (७१) पाठान्तर

सौगात (सभाप्रति, छंद १४१)। (७२) पाठान्तर—नजरि (सभाप्रति, छंद १४१। (७३) पाठान्तर—जवान (सभाप्रति, छंद २२५)। (७४) पाठान्तर—नकरौ (सभाप्रति, छंद ३४४)। (७५) पाठान्तर—तोप (सभाप्रति, छंद ५८५)। (७६) डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी, चंद वरदायी और उनका काव्य, पृष्ठ ३४४। (७७) मिलावन्त मुधी बदूंकै वरस्त्रो।—महोवा समय, पत्र संख्या ४। पाठान्तर—चलावन्त मूची बंदूकें बिरत्तो। (सभाप्रति छंद ४३)। (७८) आपनो देस सब दल बुलाहि।—महोवा समय, पत्र संख्या १५। पाठान्तर—आपनो देस सुदवल पाया। (सभाप्रति, छंद १७५)। (७९) ख्याइदिकी देखौ बुरी—महोवा समय, पत्र संख्या २४। पाठान्तर—खावन्द की देखै बुरी (सभाप्रति, छंद ३२४)। (८०) मगन परस्ती कौन—महोवा समय, पत्र संख्या ५४। पाठान्तर (गगन मस्त वे कौन—सभाप्रति, छंद ७९२)। (८१) करिवि लौनु हल्लाल—महोवा समय, पत्र संख्या, ११। पाठान्तर—करौ तौन हल्लाल सभाप्रति, छंद १३१। (८२) डॉ० विपिन बिहारी त्रिवेदी, चंदवरदायी और उनका काव्य, पृष्ठ ३१३-३४४। (८३) डॉ० माता प्रसाद गुप्त, पृथ्वीराज रासउ, पृष्ठ १६२-१६३। (८४) डॉ० नामवरसिंह, पृथ्वीराज रासौ की भाषा, पृष्ठ १४८-१४९। (८५) 'कुछ विद्वानों के मतानुसार प्रथमतः आल्हा महाकाव्य की रचना आल्हखंड अथवा परमाल रासो के रूप में हुई थी।' डॉ० सत्यव्रत सिन्हा, भोजपुरी लोक गाथा, पृष्ठ ५८। तथा-द्वारका प्रसाद शर्मा, आल्हा, इंडियन प्रेस, प्रथम संस्करण, उपक्रम पृ० १-२ (८६) आला गाँउ कै परमा ? ?—बुंदेली लोकोक्ति। श्रीकृष्णानंद गुप्त ने 'परमाला' को ही परमाल रासो माना है। उक्ति लोकोक्ति की व्याख्या पर उनकी टिप्पणी दृष्टव्य है—'परमाल का यश, परमाल रासो—जिसमें महोवा के चंदेलराज परमाल या परर्मादिदेव की कथा वर्णित है—मैं क्या-क्या कहूं ?'—'बुन्देली कहावत कोष'' से उद्धृत। (८७) परमाल रासो, भूमिका, पृष्ठ १। (८८, देखिये—परिशिष्ट 'ख' तथा महोवा समय के सभा संस्करण की पुष्पिका—'इति श्री कवि चंद विरचिते पृथ्वीराज रास के महोबा कौ समयौ सपूरणम्।'—पृथ्वीराज रासो, १९११, पृष्ठ २६१५। (८९) परमाल रासो, भूमिका पृ० ३-४। (९०) पृथ्वीराज रासउ, पृष्ठ १७६। (९१) परमाल रासौ भूमिका पृष्ठ १। (९२) वही, भूमिका पृष्ठ १-२। (९३) 'वास्तव में यह पृथ्वीराज रासो नहीं है,'''पृथ्वीराज रासो में दिये हुये वर्णन के आधार पर लिखा हुआ एक स्वतंत्र ग्रन्थ है।'—वही, भूमिका, पृष्ठ—३। (९४) चन्दवरदायी का विस्तृत उल्लेख इस निबंध में अन्यत्र हुआ है। (९५) जगनिक के जगनायक, जगन और जयानक रूप आल्ह खंड में मिलते है। वह कवि, कविराज, भाट तथा पंडित उपाधि से विभूषित हुआ है। (९६) पृथ्वीराज विजय महाकाव्य, गौरीशंकर हीराचन्द ओझा, संवत् १९९७। (९७) पृथ्वीराज रासउ, कयमास वध प्रकरण, छंद १९, पृष्ठ ५७। निर्देशित छंद में जगनिक को 'पंडित' कहा गया है। 'चन्द ने अपने रासो में जगनिक की प्रशंसा की है। आल्हा (इंडियन प्रेस संस्करण) उपक्रम पृ० १।

(९८) अनंगपाल सहं व्यासकहि, रावल सहं कहि चंद।
मम चंदेस बहुवान को कहत रारि बहु छंद॥

परमाल रासो, खंड २, छंद १९५ पृष्ठ ३६

टिप्पणी :—यह दोहा एक ओर जहाँ परमाल रासो के लेखक की चंद से पृथक् सत्ता घोषित करता है, वहीं दूसरी ओर 'चंदेल चाहुवान रारि' का चंद द्वारा रासो (कदाचित् महोबा समय) में उल्लेख होना भी सिद्ध करता है। लेखक।

(९९) वरदाह चंद गुरु रामदेव, पठु मंत्र सजीवन सर्व भेव।

महोबा समय, पत्र संख्या ५७। (१००) वाचनीक : राजा अरु सब सावंत जब जगनिक की अस्तुति करी तब चंद गुरु राम अस्तुत करत है।

दोहा— सत्य-सत्य गुरु चंद कहि लखि विक्रम रनचाय,

रुप्या भीम अरजुन सम धन्य धन्य कविराय।

परमाल रासो, खंड ३३, छंद १२६, पृष्ठ ४०३।

(१०१) पानि जोरि चहुवान कहि चन्द राम गुरु आनि।

परमाल रासो, अंतिम खण्ड, छंद ४८, पृष्ठ ५३७।

(१०२) तब आल्हन इक बुद्धि उपाइय चरन गहे गुरु के सुखदाइय।

चन्द राम गुरु देहु बपाइय पृथियराज पकर जन राइय।

वही, आल्ह वन गमन खण्ड, छंद ३, ६, पृष्ठ ४२२।

(१०३) युद्ध की अंतिम भूमिका में गुरु रामदेव मंत्र-बल द्वारा संभवतः दोनों पक्षों को शांत करना चाहते हैं। वे पक्षीय स्वार्थों से परे और ब्राह्मण पंडित होने के कारण सदैव अविजित हैं। इसीलिए, गोरखनाथ के माध्यमसे कवि की उक्ति है—'बुल्लव गोरख सुन रे भाई, बांम्हन भाट न जीते जाई।' महोबा समय, पत्रसंख्या, ४६।

(१०४) जगनिक कय विक्रम सुलखि बीजो ओरु न सुझिझ्,

चित्र भान चहुवान नृप, वरदायी कह बुझिझ्।

× × × ×

कटु बत्त कुटिल बुल्लिब न कहु स्वामि धर्म रहि थान धन।

कवि चंद कहय चहुवान सह यह जगनिक्क कराल रन।

वही, जगनिकराय वध खण्ड, छंद ४३-४८, पृष्ठ ४१४-१५.

(१०५) चाहुवान जस चंद कवि, किन्हिय ताहि समान।

वही, छंद ४, पृष्ठ १।

(१०६) तुलनामूलक अध्ययन के लिये द्रष्टव्य आल्हा, संपादक-द्वारकाप्रसाद शर्मा, इंडियन प्रेस संस्करण। (१०७) आचार्य श्यामसुन्दरदास ने केवल दो प्रतियों का निर्देश किया है, जिनका लिपिकाल संवत् १०४९ और संवत् १९२५ है। परमाल रासो, भूमिका, पृष्ठ १ (१०८) डॉ० माताप्रसाद गुप्त, रासो साहित्य विमर्श, पृष्ठ १११-११४ तथा १६६-१७२। परमर्दिदेव के भाट और प्रधान सामंत के रूप में कवि जल्लहन का उल्लेख महोबा-समय और आल्ह-खण्ड में भी आया है। लेखक।

कवि-मानस का विश्लेषण

● सत्यप्रकाश मिश्र

कवि का मानस अनेक संश्लिष्ट अनुभूतियों और रूपाकारों से युक्त होता है। उसका संबंध कवि के समग्र व्यक्तित्व से होता है। मानस का निर्माण और उसका विस्तार कवि की भाषा और उसके विषय के प्रति उन्मुखता का परिणाम होता है। कवि जब किसी विषय को देखता है और व्यक्ति जब किसी वस्तु को देखता है तो दोनों की धारणाओं में अंतर होता है। वस्तुतः कवि भी किसी वस्तु के प्रति उन्मुखता की स्थिति में सहज मानव होता है, परन्तु ग्रहण की स्थिति में व्यक्तित्व के अनुरूप ग्रहण करता है। उसकी भाषा कुछ सीमा तक अपने पूर्ववर्ती कवियों की अवधारणात्मक प्रकृति और रचना-पद्धति तथा समवर्ती कवियों के संरचनात्मक प्रयोगों से प्रक्षेपित होती है। उसका व्यक्तित्व एक सांस्कृतिक या मानवीय व्यक्तित्व होता है। किसी घटना या स्थिति को वह उसके परिवेश के साथ ही नहीं ग्रहण करता, बल्कि उसके मानवीय या संवेदनात्मक रूप के साथ ग्रहण करता है। उसे वह इतनी सूक्ष्मता प्रदान करता है कि उसकी संगति उसके मानस के साथ तो बैठती ही है, बल्कि अन्यो की मानसिक प्रतिक्रिया को अपने विस्तार में समेट लेती है। वह घटना के तथ्य से सम्पर्क स्थापित करने के बजाय घटना के सत्य से सम्पर्क स्थापित करता है। इस सम्पूर्ण दर्शन और ग्रहण की प्रक्रिया में कवि का मानस व्यापक भूमिका का कार्य करता है। और सम्पूर्ण प्रक्रिया के पूरे हो जाने पर मानस में एक नयी प्रतीति या अनुभूति जुड़ जाती है। वह अचेतन मानस का अंश बन जाती है। भूतकाल की चेतना के साथ ही कवि को युग की तीखी अनुभूति होती है। सम्पूर्ण अनुभूति या ज्ञान अपनी तीव्रता और सघनता के परिमाण से विभिन्न रूपों मे ग्रहण की जाती है। सामान्य व्यक्ति और कवि की इस प्रक्रिया के आधार पर उनके मानस का विश्लेषण कुछ सीमा तक सम्भव है। सामान्य व्यक्ति का ग्रहण जिन प्रतीकों में होता है उनको रूढ़ प्रतीक या सामान्य-भाषा कह सकते हैं। परन्तु कवि का ग्रहण प्रतीकों की विभिन्न पद्धतियों से होता है। ये प्रायः बिम्ब, रूपक, उपमा आदि होते हैं। संवेदना की तीव्रता और अनुभूति की सघनता से ये रूप ग्रहण होते हैं। ये बिम्ब, रूपक आदि मानस में उसी रूप में वर्तमान रहते हैं। अर्थात् कवि के मानस के निर्माण में इन प्रतीकमूलक संस्थानों का केन्द्रीय महत्व है। भारतीय ध्वनि-सिद्धान्त में स्फोट का यही महत्व है। मानस के अध्ययन मे कवि की ग्रहणशीलता का भी ज्ञान होता है ग्रहणशीलता का सीधा सम्बन्ध कवि के मानस

से होता है। ग्रहणशीलता के नियामक या निर्धारक-तत्वों में कवि का बौद्धिक विकास महत्व-पूर्ण होता है। कवि का अध्ययन और मनन, उसकी मान्यताएँ और दृष्टिकोण अर्थात् उसका समग्र मानसिक आयाम ग्रहणशीलता के साथ-ही-साथ उसकी सृजन-प्रक्रिया या सर्जनात्मकता पर भी प्रभाव डालते हैं। कवि विषय को ग्रहण करने के साथ ही साथ सृजन भी करता है। वह सृजन में सर्जित रूपाकारों को ग्रहण करता है। वह अनुभूत अर्थ को अपनाता है न कि अभिव्यक्त अर्थ को। उसके मानस की विशिष्टता ही ऐसी है।

कवि के व्यवहार के आधार पर उसके मानस का निर्धारण सम्भव है, परन्तु इससे प्रायः भ्रम की सम्भावना रहती है। व्यक्ति के व्यवहार को हम प्रायः कवि का व्यवहार मान लेते हैं। व्यक्ति रूप में दैनिक जीवन की समरसता को बनाए रखने के लिए वह रूढ़ियों, परम्पराओं को स्वीकृति दे सकता है। वह ऐसी बात भी कह सकता है जो उसकी कृतियो मे लिखित विचारों से असम्पृक्त हो। यह अंतर प्रायः प्राप्त होता है, यद्यपि यह अंतर महान् सर्जक का गुण नहीं है। फिर भी व्यवहार की क्रिया वस्तुतः कवि के प्रारम्भिक विकास की परम्परा का प्रतीक है, जो अचेतन रूप में अपने आप हो जाती हैं। वस्तुतः व्यक्ति की व्यापकताएँ या विशिष्टताएँ मानस की चिन्तन-प्रक्रिया और युग-बोध या युग की चिन्तन-पद्धति से भी सम्बद्ध होती हैं। कुछ कवियों की चिन्तन और मनन की पद्धति प्रायः रूढ़ हो जाती है। इसका कारण मानस में एक स्तरात्मक रूप का बन जाना है। सृजन के क्षणो में इन सबका व्यापक प्रभाव पड़ता है। मानस का निर्माण बहुत कुछ चूंकि भाषा के कारण होता है, इसलिए भाषा भी सर्जनात्मक स्तर पर व्यापक प्रभाव छोड़ती है। विद्वानो के विचार से चेतन-अचेतन कुछ नहीं है, परन्तु मानस के अध्ययन और विश्लेषण की दृष्टि से यह मान्यता वांछनीय है। फ्रायड का यह विभाजन बहुत कुछ वैसे ही है, जैसे भूत और वतमान। वस्तुतः फ्रायड का आधार मनोविश्लेषणशास्त्र है। मनोरोगियो की व्यापक चिकित्सा के आधार पर उसने ये निष्कर्ष निकाले हैं। इस विश्लेषण के मूल में है चेतन और इसके आधार पर ही अचेतन और अर्धचेतन की कल्पना हुई, यद्यपि इसका आधार मनुष्य की सुप्तावस्था एवं स्वप्नों की स्थितियाँ भी हैं।

कवि केवल यथार्थ की सापेक्षता में नहीं जीता, बल्कि वह आन्तरिक और बाह्य यथार्थ—इन दोनों की सापेक्षता में ही सक्रिय होता है। केवल प्रत्यक्ष वस्तु से ही प्रतिक्रिया नही करता, बल्कि अपने पूर्व-चिन्तन या कल्पनाओं के प्रति भी प्रतिक्रिया करता है। वह सम्भावनाओं में सामान्य जन की अपेक्षा ज्यादा विचरण करता है। इसप्रकार ध्वंस और निर्माण की व्यापक प्रक्रिया सर्जक या कवि की विशिष्टता मानी जाती है, जो मानस की व्यापक प्रकृति है। ध्वंस या निर्माण ये विशिष्ट क्रम नहीं, क्योंकि बिना ध्वंस की प्रकृति से निर्माण असंभव है। परन्तु यदि यह क्रम आगे बढ़ता रहा तो निर्माण असंभव हो जाता है। इसलिए कवि में प्रायः ध्वंस कम रहता है। उसमें विचार का तो ध्वंस हो सकता है; यद्यपि उसे भी ध्वंस न कहकर कारण रूप में अलक्ष्य परिवर्तन होना कह सकते हैं। परन्तु कल्पना का ध्वस कम ही होता है कल्पना में पारस्परिक नियोजन की विशिष्टता विद्यमान रहती है उसमें सयोजन की एक क्षमता होती है यद्यपि विचार और कल्पना में कोई सूक्ष्म अन्तर नहीं है

यदि कल्पना का संबंध 'इमेजिनेटिक' से लिया जाय तो कल्पना एक संरचनात्मक शक्ति है। विचार की शक्ति कल्पना पर ही आधारित होती है। कल्पना और विचार दोनों मानस में ही रूप ग्रहण करते है। कल्पना के ही कारण हम विचार करते हैं। भावों की तरंगें उठती है, प्रत्ययों की प्राप्ति होती है और फिर अन्त में यह सब अपनी प्रक्रिया की समाप्ति के बाद मानस के अचेतन स्तरों में पड़े रहते हैं, अर्थात् मानस के व्यापक अर्थ में अस्तित्व खो देते हैं। कवि का मानस इस प्रकार असंख्य प्रतीतियों और प्रत्ययों से युक्त होता है। मानस की कल्पना चूँकि प्रत्ययों के बिना प्रायः असंभव मानी गयी है। प्रत्ययों की स्थिति और प्रयोग शब्द के बिना असंभव हैं, इसलिए शायद विद्वानों का कथन है कि मानस की स्थिति भाषा के बगैर भी संभव नहीं—जहाँ तक मानव-जगत का संबंध है। परन्तु मानस जिस माध्यम से निर्मित होता है, उसमें बिम्बों, रूपकों का भी महत्वपूर्ण हाथ होता है। वह स्थिति चाहे जैसी हो, समस्या के स्तर या चुनौती को स्वीकार करने पर ही निर्माण की प्रक्रिया संभव है। कवि के मानस की भी यही स्थिति है। चेतना-स्तर पर उसके समान अनुभव की या कि अभिव्यक्ति की समस्या की चुनौती को स्वीकार करने पर कवि का समग्र मानस अचेतन और अवचेतन स्तरों पर परिचालित हो जाता है। व्यक्तित्व के व्यापक आधार पर चुनौती को स्वीकार करके समाधान खोजने का अर्थ होता है अपने व्यक्तित्व का निरीक्षण और तत्वों की उपलब्धि। इस क्रम में कवि अपने आप इस स्थिति में पहुँच जाता है कि उसे अवचेतन स्थिति ही कहा जा सकता है। ग्रभी लावेल ने इस अवचेतन-मानस के महत्व को स्वीकार करते हुए इसका विश्लेषण कवि की दृष्टि से किया है। उन्होंने अवचेतन मानस को ही आधार माना है। उनका कथन है कि इसके बिना कवि रचना कर ही नहीं सकता। उन्होंने मानस को एक प्रक्रिया से सम्बद्ध स्वीकार किया है।[1] मानस की प्रकृति पूर्व और वर्तमान का भेद मिटाकर नियोजन और व्यवस्था की है। व्यवस्थाबद्धता मानस की प्रकृति है। किसी भी रचना या कृति का मानस से तभी तक संबंध है जब तक वह कृति न होकर रचना की प्रक्रिया में है। इसलिए रचना-प्रक्रिया का विश्लेषण मानस का ही विश्लेषण कहा जा सकता हैं और अज्ञेय[2] के अनुसार तो है भी। मानस का संबंध रचना-प्रक्रिया से है। कवि के मानस में कुछ अन्य तत्वों के रूप भी मिलते है जिन्हें विश्लेषण की परिधि में लाना संभव नहीं है। कवि-मानस से तात्पर्य रचना-प्रक्रिया के समय कवि-मानस की स्थिति से है। परन्तु सामान्य प्रयोग में इसका अर्थ होता है उस व्यक्ति का मानस जो कवि है। सर्जक के मानस और सामान्य व्यक्ति के मानस में विद्वानों ने प्रायः अन्तर की खोज की है। विद्वानों के निष्कर्षों के आधार पर यह कहा जा सकता है कि सामान्य व्यक्ति और सर्जक का अन्तर प्रारम्भ से ही स्पष्ट हो जाता है। डॉ० मेकिनर और डॉ० मर्फी के तर्क-वितर्क से इस समस्या पर व्यापक प्रभाव पड़ता है। डॉ० मेकिनर के अनुसार विशिष्ट सर्जक अपने आचरण, विचार और मूल्यों के प्रति स्वतंत्र और अविश्वासी होते हैं। लेकिन विशिष्टता यह है कि वे उस वस्तु के प्रति तत्काल प्रतिक्रिया करते या कि कार्यरत होते है जो कि उन्हें प्रभावित करता है। जो कार्य, स्थान या वस्तु उन्हें प्रभावित नहीं करती उसमे उन्हें किंचित् मात्र भी रुचि नहीं होती। उनमें अहमन्यता विशेष होती है। इन्हीं कारणो के

आधार पर सर्जकों को झक्की या मनोविकार-ग्रस्त भी कहा गया है।[३] फ्रायड[४] की भी यही स्थिति है। वस्तुत: प्रतिक्रियात्मक शक्ति और विशिष्ट चिन्तन-क्रम के कारण असंख्य अनुभव, विचार शक्ति उनके अचेतन में वर्तमान रहते हैं। अचेतन मानस में निबद्ध होने का मतलब गतिहीन या स्थिर होना नहीं माना जा सकता। अचेतन की स्वयं एक प्रक्रिया है—मानस का तात्पर्य प्रक्रिया से है। अचेतन में दबे रहने का मतलब निष्क्रिय होना नहीं है। क्योंकि फ्रायड आदि के सिद्धान्तानुसार चेतन, अर्धचेतन और सचेतन मानस का एक प्रक्रियात्मक क्रम है। तीनों को अलग करके देखना भ्रमात्मक है। अचेतन मानस का तात्पर्य मानस की एक ऐसी अवस्था से है, जिसका हमें शारीरिक रूप से ज्ञान नहीं है या जिस प्रक्रिया का हमें बोध नहीं होता है। जैसे कभी-कभी हमें एकाएक ऐसा कुछ भान होने लगता है कि हमको कुछ अभूतपूर्व या अननुभूत प्राप्त हुआ है। यह अभूतपूर्व या अननुभूत हमारी सचेतन मानस-प्रक्रिया का परिणाम है। स्मृति के माध्यम से जो कुछ ग्रहण किया जाता है, वह अचेतन की उपलब्धि के रूप में है, परन्तु वह वही नहीं होता जिसे हम ग्रहण किये रहते हैं। कवि की स्थिति स्मृति के पूर्व और पर दोनों तत्वों में असामान्य होती है। सिसिल के ल्यूरस[५] जिसे आकलित या चुनी हुई संस्मृति कहते हैं वह अचेतन मानस की निर्मिति है। उसी रूप में जैसे कि प्रत्येक निर्मिति होती है। अचेतन मानस कवि के पूरे व्यक्तित्व का तत्वसंग्रह कहा जा सकता है। कवि की शिक्षा-दीक्षा, ग्रहण-अवग्रहण, मूल्य आदि की धारणा के व्यापक तत्व इसमें सन्निहित रहते हैं। परंतु इन तत्वों के संचयन और मानवीय या सांस्कृतिक तत्वों के उचिता-चित स्थितियों का सम्बन्ध युंग ने कवि के सामूहिक मानस से माना है। युंग महोदय की विशिष्टता यह है कि उनका यह मानस सार्वजनिक तथ्य न होकर केवल कवि से संबद्ध है। कवि विवेचन के संदर्भ में ही उन्होंने सामूहिक अचेतन का निर्धारण किया है।[६] वस्तुत: उन्होंने कवियों की विशिष्ट प्रकृति प्रयोगों के आधार पर ही यह निर्धारण किया है। युंग ने कवि-मानस का जो सूक्ष्म निरीक्षण किया उसका आधार काव्य, विशेषत: महाकाव्य, और फ्रायड के सिद्धान्त रहे हैं। फ्रायड ने मिथ को सम्पूर्ण राष्ट्र की फैंटेसी के रूप में स्वीकार किया है। फ्रायड का पूरा सिद्धान्त फैंटेसी पर आधारित है। उनका कथन है कि बचपन से ही मनुष्य का कार्य है आनन्द ग्रहण करना। आनन्द ग्रहण करने की इस प्रवृत्ति को वह छोड़ नहीं सकता, क्योंकि उसकी प्रकृति ही ऐसी है। बचपन में वह खेल खेलकर आनन्द ग्रहण करता है और परवर्ती काल में क्रमश: साधनों या माध्यमों का रूपान्तरण या स्थानांतरण कर देता है। खेल के स्थान पर फैंटेसियों का रूपान्तरण एक विस्तृत प्रक्रिया है। युवावस्था से ही प्रत्येक व्यक्ति फैन्टेसियों का निर्माण करने लगता है। फ्रायड साहित्य को इन्हीं फैंटेसियों की रूपात्मक अभिव्यक्ति मानता है।[७] असंतुष्ट इच्छाएँ इन फैंटेसियों की उत्पत्ति के कारण हैं। फैंटेसियाँ इच्छा-पूर्ति के रूप में व्युत्पन्न होकर असंतोषजनक वास्तविकता या वस्तुस्थितियों को संतुष्ट करती हैं। इनका संबंध सर्जक के वैयक्तिक जीवन से होता है और इनके मूल में काम-भावना विद्यमान रहती है। अहं को तुष्ट करने वाली मानसिक तरंगें या इच्छाएँ फ्रायड के अनुसार नायक से सम्बद्ध और अहं-संतुष्टि में विरोध उत्पन्न करने वाली विचारधारायें खल पात्र के रूप में रूपान्तरित होती हैं।[८] शिक्षित कवियों के लिए विचार करते हुए फ्रायड ने उनकी

ग्रहण और रचनात्मक-प्रकृति में संबंध भी इसीप्रकार निर्धारित किया है। वस्तुतः फायडीय विश्लेषण वैयक्तिक आग्रह पर आधारित है। फ्रायड की सम्पूर्ण फैन्टेसी अचेतन मानस की उपज है। युंग ने फ्रायड के इस सम्पूर्ण आधार पर आघात करते हुए फ्रायड के विश्लेषण को कवि से नहीं, बल्कि व्यक्ति रूप को कवि से सम्बद्ध माना है। युंग कवि को 'सामूहिक मानव' और मानस को सामूहिक-मानस की कृति मानता है।[९] युंग ने कलात्मक-सृजन के मानसिक और दार्शनिक दो भेद मानते हुए, दोनों के मानसिक सन्तुलन को व्याख्यायित करने की चेष्टा की है। मनोवैज्ञानिक स्तर में सचेतन मानस की क्रियात्मकता होती है जबकि दार्शनिक निर्माण में सामूहिक मानस की गतिशीलता। युंग ने श्रेष्ठ काव्य का सम्बन्ध सामूहिक अचेतन से मानते हुए मानवीय एवं सार्वभौम नियमों को महत्ता दी है। रूपों, सांस्कृतिक अभिव्यक्तियों, मूल-बिम्बों का सम्बन्ध युंग सामूहिक अचेतन से ही मानते है। सामूहिक अचेतन युग-युग से वंशबीज (जीन्स) के रूप में परिव्याप्त मानवीय अनुभूतियों, चित्रों और मिथकों से सम्बद्ध है। युंग ने इन्हें सृजन के कारण के रूप में स्वीकार किया है न कि कार्य रूप में। इन्हें उसने सावभौम और सार्वकालिकता का स्तर प्रदान करते हुए सृजन प्रक्रिया के व्यापक तत्वों से जोड़ा है।[१०]

कवि की कृति को उत्पत्ति के रूप में स्वीकार करके वेलरी ने पाठक वर्ग को क्रयभोक्ता और कीमत को मूल्य मानते हुए कुछ महत्वपूर्ण निष्कर्ष निकाला है।[११] उनका कथन है कि माँग और पूर्ति के आर्थिक नियम और मूल्य प्राप्ति या मूल्यांकन का प्रभाव-क्षेत्र या कि सिद्धान्त इस क्षेत्र में भी संभव हैं। कवि के मानस में इन आर्थिक और राजनीतिक नियमों का प्रभाव किसी-न-किसी रूप में पड़ता अवश्य है।[१२] उसके जीवन के अनुभव ही नहीं, उसके अध्ययन और साहित्यिक क्षमताएँ, उसके मानस को नियमित और नियंत्रित भी करती है। वेलरी के कथनों को कवि-मानस के विवेचन में ग्रहण करते हुए किसी काल-विशेष की कविताओं के परिप्रेक्ष में देखने से कुछ तथ्य और साफ़ हो जाते है। प्रत्येक काल-विशेष के कवियों की कविताओं में कुछ व्यापक तत्व होते हैं, जिनमें सबसे व्यापक तत्व का संबंध 'माँग के नियम' और 'माँग की माल' की विशेषताओं से सम्बद्ध होता है। व्यापारिक क्षेत्र में किसी वस्तु की खपत पर ही उसकी माँग होती है और वस्तु की खपत का संबंध उसकी विशिष्टताओं से होता है। उत्पादक और उपभोक्ता के बीच इन्हीं विशिष्टताओं को लेकर मूल्यांकन के माध्यम से संबंध बना रहता है। और इनका निर्धारण भूत और वर्तमान सामग्री के गुण और विशिष्टता तथा मूल्यांकन की पद्धति से होता है, जिसे उत्पादक प्रायः ध्यान में रखता है। उत्पादक का ध्यान मूल्य पर अधिक रहता है, और इसलिए उसे सम्पूर्ण आर्थिक-चक्र का ध्यान रखना पड़ता है। साहित्यकार का मानस भी मूल्य और वस्तु के गुण दोषों से प्रभावित हाता रहता है। चेतन और अचेतन दोनों स्तरों पर यह प्रभाव वांछनीय है। मानस की यह सहज स्थिति है कि वह निष्कर्षात्मक या लक्ष्यात्मक गतिवान होता है। कवि अपने युग के मूल्यों, रुचियों और प्रवृत्तियों से ही प्रभावित नहीं होता, बल्कि उस युग से भी, जिसे वह अपनी कल्पना के माध्यम से और अध्ययन के बल पर जानता है। उसमें उन कृतियों की महनीयता और गुणों की भी चेतनता रहती है जिन्हें युग-युग से मानव ने स्वीकृत

कर लिया है। और इस व्यापक ग्रहण और चिन्तन-मनन से उसका मानस एक दृष्टिकोण का विकास कर लेता है। इस विकसित दृष्टिकोण और मानसिक प्रक्रिया को कुछ गुणात्मक स्थिति होती है। कविता के लिए प्रथम प्रयास करने वाले या कविता करने की इच्छा रखने वाले तथा कविता में किसी विशिष्ट स्तर या महत्व को प्राप्त किए हुए कवियों के मानस की भी विभिन्न गतियाँ होती हैं। अभ्यास से कुछ साध्यता और कठिनाई दोनों पैदा होती हैं। इसलिए प्राथमिक और गौण स्थितियो में अंतर पड़ जाता है। लावेल महोदय ही नहीं, अन्य सर्जकों का भी यही सह-अनुभव है कि कविता चाहे वह चार पंक्तियों की हो या सौ की, न तो वह पूर्णरूपेण चेतन-क्रिया है और न अर्धचेतन या अचेतन। यह मात्र एक मानसिक निर्मिति है, जिसमें कवि को कुछ शब्द अर्धचेतन स्थितियों में प्राप्त होते है तो कुछ शब्दों को उसे सप्रयास खोजना पड़ता है।[13] विकास की प्रारम्भिक स्थितियों में प्रत्येक कला में कुछ निश्चित मूल्य तक पहुँचने या पाने के लिए—अस्तित्ववान होना या आत्मविकास होना ही मूल्य पाना है—कुछ आदर्श रूपों का निर्माण या कि स्वीकार करना होता है। यह मानस की प्राथमिक स्थिति है कि वह ऐसे आदर्श रूपों के मूल्यों और आदर्शों को उपस्थित करता है और कवि रचना करते समय प्रायः इनका ध्यान रखता है। परंतु जैसे-जैसे कवि का अभ्यास बढ़ता चलता है, उसका मानस स्वयं कवि के लिए एक रूढ़-प्रक्रिया का निर्माण करता चलता है, जिसमें कि सांस्कृतिक गुणों के साथ-साथ युगीन-मूल्यों की चेतना विद्यमान रहती है। युग-चिन्तन कवि-मानस को प्रायः प्रभावित करता है। और इन्हीं कारणों से मानस कुछ इस प्रकार का संश्लिष्ट रूप ग्रहण कर लेता है तथा ऐसी पद्धति का निर्माण कर लेता है। मानस की गतिशीलता की परिधि और केन्द्र प्रायः इतने रूढ़ हो जाते हे कि प्रत्येक सर्जक चाहते हुए भी उसके द्वारा विवश कर दिया जाता है। गेस्टाल्ट मनोवैज्ञानिकों का अध्ययन और चिन्तन इस दृष्टि से काफी महत्वपूर्ण है कि मानस प्रायः एक नियमित स्थिति का निर्माण कर लेता है, जैसे कि मानव आदतें।[14] मानस की आदत का निर्माण कवि की सर्जनशीलता का ह्रास नहीं कहा जा सकता परन्तु अवरोध या ठहराव अवश्य है। कवि का ठहराव से आगे बढ़ना बड़े व्यापक विकास का सूचक होता है। कविशिक्षा इस मानसिक ठहराव का समय में पूर्व ला देती है। वह मानस को अपने प्रभाव से अनुप्रेरित करके कुछ इसप्रकार का पथ निर्मित कर देती है कि मानसिक-चिन्तन घूम-फिरकर उसी धुरी पर घूमता है। परन्तु यदि कवि ने सांस्कृतिक-तत्वों या मान्यताओं को, जो प्रायः कविशिक्षा-ग्रंथों में सन्निहित रहती हैं, ग्रहण करते हुए भी अपने युगीन वैशिष्ट्य और मानसिक चिन्तन को नूतनता प्रदान किया है तो उस कवि का मानस कुछ दूसरे ही स्तर पर गतिमान होता है। हिन्दी-रीति-साहित्य में कई कवि इसी श्रेणी के हैं। व्यक्ति मानस युग-चिंतन और साहित्यिक स्थितियों से प्रायः प्रभावित होता है। कवि का मानस असंख्य अनुभूतियों को ग्रहण करते हुए भी अपने मानस के पूर्व-निर्धारित रचनाक्रम से प्रायः उन नवीन और अलौकिक अनुभूतियों को थोड़ा या बहुत प्राचीन बना देता है। इसका कारण उसके मानस में परिव्याप्त वे मूल्य और शब्द, उपमाएँ और रचनाक्रमों का विद्यमान होना है, जिससे वह अपने को मुक्त नहीं कर सका है। शास्त्रीय प्रयोगवादी और

कवियो का वैयक्तिक मानस के आधार पर उनके रचना के व्यापक तत्वों का

पराक्रम संभव है विद्रोह का भाव होना मानसिक स्थिति है और इसके चिह्न भी रचनाओं में परिलक्षित होते हैं रीति-काल के रीतिमुक्त कवि तथा वर्तमान हिन्दी कविता के कुछ नये कवियों ने इस ओर प्रयास अवश्य किया, परन्तु इसके विपरीत मानस से वे विवश हैं। वह उनके चिंतन को मोड़ दे देता है। अज्ञेय आदि की कृतियों के अध्ययन से ऐसा आभास मिलता है कि उनके मानस की परिधि निश्चित हो गयी है। जब इसप्रकार युग-मानस की परिधि का आभास हो तो निश्चित रूप से उस काल के साहित्य के रचना-तत्वों के व्यापक विश्लेषण के बाद सर्वमान्य नियमों की खोज संभव है और तभी कविशिक्षा को प्रश्रय मिलता है।

'कवि के मानस में सदैव लक्ष्यीभूत श्रोता वर्तमान रहता है' - हजारीप्रसाद द्विवेदी[१५] जी का यह कथन डब्ल्यू० एच० ऑडेन[१६] और वेलरी[१७] के इस कथन से अलग नहीं है कि कवि के मानस में साहित्य के समसामयिक मूल्यांकन के मापदण्डों या नियमों की अवस्थिति भी रहती है। कवि-व्यक्तित्व को निर्वैयक्तिक न करके उसको विराट बनाने की चेष्टा करता है। इसीलिए तो टी० एस० इलियट के निर्वैयक्तिक का अर्थ व्यक्तित्व का विराटत्व ग्रहण करना वांछनीय है। व्यक्तित्व के विराटत्व का संबंध मानस के व्यापकत्व से है। कवि-मानस के व्यापकत्व से तात्पर्य लोकमानस और उपार्जित-मानस के समग्र रूप से है। कवि में लोकमानस और उपार्जित मानस का होना वांछनीय है। लोकमानस में लोक कथायें, लोक-मान्यतायें और अन्य मिथिक रूपों की संहति रहती है। जबकि उपार्जित मानस का तात्पर्य ही है—व्यक्ति के प्रयास से प्राप्त तत्व। युंग का सामूहिक अचेतन लोकमानस का ही रूप है। डॉ० सत्येन्द्र[१८] की कल्पना का पूर्ण आधार युंग का सामूहिक अचेतन है। कवि मानस में लोक-तत्व और उपार्जित-तत्व परस्पर इतने संश्लिष्ट रूप में संग्रन्थित रहते हैं कि उनका विश्लेषण करके समझना प्रायः असंभव-सा हो जाता है। कवि सदैव इन तत्वों में नवीनता का संचार और व्यवस्था का क्रम उद्घाटित करता रहता है।

कवि-मानस कोई अपूर्व प्रत्यय नहीं है। बल्कि उसकी स्थिति वस्तु के रूप में न होकर अर्थ-वस्तु के रूप में है। मानस, चाहे वह कवि का हो और चाहे सामान्य व्यक्ति का, अपने रूप और प्रक्रिया में समान होता है। उसके व्याप्त होने की क्रिया समान है। अंतर कोटियों में हो सकता है। मानस से तात्पर्य है भावों, संवेदनों, अनुभवों आदि का विस्तृत आगार। इन सबके ही समग्र रूप को मानस कहते है। बुद्धि, मानस की एक महत्वपूर्ण कड़ी है, परन्तु वह मानस से सम्बद्ध नहीं। मानस कवि के सम्पूर्ण व्यक्तित्व का प्राण है या आत्मा है। मानस में कवि-शिक्षा के तत्व भी सन्निहित है या कि प्रत्येक मानस एक अंश में शिक्षित या रीतिबद्ध होता ही है। कवि किसी भी वस्तु को ग्रहण करते समय उसे रूपाकारों के रूप में या एक नियमित स्थिति के रूप में ग्रहण करते हैं। डॉ० एरेन जुग के अनुसार बोध की दो स्थितियाँ हैं।[१९] सतही बोध और गहरा बोध। उनके मतानुसार इन दोनों बोधों का सम्बन्ध मस्तिष्क के विभिन्न धरातलों या सतहों से है। गहरा बोध तो हमारे द्वारा ग्रहण की जाती हुई किसी वस्तु में कामुक अर्थों को उत्क्षिप्त करता है। जबकि सतही बोध इसके साथ ही साथ इसमें सौन्दर्यात्मक अर्थों को उत्क्षिप्त करके उसे एक सौन्दर्यात्मक अवयवी के रूप में ग्रहण करता है[२०] बाह्य संसार के किसी भी रूप को सौन्दर्यात्मक रूप में देखने की

इच्छा या चेष्टा इसी द्वितीय बोध का परिणाम है। यह सम्पूर्ण स्थिति मानस से सम्बद्ध है। अचेतन-मानस की कामुक प्रतीकीकरण की प्रक्रिया को एरेन जुग कला का मूल मानते है। हरबर्ट रीड इन्हीं मतों के आधार पर मनुष्य में रचनात्मक मनोवेगों को स्वीकार करते है। अर्थात् मानस के नाड़ी-संस्थानों में रूप-निर्माण करने या सुव्यवस्थित करने की प्रज्ञा होती है।[२१] मानस का सम्बन्ध प्रतीक निर्माण से है। मानस की मूलभूत प्रकृति है निर्माण। काव्य का सम्बन्ध भी प्रतीक निर्माण से है। कवि मानस में जब अनुभूत अर्थों की व्यापक श्रेणियाँ उद्भूत होती हैं तो मानस उन्हें प्रतीकबद्ध करने की चेष्टा करता है। भाषा इस क्रम मे महत्वपूर्ण कार्य करती है। इसप्रकार कवि-मानस संश्लिष्ट अनुभूतियों को प्रतीकबद्ध करते समय जटिलतर रूपों से गुजरता है। मानस में जब कवि अपने अनुभवो का संयोजन करता है तो प्राकृतिक स्थितियों और उसके उपार्जित मानस के बीच भयकर तनाव की स्थिति रहती है। इस तनाव के मध्य से ही कला का सृजन होता है। फीलर महोदय बोधात्मक ज्ञान एवं अनुभव और सौन्दर्यात्मक अनुभव में अन्तर्लीनता के व्यापक तत्व की खोज करते हुए दोनों की प्रामाणिक सहस्थिति कवि के मानस में आवश्यक मानते हैं।[२२]

कवि का मानस शब्दों का मानस या भावों और अनुभूतियों का संस्थान होता है। उसमें शब्द किसी विशिष्ट अर्थ के द्योतक न होकर किसी विशिष्ट अनुभूति को द्योतित करते है। कवि-मानस का भाषा की इस दृष्टि से भी अध्ययन करना आवश्यक है। भाषा हमारे मानस का कार्य और कारण दोनो है। जो कुछ हम ग्रहण करते हैं उसे शब्दो के माध्यम से, और जो कुछ सोचते हैं उसे भी शब्दों के माध्यम से। भाषा-दार्शनिकों का यह कथन सत्य प्रतीत होता है कि मनुष्य ने जन्म से भाषा का कुछ इसी प्रकार का प्रयोग किया है। सामान्य व्यवहार से लेकर चिन्तन के जटिल और संश्लिष्ट रूपों तक में भाषा का ही प्रयोग होता है। भाषा के ये रूप दो प्रकार के होते हैं। आन्तरिक और बाह्य। आन्तरिक भाषा हमारे मानस का ही रूप है। जिस भाषा में हम सोचते या समझते हैं वह भाषा है। नाम देने की प्रक्रिया मनुष्य की सहजात प्रक्रिया है, यद्यपि मूल नहीं। मानस वस्तु को नाम या रूप दो ही स्थितियों में ग्रहण और प्रकट कर सकता है। "नाम रूप दुई ईश उपाधि" मेरे विचार से तुलसी की इस पंक्ति का यही विशिष्ट अर्थ है। बिम्ब-प्रतीक आदि का सम्बन्ध इन्हीं स्थितियों से है। डोनोवन की धारणा है कि "हम प्रकृति के साहचर्य और तज्जन्य अनुभूतियों को तब तक नहीं ग्रहण कर पाते या तब तक हमारे मानस में अनुभूति उत्पन्न नही हो पाती, जब तक कि हमें उस प्रकृति में फैले हुए पशु-पक्षी, पेड़, लता आदि का नाम या रूप न मालूम हो।"[२३] भाव और अनुभव का सम्बन्ध शब्दों से ही है। भावों की अभिव्यक्ति के रूप में शब्दों का प्रयोग स्वयं इस बात का प्रतीक है कि भाव का अनुभव ही शब्द के माध्यम से है। टी० एस० इलियट का इस संबंध में मत है कि "शब्द भावों के अर्थ नही होते, लेकिन वे उनके लिए प्रयुक्त हो सकते है। उसका अर्थ दे सकते हैं। आह्वडिया के रूप में शब्द का प्रयोग वास्तविकता का विधेय है। या कि ऐसे क्रम में उसकी स्थिति का प्रतीक होना जो पूर्ण या अपूर्ण रूप में स्वयं वास्तविक रूप में समझा जाने लगता है लेकिन

प्रत्यय के रूप में यह वस्तुत भावों या विचारों का अतिक्रमण कर सकता है और कभी तो गुणात्मक रूप में असीम तक विस्तृत हो जाता है।[२४]

आइडिया की स्थिति भाषा के उच्चारण के पूर्व हो सकती है। भाषा, इलियट के अनुसार हमारे आइडिया का विकास नहीं, बल्कि यथार्थ का भी विकास है।[२५] कवि मानस के सन्दर्भ में इसे झुठलाया नहीं जा सकता कि वह आइडिया और यथार्थ का ही सान्द्र आन्तरिक रूप है। लगे हाथों प्रत्यय और आइडिया का अर्थ स्पष्ट कर देना भी आवश्यक है। मैं प्रत्यय उसे कहता हूँ, जिसे शब्द साक्षात् संकेतित करता है और आइडिया उसे, जिसे वास्तविकता के सन्दर्भ में शब्द संकेत करता है।[२६] वस्तुतः शब्द का प्रयोग दोनों अर्थों को ध्वनित करता है। शब्द प्रायः प्रत्यय का चिह्न या प्रतीक है। प्रत्यय ही ज्ञान का आधार है। प्रत्यय या धारणा ही केवल ज्ञान का आब्जेक्ट या लक्ष्य है। अनुभव के आधार तो नहीं परन्तु माध्यम और परिणति प्रत्यय ही है। प्रत्ययों का अखण्ड और अपरिमित विस्तार ही विश्व-मानस की अवस्थिति का कारण है। वह संसार, जिसे कवि देखता है, और वह संसार जिसे कवि उद्घाटित करता है, उसी रूप में भिन्न है – जिस रूप में कवि और व्यक्ति। परन्तु जिस संसार का वह अनुभव करता है वह यथार्थ है और जो है वह वास्तविक है। अनुभव करने में सत्य का व्यापक अंश निहित रहता है। अनुभव अपने आप में एक मूल्य माना जाता है। मूल्य इसलिए कि अनुभव का सम्बंध वास्तविकता से होता है और कवि के प्रमाण का द्योतक होता है। वह काल-निरपेक्ष होता है—क्षणों की गहराई में भी और क्षणों की निरंतरता में भी। वस्तु की स्थिति सत्यता और अनुभव-सापेक्ष स्थितियाँ हैं। कोई भी निर्णय या मूल्य अनुभव-सापेक्ष ही सत्य होता है, और यदि उस मूल्य की स्वीकृति सामान्य हो जाय तो इसका अर्थ उस अनुभव की प्रायोगिक सत्यता और व्यापक अखंडता से है। कोई भी निर्णय उस समय, जबकि हम उसे अनुभव करने की अपेक्षा या समझने की चेष्टा करते हैं, तो वह निर्णय सत्य न होकर उपयोगिता से जुड़ जाता है। इलियट के अनुसार अनुभव को समझने का तात्पर्य है—उसके प्रयोग का ज्ञान।[२७] इसलिए निर्णय के विषय में हम जो कुछ जानते हैं वह सत्य न होकर उपयोगिता से सम्बद्ध है। कवि-मानस में ये स्थितियाँ विभिन्न स्तरों की स्थितियाँ न होकर समग्र-मानस की स्थितियाँ हैं। कवि-मानस दूसरे कवियों के अनुभवों को समझने की चेष्टा भी करता है। स्वयं अपने अनुभवों को भी समझता जाता है। अनुभव को समझने का तात्पर्य उसके उपयोग को समझना है। कवि की दुनिया उसके अनुभवों की ही दुनिया होती है। बोध और अन्तर दृष्टि और मानस का अन्तर है। मानस के जिस स्तर से हम बोध प्राप्त करते हैं, उसका रूप तो प्रायः सामान्य होता है, परन्तु बोध के बाद अनुभव करना, और प्रत्यय में उसको आत्मसात् करना मानस के दूसरे स्तर का कार्य है। यह प्रक्रिया क्रमबद्ध होती है। परन्तु सब में नहीं। महसूस करने और अनुभव करने में अन्तर है। हम अनुभव को या अनुभव करने की प्रक्रिया को भी महसूस करते हैं। हम जिसे महसूस करते हैं वह कभी भी शब्दबद्ध या प्रतीकबद्ध नहीं हो पाती। प्रतीकबद्ध होने से तात्पर्य अनुभव करना तो नहीं कहा जा सकता परन्तु वह महसूस करना भी नहीं होता महसूस करना चेतन मानस की क्रिया है

और जिसकी वह क्रिया है वह उत्प्रेरक अवचेतन या अचेतन की। कभी चेतन की भी क्रिया चेतन-मानस द्वारा महसूस की जाती है। इसे न आत्मगत कहा जा सकता है न वस्तुगत। वास्तविक स्थिति के प्रत्याहरण से इसका सम्बन्ध होता है। कवि अर्थों को महसूस करता है। सृजन की इच्छा होना भी महसूस होने से सम्बद्ध है। अचेतन मानस में होने वाला कोई भी व्यापक परिवर्तन चेतन मानस द्वारा प्रायः महसूस किया जाता है। कविमानस अर्थ को महसूस भी करता है जबकि सामान्य व्यक्ति अभिव्यक्त। लावेल का यह कथन कि उन्हें ऐसा महसूस होता है कि शब्द उनके मानस मे प्रविष्ट कर रहे हैं, मानस की उस विशिष्टता का द्योतक है, जिसमें सम्पूर्ण कविता को भाषाबद्ध होने के पूर्व अनुभव किया जाता है। रचना करने के पूर्व और रचना के बाद तो महसूस किया ही जाता है। सृजन-प्रक्रिया में भी महसूस करने की स्थिति वर्तमान रहती है। कवि-मानस मात्र रचनात्मक आनन्द को ही महसूस नहीं करता बल्कि रचना से प्राप्त आनन्द को भी महसूस करता है। कवि के अस्तित्व का संबंध उसकी इसी अनुभूति और अनुभव से है। स्वतंत्र वास्तविकता हमारी अनुभूति है, जो बहुधा निरपेक्ष रूप में भी सक्रिय रहती है। संवेदन और बोध एक ही प्रक्रिया की दो स्थितियाँ हैं, जिन्हें अनुभव की भूमिकाओं के रूप में ग्रहण किया जा सकता है। कवि-मानस अनुभूति के इस पूरे चक्र को आत्मसात करता है या पूरा करता है। जबकि सामान्य व्यक्ति प्रक्रिया से नहीं, स्थितियों से गुजरता है।

कविशिक्षा के ग्रन्थ कविमानस पर क्या प्रभाव छोड़ते हे, मानस के विश्लेषण-क्रम मे यह भी विवेच्य है। कविशिक्षा के ग्रन्थ कवियो के लिये मार्ग-दर्शन का कार्य करते हैं। उन्हे वे जहाँ अपने रचनाकाल के पूर्व और वर्तमान के संरचनात्मक घटकों से परिचय कराते है, उनके आधार पर काव्य-सृजन की विधियाँ समझाते है; काव्यगत रूढ़ियों, समयों और गुण-दोषों का परिचय कराते हैं; रचना-हेतुओं को ध्यान में रखते हुए प्रायोगिक सलाह देते है, वहीं वे ग्रन्थ उसके मानस में अनेक प्रकार से परम्परा का आधान करके उसकी प्रतिभा को कुंठित कर देते हैं। कविशिक्षा के ग्रन्थ मानस पर इतना व्यापक प्रभाव छोड़ते हैं कि कवि रचना-प्रक्रिया में जाने-अनजाने प्रभावित होता रहता है। जिस प्रकार स्मृतियों के सिद्धान्त व्यक्ति के आचरण को चाहे-अनचाहे प्रभावित करते हैं। शिक्षा जिस प्रकार व्यक्ति के मानस को नियमित, नियन्त्रित और विजड़ित करती है, कविशिक्षा उसी प्रकार कविमानस को। कविशिक्षा कवि-मानस को इस रूप में आप्यायित करती है कि वह विशिष्ट और विदग्ध कवि भी हो सकता है और असामान्य और साधारण सर्जक भी। कवि-मानस उस अभ्यास के लिये प्रेरणा दे सकता है, परन्तु तभी, जब उससे प्रयोग के व्यापक नियम और आधार हों। कवि-मानस में इन प्रायोगिक नियमों की चेतना होना ही कविशिक्षा का द्योतक है। इसमे दो प्रक्रियाएँ रहती हैं। जब कभी वह किसी प्रेरणा से प्रेरित होकर सृजन में तत्पर होता है तो उसकी वृत्तियाँ दो रूपों में संकुचित होकर गतिमान होती हैं। कभी तो उसका मानस प्रेरणा के मूल-तत्वों के परिधि में अपने मानस को प्रवाहित करता है, और कभी वह प्रेरणा उसके मानस द्वारा किसी विशिष्ट अनुभूति से जोड़ दी जाती है। प्रेरित होने का अर्थ ही है मानस के ऐसे क्षण पर आघात होना जिससे सम्पूर्ण व्यक्तित्व ही

उठे। वृत्तियाँ संकुचित होकर मानस में विभिन्न भावों को उद्दीप्त करती हैं। भावों का तरंगित होना ही सृजनोन्मुखता का बीज है। भाव सृजन के लिए आवश्यक है। सम्पूर्ण मानस को भाव विचित्र रूपों में उद्वेलित करते हैं। भाव अपनी तीव्रता के अनुसार मानस के विशिष्ट स्तरों पर प्रभाव डालते है। शरीर के मानसिक संस्थानों में विभिन्न रसो के स्राव से वैद्युतीय तरंगों की भाँति रासायनिक प्रक्रिया प्रारम्भ हो जाती है और वे भाव अपने अनुकूल विषय-वस्तु से जुड़ते हुए उत्कट इच्छा के सहयोग से एक रूपाकार ग्रहण कर लेते है। कवि-मानस किसी विशिष्ट भाव या विचार से उद्वेलित होने पर एक स्वचालित प्रक्रिया के अनुसार एलेक्ट्रानिक संगणकों या यंत्रों की भाँति एक निष्कर्ष प्रदान करता है। यह निष्कर्ष एक सृजन होता है। मानस गतिमान तो रहता ही है, परन्तु कवि अपने अभ्यास और एकाग्रता या सान्द्रता से उसे इसप्रकार बना देता है कि वह एक लक्ष्य पर लगा दिये जाने पर प्रक्रियाबद्ध होकर एक क्रम पूरा करके ही समाप्त होता है। बिम्बों और प्रतीकों का प्रयोग कवि के अनुभव को अर्थ के रूप ग्रहण करने से सम्बद्ध होता है। कवि का मानस इस स्थिति में भी अभ्यस्त होता है और बिना प्रयास ही उसे नियोजित करता है। कारण यह है कि कवि की वे सम्पूर्ण अनुभूतियाँ, जो आज मानस का अंग बन चुकी हैं, इन्हीं रूपो मे आत्मसात् की गयी हैं।

सन्दर्भ-सङ्केत

(१) क्रिएटिव प्रोसेस : सम्पादित घेसलिन, अमीलावेल मेकिंग आफ पोयट्री (२) आधुनिक हिन्दी साहित्य : एक परिदृश्य (३) कान्फ्लिक्ट एण्ड क्रिएटिविटी (कन्ट्रोल आफ माइन्ड पार्ट) पृ० ६८ (४) माडर्न बुक आफ एस्थेटिक्स ed. Malvin Reader पृ० १३४-१३५ (५) How a poem is born by C. D. Lewis भवन जर्नल Vol. XIII No. 1 July ३१, १९६६ (६) माडर्न बुक आफ एस्थेटिक्स, सं० मलविन रडर पृ० १४९ (७) वही, पृ० १३१ (८) वही, पृ० १३१ (९) वही पृ० १४९-५० (१०) वही, पृ० १४९ (११) 'दि कोर्स इन पोयटिक्स फर्स्ट लेसन' क्रिएटिव प्रोसेस (१२) वही (१३) क्रिएटिव प्रोसेस (१४) गेस्टाल्ट साइकोलाजी (१५) हजारी प्रसाद द्विवेदी (१६) मेकिंग नोइङ्ग एण्ड जजिङ्ग (१७) दि कोर्स इन पोयटिक्स 'फर्स्ट लेसन, 'क्रिएटिव प्रोसेस' (१८) लोक विज्ञान (१९) डॉ० हरबर्ट रीड द्वारा उद्धृत 'दि फार्म आफ थिंग्स अननोन' पृ० ८९ (२०) वही, पृ० ८९ (२१) दि फार्म आफ थिंग्स अननोन, पृ० ५४ (२२) दि फार्म आफ थिंग्स अननोन पृ० ५४ (२३) 'फिलासफी इन एन्यूकी' में सुसान के लेंगर द्वारा उद्धृत (२४) नालेज एण्ड एक्सपीरिएन्स, पृ० ३९ (२५) वही, पृ० ५४ (२६) वही, पृ० ४६ (२७) वही, पृ० ४६।

रसाभास का ऐतिहासिक क्रम से पर्यवेक्षण

• प्रशान्त कुमार वेदालंकार

जर्मनी के प्रसिद्ध दार्शनिक फ्लिण्ट ने अपनी पुस्तक एण्टी थिएस्टिक थिओरीज़ में ईश्वर की सिद्धि के लिए जॉन फास्टर द्वारा प्रस्तुत एक अत्यन्त मनोरंजक तर्क उपस्थित किया है। उनका कहना है कि संसार में किसी पदार्थ का अस्तित्व सिद्ध करना अत्यन्त सरल है, जबकि उसका अभाव प्रतिपादित करना अत्यन्त कठिन। यह कहना कि ईश्वर नहीं है—अनुचित है, क्योंकि किसी भी मनुष्य ने ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अंश में उसे नहीं ढूंढ़ा। और क्योंकि उसमें ब्रह्माण्ड के प्रत्येक अंश को देखने का सामर्थ्य नहीं है, अतः 'ईश्वर नहीं है' यह भी नहीं कहा जा सकता। इसके विपरीत 'ईश्वर है' यह कल्पना अत्यन्त सरल है। क्योंकि कोई भी व्यक्ति इन्द्रियगोचर इस संसार की विविध अलौकिक शक्तियों को देखकर उसकी अनुभूति कर सकता है। उसे इसके लिए कहीं दूर जाने की आवश्यकता नहीं है।[1] उनके इस तर्क से ईश्वर की सिद्धि हो या न हो किन्तु उसमें इतना सत्य अवश्य है कि किसी शब्द का इतिहास प्रस्तुत करते समय यह कहना अत्यन्त सरल है कि अमुक शब्द सर्वप्रथम हमें अमुक स्थल पर उपलब्ध हुआ, पर यह कहना अत्यन्त कठिन है कि इससे पूर्व की किसी भी पुस्तक में वह उपलब्ध नहीं है अथवा इससे पूर्व यह शब्द किसी मौखिक विचारधारा में प्रयुक्त नहीं होता रहा होगा। सम्भव है कि यह शब्द उपलब्ध पुस्तक में कहीं खण्डित हो गया हो अथवा ऐसी पुस्तक में वर्तमान हो जो कि अप्राप्य है। ठीक यही बात रसाभास के सम्बन्ध में भी कही जा सकती है। रसाभास शब्द सर्वप्रथम उद्भट के ग्रन्थ में उपलब्ध होता है। और उनके प्रयोग से ऐसा ज्ञात होता है कि इस शब्द का प्रयोग उनसे पहले भी विद्यमान रहा होगा। यह भी सम्भव है कि उद्भट ने ध्वनिकार के समकालीन होने के नाते इसे ध्वन्यालोक से ग्रहण किया हो। संक्षेप में यह तो सहज ही कहा जा सकता है कि रसाभास शब्द का प्रयोग सर्वप्रथम उद्भट ने किया, पर यह कहना अत्यन्त कठिन है कि उनसे पूर्ववर्ती किसी ने नहीं किया था।

यहाँ पर यह उल्लेखनीय है कि रसाभास अनौचित्य के एक रूप से सम्बद्ध है। अतः रसाभास के ऐतिहासिक पर्यवेक्षण के प्रसंग में रसाभास-सम्बद्ध अनौचित्य (तथा आवश्यकतानुसार औचित्य) का भी पर्यवेक्षण करना वांछनीय रहेगा

संस्कृत-आचार्य

(१) भारतीय काव्यशास्त्र का उपलब्ध प्रथम ग्रन्थ भरत-प्रणीत 'नाट्यशास्त्र' है। भरत ने न रसाभास शब्द का प्रयोग किया है और न उसमें अनौचित्य का ही उल्लेख है। किन्तु उनके औचित्य वर्णन से अनौचित्य का अनुमान अवश्य लगाया जा सकता है। उनका कथन है कि 'लोक ही नाट्य का प्रमाण है।'[२] लोक में जो वस्तु जिस रूप में, जिस वेश में, जिस मुद्रा में उपलब्ध होती है, उसका उसी रूप में, उसी वेश में, उसी मुद्रा में अनुकरण करना नाट्य का चरम लक्ष्य है। इसीलिए नाट्य-शास्त्र प्रकृति (पात्र) के भाषा-वेश आदि के विधान पर अत्यधिक बल देता है। यदि कोई चाण्डाल एक ब्रह्मज्ञानी का-सा आचरण करता है तो वह हास्य ही उत्पन्न करेगा। अनेक अध्यायों में भरत ने इस विषय का सांगोपांग वर्णन किया है। इस प्रसंग में भरत की निम्नोक्त कारिका अत्यन्त सारगर्भित है :—

अदेशजो हि वेशस्तु न शोभां जनयिष्यति।
मेखलोरसि बन्धे च हास्यायैव जायते॥

—नाट्यशास्त्र, २१।७३, ७४

जिस देश का जो वेश है, जो आभूषण जिस अंग में पहना जाता है उससे भिन्न देश मे उसका विधान करने पर वह शोभा नहीं पाता। यदि कोई पात्र करधनी को अपने गले मे और हाथ में पहने तो वह उपहास का ही पात्र होगा। उनके इस वर्णन में रसाभास का पूर्वरूप स्पष्ट लक्षित है। रसाभास के सम्बन्ध में आचार्य भरत की एक अन्य अत्यन्त महत्व-पूर्ण उक्ति भी द्रष्टव्य है। 'आयु तथा व्यक्ति-भेद से भिन्न-भिन्न रस भिन्न-भिन्न जनों को आस्वाद्य लगते हैं। सभी रस सभी को आस्वाद्य हों, ऐसा नियम नहीं है। तरुण लोग शृंगार रस का आनन्द जितनी मात्रा में ले पाते हैं, उतनी ही मात्रा में अन्य रस उन्हें प्रभावित नही करते। इसीप्रकार विरागी जनों को जितना आनन्द शान्त रस के आस्वाद से आएगा उसकी अपेक्षा शृंगारादि रस उनका ध्यान कम ही आकर्षित करेंगे। शृंगार रस से तो उनका पूर्ण विराग भी हो सकता है।[३] रस की चर्वणा में मूलतः सहृदय का चित्त उत्तरदायी है। रसाभास का प्रधान कारण अनौचित्य है और यह अनौचित्य सहृदय के चित्त पर आधा-रित है। रसाभास शब्द का प्रयोग न करके भी भरत ने परोक्ष रूप से उसकी चर्चा कर दी है।

इसके अतिरिक्त उनका एक वाक्य है 'शृंगाराद्धिभवेद्धास्यो (६।३२) शृंगारानुकृतिर्यातु स हास्यस्तु कीर्तितः' (६।३२) अर्थात् शृंगार से हास्य की उत्पत्ति होती है। शृंगार का जो अनुकरण है, वह हास्य कहलाता है। इस कारिका की व्याख्या में अभिनवगुप्त ने आभास शब्द का उल्लेख किया है। इस प्रकार हम यह कदाचित् मान सकते हैं कि अभिनवगुप्त को रसाभास पर प्रकाश डालने की प्रेरणा भरत के इसी कथन से मिली हो।

(२—४) ऐतिहासिक क्रम में भरत के बाद अलंकारवादी आचार्य आते हैं। इन्होंने रसाभास का ऊर्जस्वी अलंकार में अन्तर्भाव किया। भामह[४] तथा दण्डी[५] के उदाहरणों से सर्वथा स्पष्ट है कि जहाँ कोई व्यक्ति प्रधान होकर को हतप्रभ कर दे वहाँ

ऊर्जस्वि-अलंकार होता है। उद्‌भट[6] ने ऊर्जस्वी-अलंकार के प्रसंग में अनौचित्य-तत्त्व का उल्लेख किया है। इससे सम्भवतः यह अनुमान लगाना असंगत न होगा कि इस प्रकार का उल्लेख तत्कालीन अज्ञात रसध्वनिवादियों के प्रभावस्वरूप ही हो। क्योंकि रसाभास अनौचित्य-तत्त्व से सम्बद्ध है और इधर रसाभास और ऊर्जस्वी अलंकार का भी पारस्परिक सम्बन्ध स्वीकार किया जाता है। उद्‌भट लोक और शास्त्र की मर्यादा के अतिक्रमण को ऊर्जस्वी-अलकार (रसाभास) मानते हैं। उनकी दृष्टि में यही अनौचित्य है। अनौचित्य की यह व्याख्या रसाभास के विवेचन में अपना विशेष महत्व रखती है। यद्यपि यहाँ इन्होंने रसाभास शब्द का प्रयोग नहीं किया तथापि यह निश्चित है कि रसाभास शब्द के विषय में उन्हें ज्ञान अवश्य था, क्योंकि समाहित अलंकार में (रस-रसाभास आदि की शान्ति के प्रसंग मे) उन्होंने रसाभास शब्द का प्रयोग किया है।[7]

(५ — ६) यद्यपि रसाभास शब्द का प्रयोग उद्‌भट ने ही किया था, किन्तु जिस अर्थ मे यह शब्द आगे चल कर मान्य एवं प्रचलित हुआ, उस अर्थ में इसका सर्वप्रथम प्रयोग करने का श्रेय ध्वनिकार आनन्दवर्द्धन को ही है। इन्होने रसाभास को रस की ही भाँति असंलक्ष्यक्रम-व्यंग्य का एक भेद माना है।[8] यहाँ यह उल्लेखनीय है कि यद्यपि आनन्दवर्द्धन ने अनौचित्य शब्द का प्रयोग रसाभास के प्रसंग में न करके (जैसा कि हम आगे देखेंगे) रसभंग के प्रसग मे किया है, किन्तु इन्हीं के ही टीकाकार अभिनवगुप्त ने अनौचित्य को रसाभास का हेतु निर्दिष्ट करते हुए इसी प्रसंग में अनौचित्य शब्द का प्रयोग किया है। उन्हें इस तत्त्व की प्रेरणा भरत के अनुकृति शब्द से मिली है। इनके अनुसार अनुकृति, अमुख्यता और आभास इन सबका एक अर्थ है।[9] रस का आस्वादन तो मुख्यतया व्यक्त रति आदि भावों में होगा, अमुख्य या आभास आदि भावों में नहीं। इस सम्बन्ध में उनका यह कथन भी महत्वपूर्ण है कि अनौचित्य के कारण रस, हास्य रस में परिवर्तित हो जाता है। यथा, निर्वेद जब मोक्ष का हेतु न होने पर भी तदाभास मोक्ष हेतु-सा प्रतीत हो वहाँ शान्ताभास हास्य रस ही होता है। इसी प्रकार जिसका जो बन्धु नहीं है उसके विषय में वर्णित शोक भी हास्य रस का ही विषय है।[10] इसके अतिरिक्त उन्होंने शृंगार में अनौचित्य का जो उदाहरण प्रस्तुत किया है, उसमें अनुभवनिष्ठ रति के कारण रसाभास है। अज्ञान के कारण जिस प्रकार सीप में चाँदी का आभास होता है, उसी प्रकार अविवेकी पुरुष को अनौचित्य वर्णन में भी रस की प्रतीति होती है।[11]

इस प्रकार रसाभास के सम्बन्ध में हमारे सम्मुख तीन तथ्य उपस्थित होते हैं, जिनके आधार पर परवर्ती आचार्यों ने इसका निरूपण किया है :—

(क) रसाभास असंलक्ष्य क्रम व्यंग्य (रसादि) का एक भाग होने के कारण वस्तु-ध्वनि और अलंकार-ध्वनि से उत्कृष्ट काव्य है।

(ख) रसाभास का प्रधान कारण अनौचित्य है जो कि अनुकृतिजन्य भी हो सकता है।

(ग) रसाभास, रस की उत्तरकालिक स्थिति है।

(७) आनन्दवर्द्धन और अभिनवगुप्त के उपरान्त महिमभट्ट ने अपने ग्रन्थ 'व्यक्ति विवेक' में रसाभास का प्रत्यक्ष उल्लेख नहीं किया। किन्तु ऐसा प्रतीत होता है कि वे रस के अनौचित्य से जो कि रसाभास का सहायक एव स्वरूप निर्देशक है—परिचित अवश्य होंगे;

अन्तरंग अनौचित्य को उन्होंने रस से संबद्ध किया भी है—अन्तरंगमिति साक्षात् रसविषयत्वात् ।

(८) अनौचित्य सिद्धान्त के प्रवर्त्तक आचार्य क्षेमेन्द्र ने रसौचित्य के प्रसंग में जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं, उनसे ऐसा प्रतीत होता है कि उन्हें रसाभास का ज्ञान अवश्य होगा ।

(९) अभिनवगुप्त के उपरान्त भोजराज प्रथम व्यक्ति हैं जिन्होंने रसाभास के विषय में पर्याप्त एवं व्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत की है । इन्होंने रसाभास कहाँ होता है, इस पर प्रकाश डालते हुए कहा है—

हीनपात्रेषुतिर्यक्षुनायक प्रतियोगिषु ।
गौणेष्वेव पदार्थेषु तयाभासं विजानते ।।

—सरस्वती कण्ठाभरण, ५।३० ।

अर्थात्—हीन पात्रों में, तिर्यक् (गतभाव) में नायक के प्रतियोगी में तथा गौण पदार्थों (सम्भवतः निरिन्द्रियगत) में (निर्दिष्ट भाव) उस रस का आभास होता है । यद्यपि भोजराज ने अपनी इस स्थापना की विवेचना प्रस्तुत नहीं की तथापि उत्तरकालीन आचार्यों ने भोजराज की इस व्यवस्थित सामग्री का पूरा लाभ उठाया है ।

(१०) इनके उपरान्त मम्मट ने रसाभास के सम्बन्ध में कोई नूतन उपस्थापना नही की । केवल अनौचित्य की बात दुहरा दी है और बहुनायकनिष्ठ रति का उदाहरण प्रस्तुत किया है । इनके टीकाकार वामन झलकीकर ने एक ओर उद्भट की भाँति लोक-शास्त्र के अतिक्रमण को रसाभास कहा है तो दूसरी ओर अभिनवगुप्त के अनुकरण पर इसे रस की उत्तरकालिक स्थिति के रूप में स्वीकार किया है । अर्थात् रसाभास से पूर्ववर्ती स्थिति रस में प्राप्त होना है—इस सिद्धान्त को वे स्वीकार करते हैं ।[१२] काव्यप्रकाश की एक अन्य टीका सुधासागर के प्रणेता ने रसाभास का एक अन्य कारण निर्देश करते हुए कहा है कि प्रकर्ष विरोधी अनौचित्य से रसाभास होता है ।[१३] प्रकर्ष के विरोध से तात्पर्य अंगीरस को अंगरस के रूप में प्रकट करना है । इन्होंने भोजराज की भाँति तिर्यक् गत भाव को रसाभास स्वीकार नहीं किया, जिसे कि काव्यप्रकाश के प्रख्यात टीककार गोविन्द ठक्कुर ने रसाभास स्वीकार किया है ।[१४]

(११) हेमचन्द्र निरिन्द्रिय और तिर्यक्गत भाव में रसाभास स्वीकार करते है । उनके अनुसार रसाभास के वर्णन में समासोक्ति, अर्थात न्यास, उत्प्रेक्षा, रूपक, उपमा तथा श्लेष इनमें से कोई अलंकार प्रायः अवश्य ही होगा ।[१५] इन अलंकारों में प्रायः अप्रस्तुत (निरिन्द्रिय) का वर्णन रहता है । रसाभास के प्रसंग में उनकी यह स्थापना अपना विशेष महत्त्व रखती है ।

(१२) आचार्य रुय्यक ने अविषय में प्रवृत्ति को ऊर्जस्वी अलंकार माना है । इन्होने इस अलंकार का वही उदाहरण प्रस्तुत किया है जो अभिनवगुप्त ने शृंगाराभास के कारण हास्य में परिवर्तित होने में दिया है ।[१६]

(१३-१४) चन्द्रालोक के रचयिता जयदेव ने केवल अनौचित्य-तत्त्व की पुनरावृत्ति की है और बहुनायकनिष्ठ रति को रसाभास माना है । एकावली के रचयिता विद्याधर ने काव्य में तिर्यंग गत भाव का सोदाहरण विवेचन प्रस्तुत कर उसे रसाभास न मान रस ही स्वीकार किया है ।[१७]

(१५) भोजराज के उपरान्त विश्वनाथ ने इस सम्बन्ध में व्यापक और व्यवस्थित सामग्री प्रस्तुत की है। सर्वप्रथम इन्होंने सभी रसों में अनौचित्य दिखलाया है और विभिन्न रसों में रसाभास के उदाहरण प्रस्तुत किए हैं। इनके अनुसार उपनायकनिष्ठ, मुनि-गुरु-पत्नी गत, बहुनायक-विषयक, अनुभयनिष्ठ, प्रतिनायक-निष्ठ, अधम-पात्रगत तथा तिर्यक्गत रति में रसाभास होता है। गुरु आदि में रौद्र, हीन पात्र में शान्त, गुरु के प्रति हास्य, ब्राह्मण-वध मे उत्साह, अथवा अधम पात्र में निर्दिष्ट उत्साह तथा उत्तम पात्र में निर्दिष्ट भय भयानक रस का रसाभास होता है। इसके अतिरिक्त विभावादि की न्यूनता के कारण रसाभास हो जाने का उल्लेख भी सर्वप्रथम विश्वनाथ ने ही किया है।[१८] विश्वनाथ ने रसाभास के आस्वादन को भी स्वीकार किया है।[१९]

(१६-१९) केशवमिश्र ने 'अनौचिती' को महान् रसदोष माना है। उनके अनुसार पार्वती एवं शंकर का केलि वर्णन करना अनौचित्य है।[२०] शारदातनय और शिंगभूपाल ने अंगीरस को अंगीरस से अधिक प्रतिष्ठा देने से रसाभास माना है।[२१] शारदातनय ने विरोधी रसों के परस्पर मिश्रण से रसाभास स्वीकार किया है। उन्होंने इस प्रसंग में यह भी स्पष्ट किया है कि किन दो रसों के परस्पर मिश्रण से किस रस का रसाभास होता है। शिंगभूपाल अनौचित्य के दो भेद करते हैं—असत्यत्व और अयोग्यत्व। असत्यत्व के कारण वृक्षादि के रत्यादि वर्णन में रसाभास होता है। अर्थात् ये निरिन्द्रिय वृक्षादिगतभाव को रसाभास मानते हैं। इन्होंने ही शृङ्गार रसाभास के चार भेद किए हैं—अराग, अनेक राग, तिर्यक् राग और म्लेच्छ राग। किन्तु इन्होंने दक्षिण नायक की रति को रसाभास नहीं माना।[२२] भानुमिश्र का भी यही कथन है कि यदि किसी नायक के लिए अनेक नायिकाएँ व्यवस्थित कर दी गई हैं तो उनमें रसाभास नहीं होगा। उन्होंने कृष्ण-गोपियों के प्रसंग को रसाभास के अन्तर्गत स्वीकार नहीं किया।[२३]

(२०) रूपगोस्वामी ने रसाभास के उपरस, अनुरस तथा अपरस तीन भेद करके इसका सविस्तार सोदाहरण विवेचन किया है। इन्होंने अनुरस में भक्ति रस को छोड़कर शेष सभी रसों को रसाभास के अन्तर्गत माना है किन्तु वस्तुतः यह उनके एकांगी दृष्टिकोण का सूचक है। इसके अतिरिक्त विभावादि सामग्री में वैरूप्य के कारण उपरस और कृष्ण के प्रतिपक्षी में वर्णित भावप्रदर्शन को अपरस रसाभास कहा है। इन्होंने एकनिष्ठ, अनेक निष्ठ, लता आदि गत, पशुगत, वृद्धागत रति में तथा धृष्टता, ग्राम्यता (हीन पात्र) आदि के कारण भी रसाभास स्वीकार किया है।[२४]

(२१) रसाभास पर संस्कृत के काव्यशास्त्रियों में सबसे अधिक गम्भीरता से विचार पण्डितराज जगन्नाथ ने किया है। जगन्नाथ ने उपनायकनिष्ठ, अनुभयनिष्ठ एवं बहुनायकनिष्ठ रति से रसाभास के उदाहरण प्रस्तुत करने के उपरान्त अन्य रसों में भी रसाभास निर्दिष्ट किया है। उनके अनुसार कलहशील, कुपूत एवं वीतराग आदि के विषय में वर्णन किया जाने वाला शोक ब्रह्मविद्या के अनधिकारी चाण्डालादिकों में वर्णन किया जाने वाला निर्वेद निन्दनीय और कायर पुरुषों में तथा पिता प्रभृति के विषय में वर्णित क्रोध एवं उत्साह

गुरुजन आदि के प्रति हास, महावीर में भय एवं यज्ञ के चरबी रुधिर आदि में जुगुप्सा के वर्णन से रसाभास होता है। उन्होंने इस प्रसंग में निम्नोक्त नूतन सामग्री प्रस्तुत की है—

(क) रसाभास में अनौचित्य स्थायी भाव में होता है। इनसे पूर्व के आचार्यों ने औचित्य विभाव में माना था, पर उनका कथन है कि अनौचित्य केवल विभाव में मानने से अनेक नायकों की एक नायिका में रति का ग्रहण नहीं होगा। (ख) शिंगभूपाल आदि के विरुद्ध उनके अनुसार द्रौपदी और पाण्डवों की रति रसाभास ही है, भले ही यह लोकानुमोदित क्यों न हो। (ग) रसाभास में रस की स्थिति इन्हें स्वीकार्य है।[२५]

(२२-२६) जगन्नाथ के उपरान्त नरेन्द्रप्रभसूरि ने सीता में रावण की रति को पर-वनिता में निर्दिष्ट रति के कारण रसाभास कहा है, जबकि अन्य आचार्यों ने इसे अनुभयनिष्ठ रति के कारण रसाभास स्वीकार किया है। इसके अतिरिक्त वे अधमपात्र, तिर्यक् गत एवं निरिन्द्रिय गत रति मे भी रसाभास स्वीकार करते हैं।[२६] अभिनव-कालिदास ने अनुभय-निष्ठ, तिर्यक् गत, म्लेच्छगत (अधम पात्र निष्ठ) एवं बहुनायक निष्ठ रति को रसाभास स्वीकार किया है।[२७] अल्लराज ने अनुभयनिष्ठ रति तथा अनेकनिष्ठ रति में रसाभास माना है। साहित्यसार के रचयिता श्री अच्युताचार्य[२८] रसाभास की उत्पत्ति असमतावलम्बन तथा अयोग्य विषमता से मानते हैं। ये क्रमश: उपर्युक्त लोकाचारहीनता तथा अनुचित विभाव ही है।[२९] कुमार स्वामी[३०] और राजचूड़ामणि[३०] तिर्यग्योनि-गत रति को रस के अन्तर्गत मानते हैं। हरिपाल ने इसे संभोग रस माना है।[३१]

संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसाभास विषयक सामग्री का पर्यवेक्षण करने के उपरान्त अन्त में रसाभास के सम्बन्ध में निम्नोक्त तथ्य प्रस्तुत किये जा सकते हैं—

(१) सभी आचार्यों ने रसाभास का आधार अनौचित्य स्वीकार किया है।

(२) उद्भट, जगन्नाथ एवं काव्यप्रकाश के टीकाकार वामन झलकीकर के अनुसार अनौचित्य से अभिप्राय शास्त्र एवं लोक का अतिक्रमण है। अन्य आचार्यों ने भी परोक्ष रूप से यही स्वीकार किया है।

(३) भोजराज, काव्यप्रकाश के टीकाकार गोविन्द ठक्कुर, हेमचन्द्र, विश्वनाथ, शिंग-भूपाल, रूपगोस्वामी, नरेन्द्रप्रभसूरि एवं नरसिंह तिर्यक्गतभाव को रसाभास स्वीकार करते है, किन्तु काव्यप्रकाश के टीकाकार सुधासागरकार, विद्याधर, हरिपाल, कुमारस्वामी तथा राज-चूड़ामणि तिर्यक्गतभाव को रसाभास स्वीकार न कर रस ही मानते हैं।

(४) भोजराज, हेमचन्द्र, शिंगभूपाल, रूपगोस्वामी एवं नरेन्द्रप्रभसूरि निरिन्द्रियगत भाव में रसाभास मानते हैं।

(५) शारदातनय ने विरोधी रसों के संयोजन से तथा शारदातनय, शिंगभूपाल एवं काव्यप्रकाश की टीका सुधासागर के प्रणेता ने अंगरस को अंगी रस से अधिक प्रमुखता देने के कारण रसाभास स्वीकार किया है।

(६) निम्नोक्त प्रसंगों में शृंगार रसाभास की स्वीकृति की गयी है—

(क) विश्वनाथ एवं जगन्नाथ ने उपनायक निष्ठ रति में।

ख) विश्वनाथ ने मुनि, गुरुपत्नी आदि निष्ठ रति में

(ग) मम्मट, जयदेव, विश्वनाथ शिंगभूपाल रूपगोस्वामी जगन्नाथ अभिनव कालिदास, एवं अल्लराज ने बहुनायक निष्ठ रति में

(घ) अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, शिंगभूपाल, रूपगोस्वामी, जगन्नाथ, नरेन्द्रप्रभ सूरि, अभिनव कालिदास, अल्लराज ने अनुभयनिष्ठ रति में।

(ङ) भोजराज, विश्वनाथ एवं रूपगोस्वामी ने प्रतिनायक निष्ठ रति में।

(च) भोजराज, विश्वनाथ, शिंगभूपाल, नरेन्द्रप्रभ सूरि, रूपगोस्वामी एवं अभिनव कालिदास ने अधम पात्र निष्ठ रति में।

(छ) रूपगोस्वामी ने वृद्धागत रति में धृष्टता के कारण।

(७) शृंगार के अतिरिक्त अन्य रसों में रसाभास का स्पष्ट निर्देश अभिनवगुप्त, विश्वनाथ, रूपगोस्वामी एवं जगन्नाथ ने किया है।

(८) अलंकारवादी आचार्यों ने रसाभास का अन्तर्भाव ऊर्जस्वी अलंकार में किया है। हेमचन्द्र ने कुछ अलंकारो को रसाभास का जीवित कहा है।

(९) रसाभास के सम्बन्ध में निम्नोक्त अन्य तथ्य भी प्रस्तुत किये गये :—

(क) रसाभास रस की उत्तरकालिक अवस्था है।—अभिनव गुप्त

(ख) रसाभास विभावादि की न्यूनता के कारण होता है—विश्वनाथ।

(ग) किसी रस का आभास हास्य में परिवर्तित हो जाता है—अभिनवगुप्त।

(घ) रसाभास की अवस्था में रस विद्यमान रहता है—जगन्नाथ।

(ङ) रसाभास असंलक्ष्यक्रमव्यंग्य का भेद है। अतः वह आस्वादमय है—

आनन्दवर्धन, विश्वनाथ।

हिन्दी आचार्य

संस्कृत काव्याचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसाभास-विषयक उल्लेख के उपरान्त हिन्दी रीति-आचार्यों द्वारा एतद्विषयक विवेचन पिष्टपेषण मात्र है। इन आचार्यों ने अपने लक्षणों मे केवल मम्मट और उनके अनुकर्ता आचार्यों के आधार पर अनौचित्य की चर्चा की है और उदाहरण प्रायः शृंगार रसाभास के दिये हैं। उनके विश्लेषण से यद्यपि कोई गम्भीर निष्कर्ष उपस्थित नहीं होते, तथापि परिचित की दृष्टि से उनका भी उल्लेख अनिवार्य है। हाँ, सोमनाथ और भिखारीदास के लक्षण महत्वपूर्ण हैं। उनसे रसाभास के स्वरूप पर किंचित् नवीन प्रकाश पड़ता है।

(१) सर्वप्रथम कुलपति ने रसाभास का लक्षण प्रस्तुत किया है—

अनुचित है रसाभाव जहाँ, ते कहिये आभास।
रसाभास तामैं कहत सुनिये सहित हुलास॥

इस प्रसंग में यद्यपि इन्होंने अनौचित्य शब्द की व्याख्या नहीं की किन्तु रसाभास के जो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं उनसे अनौचित्य शब्द के अर्थ का अनुमान लग जाता है। इन्होंने रसाभास के दो उदाहरण प्रस्तुत किये हैं। जिनमें से एक बहुनायक निष्ठ रति का है और

दूसरा बहुनायकनिष्ठ रति का ।[32] संस्कृत काव्याचार्यों ने इसे घोर अनौचित्य कहा था और इसे रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया था। रीतिकाल के आचार्यों ने उसी पुरानी लीक का अनुसरण कर बहुनायकनिष्ठ रति का अनौचित्य मान, उसके उदाहरण को रसाभास का उदाहरण स्वीकार कर लिया है।

(२) हिन्दी के आचार्यों में सोमनाथ द्वारा प्रस्तुत लक्षण महत्वपूर्ण है। रसाभास के प्रसंग में यह प्रमुख प्रश्न है कि इस अवस्था में आनंदानुभूति होती है अथवा नही? सोमनाथ के अनुसार रसाभास के उदाहरण रसिकों को सुख प्रदान करने वाले होते हैं। उनका कथन है—

अनलायक रसवर्णन में जँह कवित्त में आय।
रसाभास तासौं कहैं सकल रसिक सुख पाय ॥—रसपीयूषनिधि, १८।१६

अभी तक किसी भी आचार्य ने प्रत्यक्ष रूप से इस बात का उल्लेख नहीं किया था। सोमनाथ का यह मत विचारणीय है। इस कथन में नवीनता अवश्य है।

(३) सोमनाथ के मत के विपरीत आचार्य भिखारीदास का लक्षण है, जो कि रसाभास की अवस्था को रसहीन मानता है—

रस सौं भासत होतु है, जहां न रस की बात।
रसाभास तासौं कहैं जहं कवि अवदात ॥—रससारांश, ६६६।

अर्थात् रसाभास के प्रसंगों में रस का सर्वथा अभाव होता है। इस प्रकार भिखारीदास ने रसाभास का प्रचलित स्वरूप 'शुक्तौ रजताभासवत्' स्वीकार नहीं किया।

(४-११) बाद के सभी रीति आचार्यों ने रसाभास के चलते लक्षण प्रस्तुत किये हैं। प्रतापसाहि का लक्षण कुलपति के अनुसरण पर है।[33] पद्माकर ने अपने लक्षण में भी इसी अनौचित्य-तत्व की व्याख्या कर दी है—

रसाभास अनुचित करम कम्ब अयोग्य विलास।
हास्य करब गुरु निगम को सुत पितु सों रननास ॥—पद्माभरण, २६३।

रसाभास अनुचित कर्म है, अयोग्य विलास (शृंगार) गुरु के प्रति हास्य एवं पिता पुत्र का कलह रसाभास के लक्षण हैं। रसाभास का यह लक्षण सर्वथा स्पष्ट है। कवि हरिचरण दास ने चमत्कार चन्द्रिका में इसी लक्षण को कुछ हेरफेर के साथ प्रस्तुत किया है।[34] उजियारे कवि ने अनुभवनिष्ठ रति को रसाभास कहा है।[35] जनराज, सरदार कवि तथा रसविवेक के कर्त्ता ने आभास की परिभाषा अनुचित कह कर की है।[36] भानु कवि ने इसी अनौचित्य की चर्चा करके चर और अचर सभी के अमर्यादित शृंगार को रसाभास के अन्तर्गत परिगणित किया है।[37]

(१२) इस प्रसंग में श्री रामकान्त शर्मा द्वारा विरचित प्रेमसुधारत्नाकर नामक एक भक्ति-ग्रन्थ का उल्लेख आवश्यक है। श्री रूपगोस्वामी विरचित हरिभक्ति रसामृत सिन्धु से यह पूर्णतः प्रभावित है। यद्यपि इस ग्रन्थ में रसाभास शीर्षक से रसाभास का पृथक् विवेचन उपलब्ध

होता है तथापि उससे पहिले रयाभास सात्विका भास एवं अन्य आभासों का वर्णन भी रसाभास से ही सम्बन्धित है[३८]

(१३-२०) आधुनिक संग्रहकर्ता आचार्यों में अयोध्यासिंह उपाध्याय हरिऔध, कन्हैया-लाल पोद्दार, पं०रामदहिन मिश्र, पं०गंगाप्रसाद अग्निहोत्री का नाम उल्लेखनीय है।[३९] यद्यपि उन्होंने रसाभास के सम्बन्ध में पुराने आचार्यों के मतों को ही स्वीकार किया है तथापि प्रत्येक रस के आभास के हिन्दी उदाहरणों का चयन करने में इन्होंने अत्यधिक परिश्रम किया है। इनके अतिरिक्त पं० हरिशंकर शर्मा, गुलाबराय, किशोरीदास वाजपेयी, शान्तिलाल जैन बालेन्दु ने भी अपने ग्रन्थों में रसाभास की चर्चा की है। तथा रसाभास को अपने ढंग से समझाया है।[४०]

(२१-२५) इसी प्रसंग में उपर्युक्त आचार्यों के अतिरिक्त कतिपय अन्य रीतिकालीन एवं आधुनिक आचार्यों का नाम भी उल्लेखनीय है, जिन्होंने ऊर्जस्वी अलंकारों का वर्णन किया है, जिससे रसाभास के अनेक उदाहरण उपलब्ध हो गये हैं। वे हैं—केशव, देव, भिखारी दास, दूलह, पद्माकर, रसरूप, लछिराम, भानु कवि, हरिचरणदास, सरदार कवि, कविराज राव गुलाबसिंह, कविराज मुरारीदीन, पं० रमाशंकर शुक्ल रसाल, शान्तिलाल जैन बालेन्दु एवं किशोरीदास वाजपेयी।

(२६) इस प्रसंग में हिन्दी के सुविज्ञ आलोचक आचार्य रामचन्द्र शुक्ल का नाम अत्यन्त आदर से ग्रहण करना चाहिए। इन्होंने रस अथवा साधारणीकरण के प्रसंग में रसा-भास के स्वरूप को कुछ स्थानों पर रसाभास शब्द का प्रयोग करके और कुछ स्थानों पर रसा-भास शब्द का बिना प्रयोग किये ही भली प्रकार स्पष्ट किया है। इनके अनुसार पात्र द्वारा भाव की व्यञ्जना करने में कवि के दो रूप होते हैं—सहज और आरोपित। इनमें से आरो-पित भाव वस्तुतः रसाभास ही है। एक अन्य स्थल पर इन्होंने लिखा है—जैसे कोई क्रोधी या क्रूर प्रकृति का पात्र किसी निरपराध या दीन पर क्रोध की प्रबल व्यंजना कर रहा है तो श्रोता या दर्शक के मन में क्रोध का रसात्मक संचार न होगा। उनके अनुसार ऐसे स्थलों पर पाठक शीलद्रष्टा के रूप में होता है और उसके चित्त में उस क्रोध व्यक्त करने वाले के ही प्रति घृणा आदि कोई भाव जागरित हो जाता है।[४१] उनके ये कथन रसाभास के विषय में नवीन विचारधारा को जन्म देते हैं।

(२७-२९) यहाँ डॉ० राकेश गुप्त, डॉ० आनन्द प्रकाश दीक्षित एवं डॉ० प्रेमस्वरूप गुप्त के नामों का भी उल्लेख करना अनिवार्य है।[४२] इन्होंने अपने प्रबन्धों में प्रसंगवश रसाभास का विवेचन प्रस्तुत किया है।

(३०) डॉ० नगेन्द्र ने अपने सुप्रसिद्ध ग्रन्थ 'रस सिद्धान्त' में रसाभास का तात्विक विवेचन किया है।

(३१) डॉ० कृष्णदेव झारी ने 'रसशास्त्र और साहित्य समीक्षा' में इस पर विचार किया है।

अन्त में निष्कर्ष रूप में निम्नोक्त तथ्य द्रष्टव्य हैं—

(१) संस्कृत आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसाभास का विषय यद्यपि हिन्दी आचार्यों की तुलना में अधिक गुरु है तथापि उसमें भी अनिवार्य गम्भीरता का अभाव है।

(२) किसी भी आचार्य ने रसाभास का शास्त्रीय एवं वैज्ञानिक विवेचन कर उसे तर्कसंगत परिणति तक ले आने का प्रयत्न नहीं किया। सच तो यह है कि वे रसादि में रस-सिद्धान्त के सूक्ष्म से सूक्ष्मतर विवेचन एवं विश्लेषण में दत्तचित्त रहे, उन्हें रसाभास पर विचार करने का अवकाश नहीं रहा अथवा इस पर गम्भीर विचार करने की उन्होंने आवश्यकता अनुभव नहीं की।

(३) सभी आचार्यों ने इसका स्वरूप अनौचित्य पर आधारित किया है, और नैतिक सीमाओं में आबद्ध होने के कारण अनौचित्य का आधार मुख्यतः अनैतिक तत्व स्वीकार किया है। चित्त पर प्रतिकूल प्रभाव डालने वाले अन्य तत्वों तिर्यगादिगत भाव, निरिन्द्रियगत भाव, विरोधी भाव का आगमन, अंग रस की प्रमुखता का इस प्रसंग में किसी-किसी आचार्य ने उल्लेखमात्र किया है। कुल मिलाकर वे रसाभास का कोई सुनिश्चित स्वरूप प्रकट नही कर पाए। इसकी अनुभूति एवं रसाभास के प्रसंग में हुई चित्त की अवस्था के सम्बन्ध में इन्होंने कोई अन्तिम निष्कर्ष प्रस्तुत नहीं किया। फिर भी इनके रसाभास के सम्बन्ध में दिए गए संकेत अत्यन्त महत्वपूर्ण हैं। उनका विस्तार करके रसाभास के सम्बन्ध में अनेक प्रश्नों का समाधान प्रस्तुत किया जा सकता है।

(४) संस्कृत आचार्यों की तुलना में हिन्दी आचार्यों द्वारा प्रस्तुत रसाभास का विषय अत्यन्त सामान्य है। इन्होंने उसका उल्लेख मात्र किया है।

सन्दर्भ-संकेत

(१) (क) एण्टी थिएस्टिक थिओरीज, पृ० ६.४४६। (ख) ऐसेज (जान फास्टर), पृ० ३५। (ग) नेचुरल थिओलॉजी (चेमर्स)।

(२) (क) लोकस्वभावानुकरणच्च।

(ख) लोकवृत्तानुकरणम्। —नाट्यशास्त्र (काव्यमाला), पृ० १३०।

(३) नानाशीलाः प्रकृतयः शीले नाट्यं विनिर्मितम्।
उत्तमाधममध्यानां वृद्धबालिशयोषिताम्॥
तुष्यन्ति तरुणाः कामे विदग्धाः समयान्विते।
अर्थेष्वर्थपराश्चैव मोक्षे चाथ विरागिणः॥
शूरास्तु वीर रौद्रेषु नियुद्धेष्वाहवेषुच।
धर्माख्यानेपुराणेषु वृद्धास्तुष्यन्ति नित्यशः॥ —नाट्यशास्त्र, २७।५७-५६।

(४) काव्यालंकार, ३।७ (५) काव्यादर्श, २।२७५ (६) काव्यालंकार संग्रह, पृ० ५४। (७) काव्यालंकार संग्रह, पृ० ५६।

(८) रसभावतदाभास तत्प्रशान्त्यादिरक्रमः।
ध्वनेरात्माङ्गिभावेन भासमानो व्यवस्थितः॥ —ध्वन्य० २।३।

(९) अनुकृतिरमुख्यता इति ह्येकोऽर्थ —० लोच० पृ० १७६।

(१०) हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५२० । (१) हिन्दी अभिनव भारती, पृ० ५१८ । (१२) काव्य प्रकाश, पृ० १२१ । (१३) काव्य प्रकाश, पृ० १२१ । (१५) काव्यानुशासन, पृ० १३० । (१३) अलंकार सर्वस्व, पृ० २३१ । (१७) चन्द्रालोक, ६।१६ । (१८) अनौचित्य चात्र रसानां भरतादि प्रणीत लक्षणानां सामग्री रहितत्वे सत्येक देशयोगित्वमलक्षणपरं बोध्यम् । —सा० द०, पृ० १२५ ।

(१९) रसभावौतदाभासो......सर्वेऽपि रसनाद्रसाः ।

रसनधर्मयोगित्वाद्भावादिष्वपि रसत्वमुपचारादित्यभिप्रायः ।–सा०द०, ३।२६० ।

(२०) अलंकार शेखर, पृ०८८ (२१) (क) भावप्रकाशन, पृ०१३३ (ख) अंगेनांगीरस. स्वेच्छावृत्ति वर्धित सम्पदा, र० सु०, २६३ (२२) रसार्णवसुधाकर, पृ० २०६ (२३) रस-तरंगिणी, पृ० १७८ (२४) श्री हरिभक्ति रसामृत सिन्धु, पृ० ४६४-४६७ (२५) रसगंगाधर, पृ० ९९-१०१ (२६) अलंकार महोदधि, पृ० ९६-९७ (२७) नञ्जराज यशोभूषण, पृ० ३८ (२८) रसरत्न प्रदीपिका (२९) साहित्यसार (३०) देखिए, रससिद्धान्त स्वरूप विश्लेषण, पृ० २४८ (३१) नम्बर आफ रसाज, पृ० १४५ से उद्धृत (३२) (क) रसरहस्य, ३।६६ (ख) भाव कौ अंग रसाभास । यथा—

इक चुम्बत इक कर गहत, आलिंगत भरि बांह ।
तुम वैरिन की बाम बन, भ्रमति फिरति बिन नांह ।।

(३३) जहाँ अनुचित रसभाव को रसाभास तहँ जानि ।

रस ग्रन्थन अवगाहि कै कविजन कहत बखानि ।। —का० विलास, ३।७८ ।

(३४) रसाभास अनुचित करै, पुत्र पिता सों रार ।

हाँसि करै गुरुदेव की, रमै अगम्या नार ।।—चमत्कार चंद्रिका, ४४४, पृ०७३ ।

(३५) जुगल प्रकाश, ५५-५६ ।

(३६) (क) कै अनुचित रस भावजित ते कहिये आभास ।—कविता रसविनोद, ७६ ।

(ख) जहाँ अनुचित होय तहाँ रसाभास । —मानस रहस्य, ५० ।

(ग) रस विवेक, पृ० ८३ ।

(३७) रसाभास अनुचित कथन सीमा सो नहि काम ।

चराचरहुँ मर्याद तजि भये सकल बस काम ।। —रस रत्नाकर, पृ० १०४ ।

(३८) देखिए, प्रेमसुधा रत्नाकर, पृ० ११-१२, ७१-७२, ९२-९३, १६९-१७१ । (३९) (क) रसकलस, पृ० ६४-७२ । (ख) काव्यकल्पद्रुम, पृ० १४९-१५१; रसमंजरी, २८२-२८६ । (ग) काव्यालोक, पृ० २६३-२६८, (घ) काव्यदर्पण, २९३, (ङ) रसवाटिका, १२८-२९ । (४०) (क) रसरत्नाकर, पृ० ४२-४५; (ख) नवरस, पृ० ४७९-८१ । (ख) रस और अलंकार, ८४; काव्य प्रवेशिका, ९४-९६ । (घ) हिन्दी काव्य शास्त्र, ७३-७४ । (४१) रसमीमांसा, पृ० ९१, ३१४ ।

शब्द और अर्थ : हिन्दी-संत-साहित्य के सन्दर्भ में

• राजदेव सिंह

अपने रूढ़-सीमित अर्थ में 'भाषा' यादृच्छिक वाक्प्रतीकों की वह व्यवस्था है, जिसके माध्यम से मानव-समुदाय परस्पर व्यवहार करता है।[1] भाषा का अर्थ देने के लिए विश्व के विभिन्न देशों और उनकी बोलियों में जिन शब्दों का प्रयोग होता है, वे सभी भाषण-अवयवों से उद्भूत ध्वनि-परम्परा को ही भाषा मानने का समर्थन करते हैं। भाषा शब्द संस्कृत 'भाष्' से निष्पन्न है। 'वाक्' और 'वाणी' भाषा के दूसरे पर्याय हैं। लेटिन के 'लिंगुआ,' अंग्रेजी के 'टंग', फ्रेंच के 'लांग' एवं 'लांगाज', ग्रीक के 'लेइख़ेइन' तथा फ़ारसी के 'ज़बान' का सम्बन्ध सीधे-सीधे जिह्वा से है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि अपने अव्यक्त अन्तरतम को अभिव्यक्त करने में मनुष्य ने ध्वनि-अवयवों का पूरा उपयोग किया है। अतः सर्वत्र भाषा को ध्वनि-अवयवों से उद्भूत यादृच्छिक वाक्-प्रतीकों की व्यवस्था कहकर स्वीकारा गया है। व्यवहार-सौकर्य के लिए यह अनिवार्य था। लेकिन इसका तात्पर्य यह नहीं है कि वर्णमयी भाषा ही 'भाषा' है, और कुछ भाषा हो नहीं सकता। भाषा मूलतः विचारों, भावों, इच्छाओं, और इन सबको जन्म देने वाली स्थितियों को अभिव्यक्त करने का माध्यम है। थोड़े में कहना हो तो कहा जा सकता है, या कहा जाता रहा है कि भाषा हर अभिव्यक्ति का मौलिक आधार है।[2] अतः अभिव्यक्ति का हर आधार 'भाषा' है।

आगे थोड़े विस्तार से समझने का अवसर मिलेगा कि 'भाषा' विचारों की जननी है,[3] विचारों की वाहिका है और भाषा ही विचार है[4] —अर्थात् भाषा 'कारण' भी है, 'कार्य' भी है और 'कर्त्ता' भी है। भाषा को नितान्त रूढ़-सीमित अर्थ में परिभाषित करने की वैज्ञानिक अनिवार्यता के बावजूद आधुनिक भाषा-विज्ञान यही मानता है। प्राचीन भारतीय दर्शनों ने शब्द को ब्रह्म (कारण, कार्य और कर्त्ता) कह कर इसी मान्यता को स्वीकृति दी है।

योग-दर्शन के अनुसार 'शब्दब्रह्म' प्राणिमात्र मे स्थित चैतन्य के सिवा कुछ नहीं है। यही चैतन्य शब्द और अर्थ के रूप में अभिव्यक्त होकर जगत् की सृष्टि का हेतु बनता है।[5] अतः जो अखण्ड, असीम, अव्यक्त, नाद-बिंदु-मय, और निश्शब्द है, वही परब्रह्म या परमात्मा है। फर्क केवल सूक्ष्मता और स्थूलता का है। इसप्रकार चूंकि शब्द ब्रह्म ही इच्छा क्रिया और ज्ञान से समन्वित होकर स्थूल-सृष्टि का कारण बनता है अतएव यह सम्पूर्ण सृष्टि

शब्द—अतः माया है। इसी बात को हठयोग प्रदीपिका में यों कहा गया है कि जहाँ तक आकाश है वहाँ तक ब्रह्म की सिसृक्षा का संकल्प है, इच्छा है जहाँ तक शब्द है।'[६] जहाँ शब्द आहतशब्द (अर्थात् ध्वनि-अवयवों के संघर्ष-संकोच से उच्चरित होने वाला स्थूल वर्णात्मक शब्द) नहीं है, वह निःशब्द परब्रह्म ही परमात्मा है। अनाहतनाद सीमा और आकार से अतीत है, परमेश्वर है, जबकि नाद सीमा है, सृष्टि के लिए उन्मुख शिव की सिसृक्षा है, माया है—[७] वही माया जो समग्र सृष्टि है—'गो-गोचर जहँलगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई।'[८]

चूँकि भाषा हर अभिव्यक्ति का मौलिक आधार है, और यह समग्र सृष्टि किसी अखण्ड, असीम, अव्यक्त सत्ता (आवश्यक नहीं कि उसे ब्रह्म कहा ही जाय) का ही व्यक्त, स्थूल रूप है, अतः अपने हर छोटे-बड़े उपादान के साथ यह समग्र सृष्टि 'भाषा' है। जगत् में जो कुछ है, वह परमार्थतः कैसा है, इस पर कभी एक राय न रही है और न कभी एक राय हो ही सकती है। व्यक्ति जिनके बीच जनमता-पलता है, वे इस संसार को क्या और कैसा समझते हैं, यह उसे संस्कार के रूप में अन्य बहुत कुछ के साथ स्वतः मिल जाता है। आगे चलकर व्यक्ति जगत् को इन्हीं संस्कारों की भाषा के सहारे देखता-समझता है। जो कुछ उसे नया समझ में आता है उसको कभी वह पुरानी भाषा में नए अर्थ जोड़कर अभिव्यक्त करता है तो कभी नई अर्थ-सम्पत्ति वाली भाषा को जन्म देकर। यह काम वैचारिक और व्यावहारिक दोनों स्तरों पर सम्पन्न होता है—अतः एक ओर ध्वनि-अवयवों के माध्यम से अभिव्यक्त होने वाली नई शब्दार्थ-परम्परा का जन्म होता है, तो दूसरी ओर, नई आचार-विधियों की कल्पना द्वारा नए मतवादों एवं सम्प्रदायों की नींव पड़ती है। स्पष्ट है कि ये दोनों, दो स्तरों पर एक ही सत्य की अभिव्यक्ति के प्रयासी हैं, अतः एक ही हैं। समग्र व्यक्त-सृष्टि को ब्रह्म की शब्दात्मक अभिव्यक्ति कहकर भारतीय दर्शनों ने कोई अवैज्ञानिक बात नहीं कही है।

सो, वर्णमयी शब्दार्थ-परम्परा ही भाषा नहीं है; व्यक्ति, समाज, उसकी आशा-आकांक्षा, आस्था-विश्वास, रीति-नीति, भौतिक जीवन और उसकी विविध समस्याएँ, तथा इन सबके यथार्थ को अपने-अपने तरीके से अभिव्यक्ति देने वाली विचार-परम्पराएँ एवं सम्प्रदाय सभी, व्यापक अर्थ में भाषा हैं, क्योंकि इनका भी प्राण-धर्म उसी तरह 'अभिव्यक्ति' ही है जैसे भाषा का प्राणधर्म अभिव्यक्ति है।

यह स्वीकार करके ही अर्थ-विकास और भाषा-परिवर्तन की बात की जा सकती है। शब्दों के अर्थ-परिवर्तन को समझने के लिए, चाहे उन्हें कितने ही भागों-उपविभागों[९] में क्यों न बाँटकर देखा जाय, मूलतः वे बदलते हैं समग्र परिवेश की सापेक्षता में। अतः शब्दों का अर्थ-विकास समग्र परिवेश के बदलाव का सूचक होता है। शब्दों का अर्थ वक्ता, वाच्य, श्रोता, विवक्षा और प्रकरण—अतः समग्र परिवेश के बदलाव के अनुसार बदलता रहता है। यह परिवेश मानसिक भी होता है और शारीरिक भी।

शब्द और अर्थ की प्रस्तुत चर्चा संत-साहित्य के सन्दर्भ में उठाई गई है। संतों का साहित्य, धर्म और दर्शन का साहित्य है। चूँकि यह बहुत कम पढ़े-लिखे लोगों के लिए कम पढ़े-लिखे लोगों द्वारा रचित है, अतः इसकी अभिव्यक्ति थोड़ी आलंकारिक और काव्यात्मक हो गयी है[१०] वैसे मूलतः यह धर्म एवं दर्शन का साहित्य है

दर्शन परमसत्य के प्रत्यक्षीकरण तथा उस प्रत्यक्षीकरण से सम्बद्ध विचारों के प्रतिपादन की पारिभाषिक संज्ञा है। दूसरे शब्दों में, दर्शन मनसादृष्ट सत्य है।[११] धर्म, दर्शन को बहुजन हिताय बहुजन सुखाय, व्यावहारिक जीवन में आचरित करने की मर्यादा है।[१२] स्वाभाविक है कि कुछ ऋषियों, सिद्धों, सपुरुषों या संतों[१३] द्वारा साक्षात्कृत यथार्थ (जो दर्शन को रूप देता है) सांसारिक उलझनों में फँसे हुए सामान्य लोगों का यथार्थ नहीं हो सकता। अतः दर्शन को जीवन में उतारने के लिए आचार-परम्परा का विधान अनिवार्य है। विचारों का प्रतिपादन (= दर्शन) और तदनुसार आचारों का विधान (धर्म) दोनों की सार्थकता इसी में है कि ये अभिव्यक्त हों, लोग इन्हें समझें और देखें। अनुभूति तथा अभिव्यक्ति अर्थात् समझने-समझाने का सवाल भाषा बिना उपज ही नहीं सकता। बहुत-से विद्वान् इस बात पर एकमत रहे हैं कि भाषा के बिना चिन्तन असंभव है।[१४] भाषा जितनी ही समर्थ होगी, चिन्तन उतना ही गहरा होगा। भाषा और विचारों की सूक्ष्मता एक-दूसरे पर आधारित है। शब्दब्रह्म की कल्पना करने वाले इस देश में भाषा की इस शक्ति को बहुत पहले स्वीकार कर लिया गया था। छान्दोग्य उपनिषद् में कहा गया है कि 'यदि सृष्टि में वाक्तत्व न होता तो न धर्म-अधर्म की व्यवस्था होती, न सत्य-असत्य की, न साधु-असाधु की, न सहृदय-असहृदय की, न चित्तज्ञ-अचित्तज्ञ की ही, और न उनका विवेचन होता।[१५] ध्वनियों के माध्यम से व्यक्त होकर वाक् ही सबको विज्ञापित करती है। भर्तृहरि ने 'वाक्यपदीय' में कहा है कि शब्द के बिना अर्थ प्रकाशित नहीं हो सकते। व्यवहार में तो शब्द के बिना काम ही नहीं चल सकता। कोई भी बोध शब्द के बिना प्रकट नहीं किया जा सकता।[१६]

यह एक सामान्य सत्य है कि शब्दों, संकेत-चिह्नों और प्रतीकों के द्वारा ही हम एक दूसरे को समझते-समझाते हैं। धर्म और दर्शन भी अपनी अभिव्यक्ति के लिए शब्दों पर निर्भर हैं। लेकिन पशुजगत् से लेकर मानव जगत् तक सर्वत्र देखा गया है कि शब्दों, संकेत-चिह्नों और प्रतीकों के प्रति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएं, संस्कार-भेद के कारण, भिन्न-भिन्न होती हैं। आधुनिक अर्थवैज्ञानिक इसीलिए शब्द विशेष की अपेक्षा उस शब्द, प्रतीक, संकेत-चिह्न तथा प्रतीक-परम्परा के प्रति जगने वाली मनुष्य की प्रतिक्रियाओं (= अर्थ) को अधिक महत्त्व देते हैं। कोई भी व्यक्ति किसी शब्द के प्रति जब अपनी प्रतिक्रिया व्यक्त करता है तो यह प्रतिक्रिया उस शब्द की ध्वनियों के प्रति न होकर, विभिन्न ध्वनियों या पदों से निर्मित उस शब्द के अर्थ के प्रति होती है। अतः आधुनिक अर्थ-विज्ञान की यह मूलभूत प्रपत्ति है कि शब्दों का अर्थ शब्दों में न होकर हमारी अर्थगत प्रतिक्रियाओं (सिमैंटिक रिऐक्शंस) में निहित होता है—वैसे ही जैसे सौ रुपए के नोट का मूल्य कागज़ के टुकड़े में न होकर उस सामाजिक अनुबंध में होता है, जो कागज के उस टुकड़े का मूल्य सौ रुपया समझा कर हममें तदनुकूल प्रतिक्रिया जगाता है। किसी शासन-व्यवस्था के टूटने के साथ जब यह सामाजिक अनुबंध टूट जाता है, सौ, हज़ार या लाखों रुपयों के नोट कागज में रद्दी टुकड़े होकर रह जाते हैं। बहुत कुछ यही स्थिति शब्दों के साथ है। तात्पर्य यह कि शब्द और अर्थ का सम्बन्ध अस्थिर और [illegible] है लेकिन प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्री मनीषियों ने शब्द और अर्थ को [illegible] विच्छिन्न न मानकर नितान्त अविच्छिन्न माना

है। उनके मत से शब्द और अर्थ अभिन्न हैं — एकस्यैवात्मनो भेदौ शब्दार्थावपृथक् स्थितौ[१७] अर्थात् शब्द और अर्थ एक ही आत्मा के दो भेद हैं, इनकी स्थिति अपृथक् है। वेदान्तदर्शन के अनुसार जिस प्रकार ज्ञाता (आत्मा) की परमपरिणति ज्ञेय (ब्रह्म) के रूप में होती है वैसे ही शब्द द्वारा अर्थ अपने रूप को प्रकट करता है।[१८] कालिदास ने अर्थ की प्रतिपत्ति के लिए वाक् (शब्द) और अर्थ को 'सम्पृक्त' माना है।[१९] तुलसीदास भी जल और लहर की भाँति शब्द और अर्थ को अभिन्न मानते हैं।[२०] निरुक्त में अर्थ को वाणी (शब्द) का पुष्प और फल कहा गया है।[२१]

प्राचीन भारतीय भाषाशास्त्रियों ने शब्द और अर्थ के अभेद सम्बन्ध को ही नहीं, उनके नित्य-सम्बन्ध को भी बहुशः स्पष्ट किया है।[२२] मीमांसा दर्शन इस नित्यसम्बन्ध में पूरा विश्वास रखता है।[२३] आधुनिक भाषा-वैज्ञानिक इससे सहमत नहीं हैं। उनके मत से शब्दों के साथ अर्थ को ऐच्छिक रूप से सम्बद्ध कर दिया गया है[२४] क्योंकि एक शब्द जिस वस्तु का अर्थ देता है, कोई दूसरा शब्द भी उस वस्तु का अर्थ दे सकता है, देता है। साथ ही कोई एक शब्द जो अर्थ देता है ठीक वही शब्द उससे भिन्न कोई दूसरा, या कई दूसरे, अर्थ भी दे सकता है। संस्कृत और हिन्दी में 'राग' का अर्थ प्रेम भी है और रंग भी। साथ ही यह संगीत के राग या स्वरग्राम का भी बोध कराता है।[२५] बंगला और मराठी में वही 'राग' क्रोध का अर्थ देता है। सरह के 'सहज' का जो अर्थ है, कबीर के 'सहज' का अर्थ ठीक इसके विपरीत पड़ता है।[२६] अतः शब्द और अर्थ का सम्बन्ध नित्य नहीं है, यह याद्दच्छिक और सामाजिक स्वीकृति से उद्भूत '**सामयिक सम्बन्ध**' है। आधुनिक भाषा-वैज्ञानिकों की ही भाँति हमारा वैशेषिक दर्शन भी शब्दार्थ-सम्बन्ध को '**सामयिक**' मानता है।[२७] शब्द और अर्थ के नित्य-सम्बन्ध को स्वीकार करने वाले मीमांसासूत्र १, १, ५ का भाष्य करते हुए शबरस्वामी ने शब्द और अर्थ को स्वभाव से ही असम्बद्ध बताया है।[२८] शब्दों के अर्थ-विकास संबधी वैज्ञानिक अध्ययन शब्दार्थ-सम्बन्ध की असम्बद्धता का ही प्रमाण देते हैं, क्योंकि हम आगे साधार रूप से देख सकेंगे कि शब्दों के अर्थ सूक्ष्म रूप से बदलते रहते है और निरन्तर घटित होते रहने वाला यह परिवर्त्तन कभी-कभी पहले अर्थ से एकदम विपरीत पड़नेवाले अर्थ विकसित कर देता है।

शब्द और अर्थ की नित्यता कहाँ रही ? आधुनिक अर्थवैज्ञानिक अनुसंधानों ने स्पष्ट किया है कि हम पूर्ववृत्त[२९] और परवृत्त[२९] के आधार पर शब्द का अर्थ सीखते हैं और समाज में उसका, और उस तरह, व्यवहार करते हैं। इसलिए समाज के सभी व्यक्तियों के अर्थ प्रायः एक-से होते हैं। शब्दों में नए अर्थ भरने की निरन्तर गतिशील प्रक्रिया रहे-सहे अन्तर को भी भर देती है। इसप्रकार अन्तर की सम्भावना कम होती जाती है।

लेकिन फिर भी अन्तर रहता है। कह आए हैं कि किसी भी शब्द, प्रतीक, संकेत चिह्न या प्रतीक-परम्परा के प्रति भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रतिक्रियाएँ संस्कारभेद के कारण भिन्न-भिन्न होती हैं। व्यवहारवादी विद्वान् वक्तव्य के 'पूर्ववृत्त' तथा 'परवृत्त' पर इसीलिए विशेष बल देते हैं।

वक्तव्य के पहले वास्तविक जगत् में जो कुछ घट चुका है वही उस वक्तव्य का पूर्ववृत्त

है। 'मुझे भूख लगी है' यह एक सीधा-सा वक्तव्य है। इस वक्तव्य का पूर्ववृत्त यह हो सकता है कि कहने वाले ने कई दिनों से खाना नहीं खाया है और अब वह भूख से परेशान है। यह भी हो सकता है कि सुबह खाने के बाद उसे इस समय फिर कुछ खाने की इच्छा हो रही है। यह भी संभव है कि उसे भूख न लगी हो, वह केवल विनोद कर रहा हो। इस पूर्ववृत्त की सहस्रों सम्भावनाएँ हो सकती हैं। इनमें से कौन-सी सम्भावना किस-किस के मन में उठेगी यह कहा नहीं जा सकता। चूँकि शब्द का अर्थ मनुष्य के मस्तिष्कगत संस्कारों में रहता है और हर व्यक्ति के मस्तिष्क की बात सामने प्रकट रूप से प्रदर्शित नहीं की जा सकती, अतः इस बात की कोई व्यवस्था अब तक संभव नहीं हो सकी है, जिसके द्वारा सभी लोग किसी शब्द के अपने-अपने अर्थ को सामने रखकर एक-दूसरे के अर्थ से उपयोगी तुलना कर सकें और किसी प्रकार का अन्तर न रहने दें। रहा परवृत्त। वक्ता की बात सुनने के बाद उसका जो परिणाम होता है उसे 'परवृत्त' कहते हैं। 'मुझे भूख लगी है' यह वक्तव्य सुनकर संभव है श्रोता उसे किसी होटल में ले जाय, संभव है उसके लिए खाना बनाने लग जाय, संभव है अपने कटोरदान से कुछ निकालकर दे दे, संभव है दो-चार आने पैसे निकालकर उसकी ओर फेंक दे, संभव है उसकी ओर देखे और एक निश्वास छोड़ कर चल दे, संभव है इस तरह भीख न माँगने की सीख देकर फटकार दे, संभव है वक्ता की ओर देखे भी न, और सुनी-अनसुनी करके आगे बढ़ जाय। हजार संभावनाएँ हैं। वैयक्तिक स्तर पर ये संभावनाएँ संस्कारभेद के कारण अनन्त है। उन्हे एक करना असम्भव है।

लेकिन, चूँकि भाषा के द्वारा समाज का संचालन होता है और इसके लिए भाषा का परस्पर समझा जाना आवश्यक है, अतः व्यावहारिक प्रयोग में शब्द का एक सर्वस्वीकृत अर्थ मान लिया जाता है। लेकिन समाज-स्वीकृत प्रतिक्रिया के साथ ही व्यक्तिगत संस्कारों से जगने वाली प्रतिक्रिया भी जगा करती है और अदृश्य रूप से शब्दो के अर्थ बदलते रहते हैं। यह परिवर्तन निरंतर चलता रहता है और एक लम्बे समय के बाद किन्हीं विशेष परिस्थितियो मे शब्द का अर्थ एकदम उलटा हो जा सकता है। संस्कृत के त्यागी का ध्वनिपरिवर्तित रूप चाईं, चोर और उचक्के का अर्थ देने लगा, सपत्न का अर्थ भाई से शत्रु बन गया, 'उस किनारे पर रहने वाले' का वाचक प्रतिकूल शत्रु का वाचक बन बैठा। शब्द और अर्थ का यह अनित्य-संबध अर्थ-विकास का मूल कारण है।

शब्दों की अर्थ-प्रवृत्ति को समझने के लिए यह समझना आवश्यक है कि शब्द और अर्थ में अनित्य-संबंध क्यों होते हैं? ये संबंध नित्य क्यों नहीं होते?

पूर्ववृत्त और परवृत्त की समीक्षा में हमने देखा है कि शब्दों का अर्थ मानव-मस्तिष्क मे रहता है और मानव-मस्तिष्क की बात को भौतिक रूप से प्रत्यक्ष नहीं किया जा सकता। अतः अर्थ-प्रतिक्रियाएँ भिन्न-भिन्न रहने को विवश हैं। जहाँ बिसमिल्ला ही अनेक हों वहाँ नित्य संबंध असम्भव है। परिणामतः अर्थ बदलते रहकर शब्दार्थ-सम्बन्ध को अनित्य बनाते रहते हैं। यह अर्थपरिवर्तन का आन्तरिक कारण है।

अर्थ-परिवर्तन के कतिपय बाहरी कारण भी होते हैं। हर परिवर्तित परिस्थिति चिन्तन को भी अनिवार्य रूप से बदलती है और व्यवहार को भी। परिवर्तित परिस्थितियों के आग्रह-

वश पुराना चिन्तन बदलता है, नया चिन्तन नए दर्शन की प्रतिष्ठा करता है। विचार के साथ आचार बदलते हैं; पुराने शब्दों में नए अर्थ स्वयं भरते जाते हैं। कभी-कभी जबरन भर भी दिए जाते हैं।[31] शब्द 'वही' या 'लगभग वही' रहता है, पर उसकी अर्थ-सीमा बदल जाती है। शब्द और अर्थ के सम्बन्ध को नित्य न होने देने के ये ही प्रमुख कारण हैं। इन्हीं के आग्रह से अर्थ-विकास सम्भव होता है। इन्हीं दो से कार्य-कारण की अनन्त परम्परा शुरू होती है। विद्वानों ने इस अग्राह्य कार्य-कारण-परम्परा को विश्लेषित करने की हजारों कोशिशें की है।[32] पर हर कोशिश के बावजूद पाया है कि 'अर्थ-परिवर्तन' के कारण अभी तक ढूँढे नहीं गए हैं, और शायद वे ढूँढे भी नहीं जा सकते।'[33]

अर्थ-विकास की कार्य-कारण-परम्परा को जहाँ तक पकड़ा जा सका है, उसमें प्रयत्न-सौकर्य का हाथ काफी महत्वपूर्ण है। ध्वनि-परिवर्तन की ही भांति अर्थ-परिवर्तन में प्रयत्न-सौकर्य के महत्त्व का निरूपण विद्वानों ने किया है।[34]

अनुभव की वृद्धि के साथ शब्दों में अर्थ-विकास अनिवार्य है, क्योंकि नए अनुभवों को व्यक्त करने के लिए नई अर्थ-सीमा वाले शब्दों की आवश्यकता अनिवार्य है। इस काम के लिए बहुधा नए अर्थ के आसपास पड़ने वाले किसी पुराने शब्द में नए अर्थ भर कर काम चलाना, नए शब्द बनाने की अपेक्षा थोड़ा आसान है।

अनुभव दो तरह के होते हैं **आत्मानुभव** और **परानुभव**। इन्हें **आत्मप्रत्यक्ष** और **परप्रत्यक्ष** भी कहा जा सकता है। आत्मप्रत्यक्षजन्य संस्कार अपेक्षाकृत् अधिक गहरे होते है अत जल्दी मिटते नहीं, किन्तु परप्रत्यक्ष बुद्धिग्राह्य होने के कारण अधिक सूक्ष्म और अस्थिर होते है। अस्थिरता सर्वत्र विकासधर्मी और परिवर्तनशील होती है। चूंकि अनुभवों का विकास भाषा के माध्यम से अभिव्यक्ति पाता है, अतः पुराने शब्दों में नए अर्थ स्वभावतः आते रहते है।

दर्शन बहुधा परप्रत्यक्षानुभव होते हैं, अतः दार्शनिक उपलब्धियों के वाहक दार्शनिक शब्द भी परप्रत्यक्षानुभव के वाचक होने के कारण अर्थ की दृष्टि से बहुधा अस्थिर और परिवर्तनधर्मी होते हैं। अनुभव की व्यक्ति-स्तर और समाजस्तर पर भिन्न-भिन्न सीमाएं है। कोई रंगांध (colour blind) जब लाल, पीले रंग को भी भूरा ही देखता है तो वह उन्हें लाल या पीला नहीं समझ सकता। बहरे के लिए हिलते हुए मुँह बस हिलते ही हैं, बोलते नहीं। अनुभव की यह वैयक्तिक सीमा है। सामाजिक विधि-निषेध भी बड़े पैमाने पर एक सीमा हैं। वंश-परम्परा की भी सीमाएँ होती हैं। हम जो कुछ देखते-समझते है, वह सच ही है, ऐसा मानना भ्रम है। जगत् में परम सत्य कुछ है ही नहीं, जो कुछ है वह सत्याभास मात्र है। आभास बदलते हैं तो अनुभव बदल जाते है; अनुभव बदलते हैं तो अनुभवों के बदलाव की सूचना देने वाले शब्दों के अर्थ बदल जाते हैं। अर्थ के इस बदलाव में भूगोल और इतिहास का हाथ भी बहुत महत्वपूर्ण होता है। सभ्यता-संस्कृति के विकास, भिन्न सभ्यता-संस्कृति के आपसी मेल मिलाप, समाज और जीवन में घटित या सम्भावित घटनाएँ-दुर्घटनाएँ, नव-जागरण, वैज्ञानिक-औद्योगिक विकास आदि भिन्न-भिन्न रूपो मे हमारे अनुभवों को बदलते है, अतः अर्थ-परिवर्तन के सामाजिक, राजनीतिक, धार्मिक, आर्थिक स्थितियों में जहाँ भी कोई परिवर्तन (= विकास) आया है शब्दो में अर्थ-विकास अवश्य हुए हैं अर्थ विकास का एक बहुत बड़ा

कारण स्वयं भाषा की प्रकृति भी है, क्योंकि भाषा के शब्द और उन शब्दों द्वारा बोध्य वस्तु या विचार के बीच कोई निश्चित अनुपात नहीं होता।[१५] स्पष्ट है कि शब्दार्थ की मूल प्रकृति विकासधर्मी है और समुचित परिस्थिति पाकर शब्दार्थ स्वभावतः बदलता रहता है। अर्थ-विकास की परिस्थितियों या कारणों की विस्तृत समीक्षा के लिए काफी विस्तार में जाना पडेगा अतः यहाँ इतना ही जान लेना पर्याप्त है कि शब्दार्थ-सम्बन्ध नितान्त अनित्य और वैकल्पिक होते हैं।

संदर्भ-संकेत

(१) "A language is a system of articulatory vocal symbols by means of which a social group co-operates." An outline of Linguistic Analysis, Bernard Block & George L. Trager, Ch. 1, 1. (२) द मिरैकिल आफ लैंग्वेज, कार्लटन लेयर्ड, फर्स्ट प्रीमियर प्रिंटिंग, १६५७, पृ० २२४ (३) भाषा के बिना अभिव्यक्ति संभव ही नहीं। दे० आगे, (४) भाषा के बिना विचार की स्थिति भी असभव है। दे० आगे।

(५) चैतन्यं सर्वभूतानां शब्द ब्रह्मेति मे मतिः।
तत्प्राप्य कुण्डली रूपं प्राणिनां देह मध्यगम्।
वर्णात्मनाविर्भवति गद्यपद्यादि भेदतः॥

(६) तावदाकाश संकल्पो यावच्छब्दः प्रवर्त्तते।
निःशब्दं तत्परंब्रह्म परमात्मेति गीयते॥
— हठयोगप्रदीपिका, ४, १०२, तथा नादबिन्दूपनिषद् ४७-४८

(७) यत्किंचित् नादरूपेण श्रूयते शक्तिरेव सा।
यस्त्वांतो निराकारः स एक परमेश्वरः॥ वही, ४, १०१

(८) रामचरितमानस (गीता प्रेस) अरण्यकाण्ड, दोहा १५, चौपाई ३ (९) विस्तृत विवरण के लिए दे० आगे। (१०) (a) "The speech of modern savages is often spoken of as abounding in similies and allkind of figurative phases"—O Jesperson, language, p. 432 (b) "× × in the dialogues of 'Bhasas' plays the similies are uttered chiefly by the Vidushak and by persons of lower rank and station in life, such as servants, maids etc.—J. Gonda, Remarks on Similies in Sanskrit Literature," 1949, para 1,p, 13. (११) विस्तृत विवरण के लिए दे० मेरा शोध-प्रबन्ध, 'अर्थ-विकास की दृष्टि से हिन्दी-सन्त-साहित्य के दार्शनिक एवं धार्मिक शब्दों का अध्ययन', पैरा ३-४ (१२) वही, पैरा ५। (१३) राहुल जी ने ऋषि, मुनि, सिद्ध, सपुरिस (सत्पुरुष) तथा संत शब्द को विभिन्न कालों में प्रचलित एकार्थी शब्द माना है। दे० डॉ० त्रिलोकी नारायण दीक्षित की पुस्तक संत-दर्शन', प्रथम संस्करण की भूमिका पृ० २ (१४) डॉ० बाबूराम सक्सेना

ने चुनौती के लहजे में कहा है भाषा विचार करने का भी साधन है इसका प्रत्यक्ष प्रमाण यही है कि यदि कोई भी विचार करने बैठे तो भाषा की मदद के बिना नहीं कर सकता। जिसको सन्देह हो वह प्रत्यक्ष करके देख ले।" (१५) "यद्वै वाङ्नाभविष्यन्नधर्मो नाधर्मो व्यज्ञापयिष्यन्नसत्यंनानृतं न साधु नासाधु न हृदयज्ञानो हृदयज्ञो वागेवैतत्सर्वं विज्ञापयति वाचमुपस्वेति।" —छान्दोग्य, ७, १-२

(१६) "न सोऽस्ति प्रत्ययो लोके यः शब्दानुगमादृते।
अनुविद्धमिव ज्ञानं सर्वं शब्देन भासते॥" —वाक्यपदीय १, १२४

× × × × ×

"अर्थक्रियासु वाक्सर्वां समीहयन्ति देहिनः॥ वही, १, ११८

(१७) वाक्यपदीय, २, ३१

(१८) वही, १, ५०—"आत्मरूपं यथा ज्ञाने ज्ञेयं रूपं च दृश्यते।
अर्थरूपं तथा शब्दे स्वरूपं च प्रकाशते॥"

(१९) "वागर्थाविव सम्पृक्तौ वागर्थ प्रतिपत्तये।
जगतः पितरौ वन्दे पार्वतीपरमेश्वरौ" —रघुवंश, १,१

(२०) गिरा-अरथ जल-बीचि सम कहियत भिन्न न भिन्न।
बन्दौं सीताराम पद जिनहिं परमप्रिय खिन्न॥—मानस, बाल०, दोहा १८

(२१) अर्थं वाचः पुष्प फलमाह।—निरुक्तम्, लक्ष्मणस्वरूप, १, २०

(२२) नित्याः शब्दार्थ सम्बन्धाः समाम्नाता महर्षिभिः।
सूत्राणां सानुतंत्राणां च भाष्याणां प्रणेतृभिः। वाक्यपदीय, १, २३

तथा

सिद्धे शब्दार्थ सम्बन्धे लोकतोऽर्थ प्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्म नियमः, यथा लौकिक वैदिकेषु।······नित्य पर्यायवाची सिद्ध शब्दः।······नित्योहि अर्थवतामर्थैरभिसंबन्धः॥—वाक्यपदीय, १, ७ (२३) औत्पत्तिकस्तु शब्दस्यार्थेन संबंधस्तस्यज्ञानमुपदेशोऽव्यक्तिरेकश्चार्थेऽनुपलब्धे तत् प्रमाणं बादरायणस्यानपेक्षत्वात्। १, १, ५; मीमांसादर्शन, वाल्यूम १ (२४) विशेष विवरण के लिए दे०; 'भाषा और भाषिकी', डॉ० देवीशंकर द्विवेदी। (२५) 'राग' के उक्त तथा अन्य अर्थों के लिए दे० संस्कृत-हिन्दी कोश, आप्टे, पृ०८२१ (२६) दे० मेरा शोध-प्रबन्ध, पैरा २२३-२४९, (२७) 'सामयिकः शब्दार्थ प्रत्ययः॥'—वैशेषिक दर्शनम्, ७, २, २० (२८) नैवशब्दस्यार्थेन संबंधः "स्वभावतोह्य संबंधावेतौ शब्दार्थौ॥ वही, वाल्यूम १ (२९), (३०) 'पूर्ववृत्त' अंग्रेजी के 'anticidents' का हिन्दी अनुवाद है और 'परवृत्त' 'consequences' का। (३१) सन्तों में जबरदस्ती नए अर्थ भरने की वृत्ति काफी मुखर है। सन्तों में ही नहीं, उपनिषदों, तंत्रों, सिद्ध नाथ-साहित्यों में—सर्वत्र यह वृत्ति देखी जा सकती है। उदाहरण के लिए दे० (क) छान्दोग्य उपनिषद् ३, १४, १ के तज्जलान शब्द में बलात् शंकराचार्य ने नया अर्थ भरने की कोशिश की है। (ख) गोरक्ष सिद्धान्त-संग्रह (पृ० ११; ४२; ४८) में 'नाथलक्षण' 'गोरक्ष' और 'राम' जैसे शब्दों में जबरन् अर्थ भरा गया है। (ग राजगुह्यतन्त्र (दे० नाथसम्प्रदाय, प्रथम संस्करण पृ० ३) एवं हठयोग प्रदीपिका ३

४७-४८ में 'नाथ' शब्द के साथ ऐसी ही जबरदस्ती की गई है। विशेष विस्तार के लिए दे० हिन्दी-साहित्यकोश, खण्ड १, संस्करण २ में 'गोमांस' और 'पंचमकार' पर लेखक की टिप्पणियाँ। (३२) दे० (i) F. G Tucker: Introduction to Natural History of Language p. 380-81 (ii) Elements of the Science of Language, I. J. S. Taraporewala, P. 90. (iii) Hardeva Bahari, Hindi Semantics. (iv) डॉ० शिवनाथ, 'अर्थतत्त्व की भूमिका'—आदि। (३३) "Laws of meaning change are not yet discoverd and are probably undiscoverable." F. G. Tucker, p. 373 (३४) Otto Jesperson, Language, p. 274. डॉ० शिवनाथ, अर्थतत्त्व की भूमिका, प्रथम संस्करण, पृ० १३-१६. (३५) Michel Breal, Semantics, p. 106 ।

परसन साहित्य : एक सांस्कृतिक मूल्यांकन

• विमलेशकांति वर्मा

परसन भारतेंदु युग के उन प्रतिभाशाली कवियों में से एक था, जिसने जन-प्रचलित भाषा तथा चिर-परिचित लोक-शैलियों में अपनी सामयिक परिस्थितियों का वर्णन करते हुए अँग्रेज़ों की कुटिल नीतियों के प्रति पाठकों को सजग किया है। उपदेशक कवि होते हुए भी उसकी रचनाओं की लोकप्रियता का कारण यही है कि उसने जो कुछ भी कहा, यथार्थ-जीवन की घटनाओं का उल्लेख करते हुए जन-मन-रंजन शैली में कहा। परसन के समय की सामाजिक, धार्मिक, राजनीतिक तथा आर्थिक अवस्था क्या थी, जनसाधारण की उसके प्रति क्या प्रतिक्रिया थी, इसका सही रूप जानने के लिए परसन-साहित्य से सहायता मिलती है और समसामयिक परिस्थितियों को समझने के लिए संभवतः भारतेंदु हरिश्चन्द्र, बालकृष्ण भट्ट, प्रतापनारायण मिश्र से भी अधिक इस कवि का साहित्य सहायक है।

परसन ने गद्य तथा पद्य दोनों ही शैलियों में रचनाएँ की हैं और सभी का स्वर व्यंग्यपरक है। व्यंग्य की प्रखरता के लिए परसन ने ग्रामीण शब्दावली तथा लोक-शैली को माध्यम बनाया है। कहीं परसन 'पंच महाराज के अजपाजाप' करने वालों की चिर-परिचित शैली में **'बिरथा जनम राम जी दीन—जस आए तैसे चलि जावैं जग मैं कछु निज नाम न कीन'** की रट लगाता हुआ अँग्रेज, सी० एस० वाई०, म्यूनिसपल कमिश्नर आदि पर व्यंग करता हुआ समसामयिक परिस्थितियों को पाठकों के सम्मुख रखता है, तो दूसरी ओर, बिरहा द्वारा भारत की दयनीय दशा का वर्णन करता है। इसी प्रकार **'लट पट पंछी चतुर सुजान'** कजली आदि के माध्यम से भी समाज में प्रचलित अंधविश्वास, लूट-खसोट, ठगी, फैशन, बेरोजगारी आदि का सही रूप पाठकों के सामने लाता है। यद्यपि व्यंग्यपरक और आक्षेपपूर्ण होने के कारण ये वर्णन कहीं-कहीं अतिशयोक्तिमय भी हो गए हैं।

परसन का युग अंग्रेज़ी राज्य का युग था। अँग्रेज हिंदू-मुसलमानों तथा विभिन्न वर्णों में भेद-भाव डालकर जहाँ एक ओर अपने राज्य को सुदृढ़ बनाने में व्यस्त थे, वहीं दूसरी ओर, भारत से सोना आदि अपने देश भेजकर, यहाँ के उद्योग-धंधों को हतोत्साहित कर भारत को इतना कमज़ोर भी बना देना चाहते थे कि वह फिर से अपना सिर न उठा सके। भारत को दिन-प्रतिदिन विदेशों पर अधिकाधिक निर्भर बनाते हुए भी भारतीय प्रजा को यह करते थे कि वे भारत को असभ्य से सभ्य राष्ट्र बना रहे हैं परसन

एक सजग कवि था, उसने अंग्रेजों की इस नीति को समझा था। इसीलिए 'नए तानसेन की राग' में उनसे प्रजा को समझाते हुए हिंदी-प्रदीप में लिखा था—

भारत के बलवान करन को, अंगरेजन नहिं भाता है।
भाई इसमें नेक झूठ नहिं, बहुत ठीक यह बाता है।
सोना चांदी रुई नाज सब, लदा विलाइत जाता है।
बदले जिसके अस्थि आदि का घृणित पदारथ आता है।
परजा भूखों मरे अन्न बिन, कछु नहिं इनसे नाता है।
नया-नया नित टिक्कस टटका, गढ़ गढ़ लंडन से लाता है।
गोरी काली प्रजा एक सम कहने को यह बाता है।
काली न्यौछावर गोरी पर साफ दिखलाता है।
लाभ नहीं कुछ कहने से है, कुदिन दिनों दिन आता है।
ईश्वर रक्षा करे हमारी, जो सब सुख का सोता है।[1]

अनेक पत्रिकाओं के सम्पादक प्रजा की दुखाग्नि का संकेत कर शासकों को किसी-न-किसी प्रकार से समझाना चाहते थे कि प्रजा दुखी है, किंतु यदि कोई कठोर शब्द या अपशब्द सम्पादक की लेखनी से उस समय निकल जाता था तो प्राय: उसका दंड या तो पत्रिका का आजन्म कारावास था या संपादक महोदय पर इतना अधिक आर्थिक दंड लगा देना था कि पत्रिका घिसट घिसट कर दम तोड़ दे। यही कारण था कि इस युग के लेखकों को अपनी बात कहने के लिए व्यंग्य का सहारा लेना पड़ता था, जिससे प्रजा तो बात समझ ले, किंतु शासक-वर्ग उसको पूर्णतया समझ न सके। इस संबंध में भी परसन-साहित्य में संकेत मिलते हैं। परसन कहता है—

'प्रजा के दुखाग्नि की लपट से, झुलसते हुए एडिटरों की लेखनी से कोई कठोर शब्द निकल जाए तो गवर्नमेंट उसे झट्ट डिसलायलटी के मद्द में दाखिल कर उस एडीटर को नजर पर चढ़ा के प्रजा के दुखों का गला फाड़-फाड़ कर कितना ही नरियाया करो सरकार कभी कान न दे कहो अचम्भा है या नहीं—ब्रिटिश राज में विचार कर देखो सब अचम्भा ही अचम्भा है।'[2]

कवि परसन प्रजा की ओर से राजा से विनती भी करता था और कहता था कि आप स्वयं ही विचार कर देखें, अब तो रक्षक ही भक्षक हैं—

हे सर्कार प्रजापते करिये नेक विचार।
रक्षक जो भक्षक करें केहि सन करो पुकार॥[3]

लेकिन इतनी प्रार्थना करने पर तथा परसन की शब्दावली में 'नरियाने' पर भी राजा की तरफ़ से प्रजा की कोई सुनवाई नहीं होती थी, इसलिए प्रजा इतनी निराश हो चुकी थी कि वह भारत के कल्याण की आशा ही खो चुकी थी परसन प्रजा के प्रतिनिधि के रूप में इसलिए कहता है

भविष्य के लिए भारत के कल्याण की आशा करना व्यर्थ है।[४]

ऐसे समय में भी, जब एक ओर अंग्रेजों के विरुद्ध भारतीयों ने अपने अधिकारों की रक्षा हेतु आंदोलन प्रारंभ किया था, कुछ ऐसे भारतवासी भी थे जो अपने बाप, बहिन, भाइयों की गर्दन पर छुरी चलाकर, अँग्रेजों की खुशामद तथा भारतवासियों की बुराई अँग्रेजों से केवल इसलिए किया करते थे क्योंकि इससे उनको छोटी-मोटी नौकरी मिलती थी। किसी किसी को के० सी० एस० आई० या रायबहादुर का खिताब भी मिल जाया करता था। ऐसे उपाधि-लोलुप तथा अँग्रेजों की खुशामद करने वाले व्यक्तियों का भी कथन उन्हीं की शब्दावली में सुनिए—

'के० सी० एस० आई० होंगे—राजा होंगे—बाबू होंगे-रायबहादुर बनेंगे, हुजूर के नजदीक कुर्सी पर बैठे हां में हां मिलावेंगे—देश को चौपट करेंगे, बलाय—हम तो नंदन बिहारी हो चैन उड़ावेंगे।'[५]

ऐसे पदलोलुप जहाँ खुशामद से किसी पद पर पहुँच जाते थे वहाँ जरा-सा भी यह ज्ञात होने पर या सशंकित होने पर कि वे उनकी (अँग्रेजों की) सहायता नहीं कर रहे थे, वे सरलतया पदच्युत भी कर दिये जाते थे। ऐसे पदच्युत हिन्दुस्तानी रईस का भारतवासियों के मध्य तो मूल्य रह ही नहीं जाता था, साथ ही अँग्रेज भी इनके विरोधी हो जाते थे। ऐसे पदच्युत हिंदुस्तानियों की स्थिति परसन के शब्दों में प्रस्तुत है—

'गवर्नमेंट की कोपाग्नि में शलभ तुल्य हो पदच्युत किए हुए हिंदुस्तानी रईस किसी काम के नहीं रहते।'[६]

जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, यह एक ऐसा समय था जबकि अँग्रेजों की नीति की आलोचना करने वाला सम्पादक तथा आलोचना प्रकाशित करने वाला पत्र दोनों को ही अँग्रेजों का कोपभाजन बनना पड़ता था। ऐसे विकट समय में कवियों को उनकी नीति की आलोचना करने के लिए व्यंग्य का सहारा लेना पड़ता था। पायनियर नामक एक पत्र का, जिसने अँग्रेजों की नीति की आलोचना की थी, सरकार का कोपभाजन बनना पड़ा था। इसका उल्लेख भी परसन-साहित्य में दुर्लभ नहीं है—

पनियर एक कह्यो कटुबादा—सो कोरट बिच भयो बिवादा।
प्रथमहिं हाकिम खारिज कीन्हा—बादी फिर तब नालिश कीन्हा।
तबहूँ माटी धूर मिलायो—हाकिम के कोन्हों मन भायो।
अन्त में न्याव कीन्ह सजा का—पनियर पर कीन्हों जुरमाना।
रुपिया तीन हजार बिरहिया--रुपिया तीन हजारी।[७]

पायनियर की नीति का परसन एक दूसरे स्थान पर संकेत भी करता है—'पायनियर' को देश-नाशक चुगली करने की टेक है।'[८]

काँग्रेस की गतिविधियों का, जो इस समय अँग्रेजों का विरोध कर भारतीयों का हित चाहने वाली एकमात्र भारतीय संस्था थी विशेष महत्व था काँग्रेस का जन्म १८८५ ई० में हुआ था इस संस्था का परिचय भी परसन-साहित्य से भली भांति मिल जाता है

कांग्रेस ही इस समय ऐसी संस्था थी जिससे इस समय अंग्रेज तक घबड़ाते थे और इसके प्रतिनिधियों की बातें बड़े ध्यान से सुनते थे। यह संस्था भारतवासियों के दुखों से शासकों को परिचित कराने के लिए अपने प्रतिनिधि विलायत तक भी भेजती थी—

महराजिन अब कौन सुनैहै—काँग्रेस जबहिं विलाइत जइहै।[९]

काँग्रेस का विरोधकर, अँग्रेजों की खुशामद कर लोग इस समय अच्छी सरकारी नौकरियाँ भी पा जाते थे, चाहे उनमे इसकी योग्यता हो अथवा न हो। वे अयोग्य व्यक्ति काँग्रेस द्वारा किए गए सरकारी विरोध से बड़ा घबड़ाते थे। काँग्रेस का विरोध कर अँग्रेजों को प्रसन्न कर छोटी-मोटी नौकरी पा जाने वाले ये देशद्रोही व्यक्ति केवल थोड़े से पैसों और पद के लोभ में देश में फूट डालने का बराबर यत्न किया करते थे, जिसमे उनके इस फूट डालने के कार्य से उनके स्वामी अँग्रेज प्रसन्न रहें और उनकी नौकरी पर किसी प्रकार की आँच न आने पाए—

ना हाकिम के कीन खुशामद-ना काँग्रेस से ऐंटी कीन
बने न चेयरमैन काँग्रेस को धोखा दीन
विरथा जनम राम जी दीन[१०]

× × × ×

ऐंटी काँग्रेस वाले बेचे, फूट मुलुक बदनाम की
आँख के अंधे गाँठ के पूरे, गाहक मिले बेदाम की
खेती करो हरिनाम की[११]

काँग्रेस इस समय बहुत लोकप्रिय थी। अँग्रेज इसके कार्यकर्ताओं से बहुत घबड़ाया करते थे। इसकी दैनिक प्रगति बहुत तीव्रता से अपना प्रभुत्व जमा रही थी, यद्यपि इस संस्था का जन्म हुए अभी केवल चार ही वर्ष हुए थे—

है तो चार वर्ष को बालक, पर दुष्टन के उर में सालक।
हूज्ज डेली मेनी प्रोग्रेस—क्यों सखि सज्जन, नहिं सखि काँग्रेस।[१२]

जैसा पहले संकेत कर चुका हूँ कि कुछ भारतीय काँग्रेस का विरोध करना, अँग्रेजों की खुशामद का एक प्रमुख साधन समझते थे। ये ही 'ऐंटी काँग्रेस' का नारा लगाने वाले काँग्रेस की दैनिक प्रगति तथा अपने विरोधी कार्यों को देखकर स्वयं शरमाने लग गए थे—

अल गबड्डी जाइत है, मुलना बन आइत है।
काँग्रेस से ऐंटी कर, अब शरमाइत है।[१३]

काँग्रेस के विपक्षियों को अपने देश के हित की चिंता नहीं है, इसका भी संकेत परसन-साहित्य में मिल जाता है—

'काँग्रेस के विपक्षियों को हित की बात नहीं सूझत।'[१४]

सर टी० माधोराव के० सी० एस० आई०, जो तृतीय काँग्रेस-अधिवेशन की स्वागत-समिति के अध्यक्ष थे और काँग्रेस के तृतीय अधिवेशन में श्री सुरेन्द्र नाथ बनर्जी के इस प्रस्ताव

का कि भारतीय शासक के लिए भारतीय प्रतिनिधि भी हो, समर्थन किया था,[१५] का अचानक कांग्रेस से अलग हो जाना बड़े महत्व की बात थी। भारतीय प्रजा के लिए यह 'अचम्भा' था। इसका भी उल्लेख परसन करता है—'कांग्रेस से सर टी० माधोराव का अलग हो जाना एक अचम्भा है।'[१६] प्रजा की दृष्टि में सर टी० माधोराव का कांग्रेस से अलग हो जाना बुद्धिमानी की बात नहीं थी। परसन के शब्दों में प्रजा की प्रतिक्रिया उद्धरणीय है—

कांग्रेस में जो शामिल रहते, लहते यश असमान
अब तो पुत्र नेह में पड़गो सर टी माधोराम
छूट गयो पोलिटिकल ध्यान-धिक धिक तव मन ज्ञान
पढ़ो परबस्ते सीताराम।[१७]

कांग्रेस यद्यपि इस समय अति लोकप्रिय हो चली थी, किंतु आर्थिक संकट उसके सामने हमेशा रहता था। इसका कारण यह था कि धनिक वर्ग या उच्च वर्ग के भारतीय राजकीय विरोध के कारण कांग्रेस को आर्थिक सहायता देने में बड़ी कठिनाई का अनुभव करते थे तथा गरीब जनता के पास इतना धन नहीं था कि वह 'टिक्कस', 'चुंगी', 'लइसेंस' आदि का व्यय देकर तथा अपना पेट भरकर कुछ दान कांग्रेस के लिए दे सके। कांग्रेस को इस समय पर्याप्त धन की आवश्यकता थी, जिससे वह अपना कार्य सुचारु रूप से चला सके। परसन ने भी अपनी कविता के माध्यम से पत्रिका-ग्राहकों का इस ओर ध्यान आकर्षित किया है तथा उनसे निवेदन किया है कि वे कांग्रेस की सहायता करें—

देश की उन्नति देश भलाई बीस लाख बिनमारी होय
बूंद का चूका गगरी ठरकै तबहुं न कारज पूरा होय
पैसा पैसा घर पीछे है बीस लाख धन अबहिं न होय
शिथिल कांग्रेस जो कहुं होइगा सिर धुनि तब तुम रहिहौ रोय
सुनहु सेठ जी सुनहु साहूजी यहि सम पुण्य न दूजो कोय
धन एक दिन सब के चलि जैहै कितनो कोउ राखे गोय
पुण्य बटोरो पुण्य बटोरो जो परलोक में संगी होय
सुनिये राजा सुनिये भुइंधर कछु धन देव सुआरथ होय
जब लग हाथ न यामैं घलिहौ तब लग कबहुं न उन्नति होय
सुनहु बलिस्टर सुनहु उकीलौ तुम सब बुद्धिमान नहिं कोय
निर्धन भारत जब होइ जइहै तब तुम कह पूछी न कोय
खर्च फ़िज़ूली को कम करिकै दीजै तुरत न बेरी होय
सुनियो बाबू सुनियो लाला, कछु दिन खर्च में तंगी होय
फिर सुख-भोगो बहु दिन प्यारे कबहुं खर्च न कम्ती होय
रोज़गारी सुनियो चित दैकै तुम्हरो यामैं बहु हित होय
टिकस चुंगी लइसेंस छूटै जबहीं खबर बिलाइत होय।[१८]

इस युग के कवि और लेखकों द्वारा कांग्रेस को दान देने के लिए जो निवेदन किया गया था उसका भारतीय प्रजा पर गहरा प्रभाव पड़ा था और सभी ने यथाशक्ति दान दिया

था। कांग्रेस के तृतीय अधिवेशन में, जो दिसम्बर, १८८७ में मद्रास में हुआ था, एनी बिसेंट के अनुसार कांग्रेस के लिए गरीब तथा अमीर सभी ने मिलकर पर्याप्त चंदा जमा किया था।[१९]

सर सैयद अहमद खाँ का नाम इस युग के संदर्भ में विशेष रूप से उल्लेखनीय है। उन्होंने भारत के हित के लिए अंग्रेजों से लोहा लिया था और गवर्नमेंट को यह राय दी थी कि प्रजा भी राजकीय शासन से संयुक्त होनी चाहिए।[२०] किंतु यही सर सैयद अहमद खाँ कांग्रेस से अलग भी हो गए थे, इसका भी उल्लेख परसन-साहित्य में मिलता है। 'भ्रम' में परसन इस संबंध में लिखता है—

'सर सैयद अहमद खाँ साहब जिन्होंने ३० वर्ष पहले गवर्नमेंट को यह राय दी थी कि प्रजा भी हुकूमत में शरीक की जाय, उनमें भी लोग कौंसिल में भरती किए जाँए, वही अब नेशनल कांग्रेस के प्रयत्न में तत्पर तब इसकी जड़ उखाड़ने लगे क्यों भ्रम से।[२१]

कश्मीर को जबरदस्ती अस्त्र के बल पर अँग्रेजों ने छीन कर अपने अधिकार में कर लिया था। उस युग की पत्रिकाओं को देखने से यह बिलकुल स्पष्ट है कि प्रजा को कश्मीर का यह बलात् हथियाया जाना पसंद नहीं था। 'हिंदी प्रदीप' की सम्पादकीय टिप्पणी का एक अंश अवलोकनार्थ प्रस्तुत है—

"हम अपने राजा की बुराई करने से अपने आपको लज्जित करते हैं, तब भी कश्मीर आदि के साथ निपट कुनीति का व्यवहार देख जो अभी कल की बात है, चुप नहीं रहा जाता, चाहे अपना हो चाहे पराया जो कुनीति करने वाला है उसे बुराई अवश्य दी जाएगी......जिस ब्रिटिश राज्य से यह सब आशा हमें थी उसकी जड़ बलहीन होती जाती है, क्योंकि जब दूसरे राजा लोग यह देखेंगे कि इन लोगों की मित्रता पर विश्वास करना निपट अनारपन है यह तो जब चाहेंगे तब हमारा राज्य इसी प्रकार छीन लेंगे न्याय अन्याय कुछ न सोचेंगे......किंतु श्रीमान वाइसराय तथा अन्य बड़े-बड़े अधिकारियों को प्रार्थनापूर्वक सचेत किया चाहते हैं कि क्यों ऐसे-ऐसे प्रत्यक्ष महा अन्याय से ब्रिटिश शासन को कलंकित कर रहे हैं—सबेरे का भूला साँझ को आवे तो उसे भूला न कहेंगे अब भी उचित है काश्मीर का राज्य वहाँ के पूर्वाधिकारी को फिर से सौंप दें और राजद्रोह, उस अजेंट को वहाँ से निकाल दें जिसके कुमंत्र की यह सब करतूत है—हमारा काम सचेत कर देने का है आगे जैसी इच्छा।"[२२]

प्रजा की प्रतिक्रिया परसन के शब्दों में सुनिए—

जबरा मारै रोय न देय—कासमीर निज हाथन लेय।[२३]

× ×

कासमीर कसकत जिय छिन छिन लेवयहू बरजोर।[२४]

काबुलपति का २० लाख माँगना भी उद्धरणीय है—

बीस लाख काबुलपति माँगत यह मानियत कठोर।[२५]

अँग्रेजी राज्य को परसन तथा सभी समकालीन साहित्यकारों ने 'कुराज' की संज्ञा दी थी क्योंकि एक ओर तो वे भारत के धन को विदेश भेजकर भारत को कमजोर बना रहे थे तथा

दूसरी ओर प्रजा की पीर की ओर भी 'सामयिक प्रभु' का ध्यान नहीं जाता था। 'सामयिक प्रभु' का प्रजा से संबंध न होने के कारण जितने ही रक्षक वर्ग थे, सभी प्रजा के भक्षक बन गए थे और मनमाना कार्य किया करते थे। इन रक्षक बने भक्षकों में सर्वाधिक महत्वपूर्ण स्थान पुलिस का था और यही कारण है कि सबसे अधिक व्यंग्य इन्हीं पर हुए।

परसन ने पुलिस की इतनी आलोचना क्यों की ?, इसका क्या कारण है, आज यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता। कुछ लोगों का विचार है कि परसन द्वारा इतनी आलोचना करने का कारण संभवतः उसका व्यक्तिगत द्वेष था। या तो परसन स्वयं कभी इनके चंगुल में फंस गया होगा या इससे संबंधित किसी व्यक्ति को कभी पुलिस का कोप-भाजन बनना पड़ा होगा, किंतु यह कारण बहुत अधिक संगत नहीं प्रतीत होता। परसन ने ही नहीं, इस युग के समस्त कवियों ने पुलिस पर व्यंग्य किए हैं। परसन के व्यंग्य करने का सबसे अधिक सटीक कारण यह दिखाई पड़ता है कि संभवतः प्रजा का शासक के रूप में निकटतम संबंध पुलिस से होता है। घर में चोरी हो गई, झगड़ा हो गया तो पुलिस द्वारा ही उसका निर्णय होगा। फिर यदि लगान, चुंगी, टैक्स आदि देना है तो भी पुलिस ही प्रजा से उसे वसूल करेगी। राज्य की ओर से नियोजित होने के कारण उसे सारे क्रूर कर्म करने पड़ते थे। इसी क्रूरकर्मी वृत्ति के कारण संभवतः उसको इतना अधिक व्यंग्य का शिकार होना पड़ा। 'हिन्दी प्रदीप' के एक लेख से तत्कालीन पुलिस की आलोचना के मूल कारण का संकेत भी मिलता है।

'वरन् सच पूछो तो इस अँगरेजी राज्य के उत्तम प्रबंध और न्याय-गुण में जो कभी-कभी धब्बा और कलंक लगता है तो पुलिस ही के कारण और कूड़ा-करकट की भरती से जो यह महकमा बदनाम है वैसा कोई दूसरा महकमा नहीं है······और पुलिस का ऐसा जघन्य और निकृष्टतर प्रबंध देख मन मे भाँति-भाँति की कल्पनाएं उठती हैं कि क्या कारण जो राज-कर्मचारियों में कोई इसके संशोधन की ओर चित्त नहीं देता और इसके अत्याचार को देख-सुन भी ऊपर-ऊपर के ओहदे वाले हाकिम सुनी-अनसुनी कर देते हैं—अथवा प्रजा के हर तरह सत्रास और पीड़ा पहुँचाय रुपया बटोरने में बड़ा व्युत्पन्न हो, ईमानदारी को जिसने काली के खप्पर से झोंक दिया हो। शहर के आवारा लोगों का जो परम पूज्य देवता हो आप ही उनमें दबकर उनके वशीभूत हो गया हो और जाति का हिंदू किसी तरह पर भी न हो, इत्यादि गुणों की कामिल सर्टीफिकेट जिसे हासिल हो वह पुलिस के ओहदे का हक़दार हो सकता है। पुलिस के द्वारा प्रजा की रक्षा हो यह तो हमारी गवर्नमेंट का केवल बहाना ही है।'[२६]

'उपर्युक्त उद्धरण से पुलिस के प्रति जन-समाज की भावना का प्रत्यक्ष परिचय मिल जाता है। अब पुलिस रक्षक न होकर भक्षक बन गई थी[२७] इसीलिए संभवतः परसन ने भी इस पर व्यंग्य किया है। परसन पुलिस का अत्यन्त चित्रात्मक वर्णन करता है। वह पुलिस का चित्र खींचता हुआ कहता है कि घर की गाड़ी हुई और संभालकर रक्खी हुई गाढ़ी कमाई के चोरी चले जाने पर प्रजा किस प्रकार पुलिस को बुलाने जाती है। पुलिस सूचना पाकर आती है, घर के दरवाजे पर खाट बिछाती है और बैठ जाती है, कुछ लोगों को डाँटती-फटकारती भी है और फिर चली जाती है। प्रजा के कष्ट को दूर करने में वह असमर्थ है, बल्कि उल्टे ही प्रजा से वह रुपया वसूल कर चली जाती है

गाड़ो मूंदी धरी उठाई थाती सब हर जाती रे
होत भोर पुलिस उठ धावै द्वारे खाट बिछाती रे।
अबकी बक्की सबै भुलानी ऐसी डाट सुनाती रे
हाथ जोर के परजा रोवै कछु ना पीर उराती रे।
पूजा पाठ मनौती लेकर तब थाने को जाती रे
समय राज की महिमा गावत सारद की मति थाकी रे।[२८]

जब पुलिस स्वयं चोर से मिलकर चोरी कराने में संलग्न है तो वह चोर को पकड़ कैसे सकती है। परिणाम यह होता है कि चोर या तो पुलिस के चंगुल में नहीं आता या कुछ रुपया घूस में पुलिस को देकर अलग हो जाता है और उसके बदले पुलिस भले आदमी को पकड़ ले जाती है और थाने में उस पर रोब जमाकर अकड़ती है और अपने प्रभुत्व का प्रदर्शन करती है। इसका भी चित्र परसन के बिरहा गीत में देखिए—

चोर को तो धरती नहीं, भल मनई पकड़ती
थाना कोतवलिया मा बैठ बैठ अकड़ती
पुलिस है जालिम जोर बिरहिया
पुलिस है जालिम जोर।[२९]

घूस की कमाई पुलिस की नौकरी में बहुत है, यह परसन तथा साधारण जनवर्ग को भली-भाँति विदित है, क्योंकि वह निरपराधी को दंडित करके उससे रुपया लेता है, इसी कारण प्रजा से भी जब वह चाहता है, अकारण कष्ट देकर मनमाना पैसा वसूल करता है। इसी बात को लक्ष्य कर परसन पत्नी के माध्यम से पति के कार्य पर व्यंग्य करवाता है। पत्नी पति से कहती है—'सैंया पुलिस माँ नौकरी लिखाय नहिं लेत्यौ' क्योंकि यही एक ऐसी नौकरी है जिसमें तुम अधिक धन कमा सकते हो, बँगला बनवा सकते हो और मेरे लिए आभूषण खरीद सकते हो तथा मेरे और अपने लिए अनेक सुख सुविधाएँ जुटा सकते हो—

सैंया नौकरिया लिखाय नहिं लेत्यौ-बलमा नौकरिया लिखाय नहिं लेत्यौ;
जो मानौ पिय हमरी सलहिया, पुलिस माँ नौकरी लिखाय नहिं लेत्यौ;
सोना रुपैला के गहना से तुरतै-सैंया तुम मोहका मढ़ाय नहिं देत्यौ;
दिन के तड़तड़ माल कोठरिया, रतिया के चोरिया कराय नहिं लेत्यौ;
बहुत दिनन की बाढ़ी हौंसिया, बलमा तुम हमका पुराय नहिं देत्यौ;
झलमलइन का दै दै धमकिया-सैंया रुपैया पुराय नहिं लेत्यौ
बिन दामिन के बग्घिन बहलिया चढ़ने का टाँगा मंगाय नहिं लेत्यौ;
हाकिम के करके खुशामद तुम बलमा-गुड सरविस बिन पेंशन लिखाय
नहिं लेत्यौ;।[३०]

पुलिस के कारनामे जन-समाज तथा वाले सभी व्यक्तियों के लिए सुविदित थे किंतु राज्य फिर भी इस ओर ध्यान नहीं देता था

सरकारी राज्य में पुलिस का महकमा जैसा ईमानदार और सच्चाई से भरा-पूरा है, इसे कौन नहीं जानता, फिर भी चोरियों की तहकीकात सरकार उन्हीं के द्वारा कराती है, यह भी एक अचम्भा है।[31]

पुलिस का कार्य जहाँ जन-साधारण की सुरक्षा है, वहीं यही पुलिस अब प्रजा के लिए कष्टदायिनी बनती जा रही है—

पुलिस की तैसी जानौ बान—इनसे परजा की बड़ हान।[32]

सिपाही, दरोगा, कोतवाल सब एक ही कोटि के राजकीय कर्मचारी हैं। इनकी परिभाषा परसन की शब्दावली में देखिए—

१. सिपाही :

रुपिया तीन नोकरी पावें, आप खाँय को घर पठवावें ;
चोर देख के जाय लुकाहीं, इनका कहीं कि अहीं सिपाही[33]

(२) दरोगा :

बदमासन से खाते चबरा, झुंड देख के जाते घबरा,
कहते होगा होगा होगा, इनका कहीं कि अहीं दरोगा।[34]

(३) कोतवाल :

बदमाशी सुन जाय डेराय, कोतवाली बाहर नहिं जाय,
नगर को मालुम नहीं मुहाल, इनका कहीं कि अहीं कोतवाल।[35]

पुलिस के अत्याचारों, कर्मविमुखता आदि का जो परिचय परसन के साहित्य से प्राप्त होता है, उसकी उस युग के राजनयिक विवरणों से भी पुष्टि होती है। मुंशी सज्जाद हुसैन, जो लखनऊ 'पंच' के सम्पादक थे, उन्होंने पुलिस की करतूतों पर प्रकाश डालते हुए उसके अत्याचारों का विस्तृत विवरण अपने भाषण में दिया था कि डकैती तथा चोरी से अधिक कष्टदायक पुलिस द्वारा उस चोरी की खोज के लिए प्रयत्न करना है। क्योंकि उससे समय तथा धन की तो हानि होती ही है, निष्कर्ष कुछ नहीं निकलता है। मुंशी सज्जाद हुसैन ने राज्य से अपील भी की थी कि पुलिस-प्रबंध में सुधार हो। श्री आर० एन० मधोलकर ने मुंशी सज्जाद हुसैन के इस प्रस्ताव का समर्थन किया था। श्री प्रिंगल महोदय ने इस प्रस्ताव की सार्थकता समझ कर कि पुलिस का संबंध जनता से सबसे निकट का है, पुलिस के दुर्व्यवहार का उल्लेख करते हुए एक प्रस्ताव पास किया था कि इसके लिए एक जाँच समिति नियुक्त की जाय। कांग्रेस के चौथे अधिवेशन में भी 'पुलिस प्रबंध' की जाँच के लिए एक 'जाँच समिति' बने, जिसमें सरकारी तथा ग़ैर सरकारी दोनों ही पदाधिकारी हों, की माँग सरकार से की गई थी।

परसन अंग्रेजी राज्य की यद्यपि आलोचना करता है, किन्तु उस राज्य के गुणों तथा शासकों की भलमनसाहत की ओर से आँख भी नहीं फेर लेता। उसे अंग्रेज़ों से घृणा नहीं है, अंग्रेजी-नीति से घृणा है इसीलिए वह ए० ओ० ह्यूम तथा ब्रैडले आदि की प्रशंसा भी करता है इनका उल्लेख करते हुए 'टेक' में वह कहता है कि ए० ओ० ह्यूम की कांग्रेस के फ्लोसत

होने की टेक है।' भारत के हित के लिए प्रयत्न करने वाली विभूतियों को देखकर भी वह यही सोचता है कि स्वतंत्रता-प्राप्ति का एकमात्र उपाय विदेशी वस्तुओं के आयात को हतोत्साहित कर स्वनिर्मित उद्योगों को विकसित कर स्वावलम्बी बनना है। इसलिए वह सब नागरिकों से अपने देश की बनी हुई चीजें तथा कपड़े पहनने का आग्रह करता है—

"पर हाय ! शोक !! शोक !! महाशोक आज हम टेबिल (मेज) पर हाथ टेककर देशी कपड़े पहिनने की प्रतिज्ञा करते हैं। कल कहते हैं यह तो महँगा मिलता है, अच्छा नहीं लगता, गड़ियाता है।"[३६]

यह बात विशेष महत्व की है कि जहाँ परसन एक ओर सभी सरकारी महकमों और उनके कर्मचारियों की निंदा करता है, वहीं डाक-विभाग की उसने प्रशंसा भी की है कि थोड़े से ही खर्च में यह संदेश एक स्थान से दूसरे स्थान पर नित्यप्रति शीघ्रता से पहुँचा देता है —

केवल डाक अफिसवा कछु भल कीन्ह।
मितवा को संदेसवा नित उठ दीन्ह ॥ [३७]

तत्कालीन समाज मुख्य रूप से दो वर्गों में वर्गीकृत था—एक था शासक वर्ग और दूसरा शासित वर्ग। एक धनी वर्ग था तो दूसरा निर्धन, एक के ऊपर टैक्स, लाइसेंस, चुंगी का इतना बोझ है कि उसका सारा घर बिक गया है, बेरोजार है, किंतु भूखा रहकर और दुगुने रुपये ब्याज पर महाजन से कर्ज लेकर उसे राजकर चुकाना पड़ता है, तो दूसरा वर्ग वह है जो होटलों में शराब पीता है, हँसी मजाक करता है, होटलों और क्लबों में नाच करता है और अपने इस सुख को शाश्वत बनाए रखने के लिए वह दुखियों को और अधिक दुखित करता है। पहले वर्ग अर्थात् धनी वर्ग का संबंध विदेशी अंग्रेजों तथा उनकी खुशामद करके बड़े बने हुए लोगों से है तथा दूसरे का संबंध उस भारतीय जनता से है जो मध्यम वर्ग की है, खेती करती है, व्यापार करती है, अध्ययन-अध्यापन, व्यवसाय में संलग्न है और जो स्वयं दुख सहकर इन हाकिमों के लिए भोग-विलास की सामग्री जुटाने में अपना जीवन होम कर देती है।

साधारण जनवर्ग की इतनी खराब स्थिति होने का सबसे बड़ा कारण है महँगी। जितनी आय होती है, जीवन निर्वाह के लिए उससे अधिक व्यय हो जाता है। साधारण-जन की स्थिति यह है कि वह टिक्कस, चुंगी, लाइसेंस आदि के बोझ से दबा हुआ है तथा महंगी इतनी है कि वह भूखा रहकर, दिन भर परिश्रम करके भी यही सोचता है कि हे भगवान ! प्राण कैसे बचेंगे ! तुम कहाँ जाकर सोए हुए हो कि तुम्हें हमारी विपत्ति-निवारण का तनिक भी ध्यान नहीं है—

महंगी गजब जोर की घहरै-केहि विधि बचिहैं पापी प्रान;
केहि विधि देइहैं मालगुजारी- रोवैं छाती फाड़ किसान।
मेहरी लरिकन कहा खवैहैं-पलिहैं किमि चौबान;
घर दुआर कैसे कै रखिहैं-चिंता चित लगान ।
छुकवा काल रोय नहिं परजा-सुनि दुख श्रवत पखान·
अहो अनाथ नाथ करुणानिधि-कहँ सोए ।[३८]

परसन के समय की महँगी यद्यपि आज की तुलना में महँगी नहीं कही जा सकती है फिर भी उस समय की महँगी जो थी उससे जनसमाज बड़ा संत्रस्त था। महँगी का स्वरूप देखिए—

देसवा परल महँगिया चहुँ दिसि आय,
दस सेरवा के आगे नांहि बिकाय।[३९]

परसन के समय नाज १३ सेर का, तेल ३ सेर का और घी १ सेर का था। इसका उल्लेख परसन ने किया है—

महँगी अति काहि लाग, तेरह सेर नाज लाग,
तीन सेर तेल लाग, एक सेर घृत लाग।[४०]

सारे भारतवासी दुखी इसलिए नहीं है कि उनके पास अँग्रेजों जैसी भोग-विलास की सामग्री नहीं है, वे दुखी इसलिए हैं कि न उन्हें शरीर ढकने के लिए कपड़ा मिलता है और न पेट भर भोजन। इस महँगाई का कारण यह नहीं था कि भारत में इतना अन्न नहीं होता कि भारतवासी पेट भर खाकर संतुष्ट रहें वरन् इसका कारण अँग्रेजों की नीति थी कि भारतीय भोजन-सामग्री विदेश भेज दी जाती थी—

महँगी देश में कैसो छाई, बहुतक अन्न बिलाइत जाई।[४१]

स्वतंत्र वाणिज्य के आधार पर बहुत से व्यापारी अनाज अरब की तलहटी ले जाते थे और उन पर कोई रोक-टोक नहीं थी—

'अन्न की महँगी से देश का देश भूखों मर जाता था, परंतु अरबों मन अनाज अरब की तलहटी आदि देशों में लोग ढोए लिए जाते थे। स्वतंत्र वाणिज्य के अनुसार कोई रोकने वाला न था।'[४२]

इस महँगाई का परिणाम यह हुआ कि जो इस समय खेती-बारी कर या ईमानदारी से कोई व्यवसाय करना चाहता था वह सुखी नहीं रह पाता था और अपनी सामान्य आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए भी वह असमर्थ था। इससे हुआ यह कि चोर-जुआरी और उचक्कों का जन्म हुआ—

अँगरेजी में कौन निखटका। ज्वारी चोर उचक्का लुक्का।[४३]

महँगाई से त्रस्त समाज में अनेक अनाचारों का जन्म हुआ। जुआरी-ठगी बढ़ गई। यही कारण था कि कोई अनाड़ी वैद्य बन गया तो कोई ज्योतिषी, कोई कथवाचक वक्ता बन गया तो कोई दूसरे शहर का सेठ। कुछ लोग धन के लोभ में ईसाई बन गए तो कुछ कचहरी मे झूठी गवाही दे-देकर पैसा कमाने लगे, क्योंकि जीवन-निर्वाह का प्रश्न सबके सामने था।

चल गबड्डी जाइत है, कथा बाँच आइत है; लपटा सा चार चार सीधा बांध लाइत है।
चल गबड्डी जाइत है, ज्योतिषी कहाइत है; मध्यम ग्रह कहि कहि गठरी बाँध लाइत है।
चल गबड्डी जाइत है, जटा जूट रखाइत है; चाव चाव मालपुआ तोंदिया फुलाइत है।[४४]

इतना ही नहीं ठगी का स्वरूप परसन ने 'परस्पर ठग उपन्यास' में और भी अधिक स्पष्ट किया है। अहीर सुनार, दही बेचने वाले सब किस प्रकार ठगी में व्यस्त थे, पैसा

कमाने के लिए किस प्रकार दूसरे को धोखा देकर अपना पेट पालते थे इसका चित्रण भी देखिए—

"कहाँ तक बकवाद करो। जितने कुरोग, कुचाल, कुराज इत्यादि प्रजा सुख मर्दन विपत रजन सुजन जन भंजन थे सब उपस्थित थे अस्तु देश के गढ़ परगना लट्टुपुर ग्राम चोरबा का रहने वाला एक अहीर जिसका नाम नयन मूँदन था वह ऐसा रतन में यतन करता था कि आजकल के लोग जो घी में चर्बी मिलाते हैं, चीनी में हड्डा छोड़ते हैं और मलाई में तीखुर दूध में पानी मिला बेचते हैं उनके सामने निहायत बेवकूफ थे वह सबेरे मुँह का मटका ले आता, उसमें नीचे झेवर भर ऊपर थोड़ा सा उमदा साढ़ीदार सजाव दही धरता था जो आजकल स्वप्न में भी दुर्लभ है और गवारू मसला अपना का धपला लेने वालों के हाथ आधा तिहाई दाम पर मटका समेत बेच डालता था। इसी प्रकार लोगों को ठग अपनी स्त्री के वर्तमान काल की स्त्रियों से अप्रियवादिनी गुण कथन की और दो लड़के जो कलजुगहे लडकों के बराबर थे उनको पालता था।[४६]

इसी प्रकार स्वर्णकार की ठग कथा का वर्णन भी परसन बड़े रोचक ढंग से करता है—

"और उसी ग्राम के छः सात कोस उत्तर पर एक दूसरा ग्राम जिसका नाम बुद्धि-वचक था, उसमें एक सुनार सरब लूटन था नामस्तत: गुण: वह भी ताँबा पीतल पर सोने का मुलम्मा कर ऐसे हरीफ़ सर्राफ़ों के हाथ बेचता था जिनको चौक के सर्राफ़ देखते तो अपने से बढ़कर कभी न बतलाते क्योंकि वे तो ग्राहक से ठगा जाते थे और यह तो ग्राहक का ही मुड़िया चपरिया कर लेता था और इस सरब लूटन की स्त्री भी सीना परोना द्वारा दो चार पैसा कमा लेती थी।"[४७]

इस महँगाई का तथा प्रजा के कष्टों का मूल कारण बेरोज़गारी थी। महँगाई तो थी ही, किंतु बेरोज़गारी होने से थोड़ी महँगाई, बहुत लगती थी।

प्रजा के इस कष्ट का दूसरा कारण राज्य की ओर से लगे भारी टैक्स का बोझ था। एक ओर तो प्रजा भूखों मर रही थी, दूसरी ओर उसे टैक्स भी देना पड़ता था और यह टैक्स भी दिन-प्रतिदिन बढ़ता ही जाता था—

निस दिन बढ़त टिकसवा देसवा माँहि,
परजा चह जमपुर भा भूखल जाँहि।[४८]

× × ×

ना भए तसिलदार न डिप्टी न हम टिक्कस जबरन लीन
ना दुखिया का जीव दुखावा न बिन दाम रसद ले लीन।[४९]

इसी प्रकार अँग्रेज़ी नीति—टिक्कस लगाने की तथा उससे कारण दुखी हुई प्रजा का वर्णन कवि ने बड़े सजीव ढंग से किया है। वह कहता है कि खेत में जितना भी अन्न पैदा होता है सारा टिक्कस में चला जाता है—

टिक्कस जितना लागत खेत में बहुधा जितना आमत।[५०]

ऐसी मँहगाई, बेरोजगारी तथा बढ़ते हुए टिकस के समय महाजनों की बन आई थी। वे बहुत अधिक ब्याज पर यद्यपि धन देते थे फिर भी निर्धनों को अन्य सहारा न होने पर लाचार होकर रुपया उधार उन्हीं से लेना पड़ता था। इस उधार लिए हुए रुपये को चुका न सकने के कारण वे आजीवन ऋणी रहते थे तथा महाजन लोग अपने मूलधन को सुरक्षित रखते हुए ब्याज के पैसों पर ही ऐश किया करते थे। इन महाजनों के स्वभाव तथा रीति का वर्णन भी परसन ने बड़े सजीव रूप में किया है। इन महाजनों की ठग-विद्या का संकेत करते हुए परसन लिखता है कि महाजन वे हैं—

जो नब्बे दे सौ लिखवावें। ताहू पर पुन ब्याज लगावें।
साल में एक सौ चौबिस किहिन। एक बढ़ाय सवा सौ लिहिन।[५१]

राजनीतिक और आर्थिक स्थिति के अतिरिक्त समाज में प्रचलित अनेक कुरीतियों का वर्णन भी परसन ने निर्भय होकर किया है। वे सामाजिक कुरीतियाँ रीतिगत और अंध-विश्वास संबंधी हैं। बाल-विवाह और अनमेल-विवाह का प्रचलन तथा विधवा-विवाह की मनाही इस युग की प्रमुख विवाह-संबंधी कुरीतियाँ हैं। अनमेल-विवाह के अंतर्गत बालक-बाला विवाह तथा बाला-वृद्ध विवाह है। इन कुरीतियों मे जहाँ विधवाओं की उपेक्षा तथा विधवा-विवाह की मनाही होने से एक ओर समाज में व्यभिचार को बढ़ावा मिल रहा था, वहीं दूसरी ओर बाल-विवाह तथा अनमेल विवाह से अन्य अनेक दोषों का जन्म भी हो रहा था। 'लटपट पंछी चतुर सुजान' में परसन बाल-विवाह पर व्यंग्य करते हुए लिखता है—

तरुणाई में ब्याह कराते, कुल को चलतो नाम।
असमय गुच्चूपाला खेलत, लड़के भये निकाम।
बहुत चले सुरधाम, पढ़ो परबस्ते सीताराम॥[५२]

बुढ़वा विवाह तथा बालक-बाला विवाह आदि अनमेल विवाहों की भी आलोचना परसन-साहित्य में उपलब्ध है। इसी प्रकार विधवा, ब्राह्मण तथा क्षत्रिय आदि से संबंधित विविध रीतियों का उल्लेख परसन साहित्य में प्राप्त है—

बिना बियाहे चूंदरि पहिनें-औ विधवा ह्वै पान चबाय,
बिन ठाकुर के कुरिया बाँधे तिनकर कुशल न बहु दिन जाय।
बाह्मन ह्वै के जो हर जोतै औ राजा ह्वै बेंचै गाय,
छत्री ह्वै के रण से भागै तिनकर काँध गीध नहिं खाय।[५३]

दीवाली, होली आदि उत्सवों का उल्लेख भी परसन-साहित्य मे प्राप्त है। लोकानु-रंजनों के साधनों में कबड्डी, गुच्चूपाला, पतंग, डुडुआ, जुआ, तम्बाकू आदि का उल्लेख भी परसन-साहित्य में हुआ है। नशीली वस्तुओं में गाँजा, तम्बाकू आदि का प्रचलन तत्कालीन समाज में था।

बाजार का तथा वहाँ पर खोंमचा लगा कर सड़क पर रेवड़ी बेचने का भी कवि बड़ा सरस तथा सजीव वर्णन करता है—

सड़कन पर रेवड़ी है सस्तो धाम के होत धूर हूँ सफ्तो [५४]

यह सब तो वर्णन है प्रजा का, सामान्य जनवर्ग का, किंतु इसके अतिरिक्त अँग्रेज़ों के ईवनिंग पार्टी में जाने, थैंक्यू कहने, डेली बूट चमकाने तथा लेवेण्डर लगाकर अपना शृंगार करने का भी उल्लेख है। यह आलोचना करते हुए भी रेल की सुविधा, डाक, टेलीफोन तथा तार आदि की सुविधा, जो अँग्रेज़ी राज्य में ही उसे प्राप्त हुई है, उसको भुला नहीं देता, उसका कृतज्ञ होकर स्मरण भी करता है—

'एक दिन में दो सौ कोस ले जाने वाली रेलगाड़ियाँ हैं, घर बैठे बिलायत वालों से बातचीत करने को टेलीग्राम है, टेलीफून है।'

इस समय मैनचेस्टरी कपड़ों का बहुत प्रचार था। यह विदेशी कपड़े देखने में सुन्दर तो लगते ही थे, सस्ते भी होते थे। इसलिए दुकानें इन्हीं कपड़ों से भरी होती थीं। किंतु ये कपड़े फटते बहुत जल्दी थे। इसका उल्लेख भी परसन-साहित्य में प्राप्त है। परसन प्रयाग के कटरा नामक मुहल्ले का रहने वाला था। सारी सुविधाएँ होते हुए भी वाटर-वर्क्स की वहाँ बड़ी गड़बड़ी थी, जिससे पानी के लिए जनता को बड़ी कठिनाई होती थी। परसन ने इस कठिनाई का उल्लेख अपनी अनेक रचनाओं में किया है। 'पानी पानी पानी'[५६] तथा 'व्यर्थ है'[५७] में वह लिखता है कि प्रयाग का वाटर-वर्क्स किसी काम का नहीं है।

गोरक्षा-आंदोलन परसन के समय जोरों पर था। गोवध, जो कि अँग्रेज़ों तथा मुसलमानों के कारण होता था, से हिंदू बहुत दुखी थे। गोरक्षा-आंदोलन में तथा गोवध रोकने में भारतेंदु-युगीन कवियों ने बहुत लिखा था, और बहुत परिश्रम भी किया था। परसन साहित्य में इनके उल्लेख कई स्थानों पर हैं —

'गोरक्षा बिना तिलक मुद्रा धारण करना व्यर्थ है।'[५८]

× × × ×

गैयन केर कुगतिया सही न जाय। सेठ जी ठाढ़ निहारे त्रिफला खाय।[५९]

× × × ×

म्लेच्छों को गोमाता की गर्दन पर छुरी चलाने की टेक है[६०]

इस युग में सभी कवियों ने गोरक्षा पर लिखा है। इस युग के समर्थ कवि पुत्तीलाल तिवारी ने भी 'भारत मझार कौन अधिक दुखारी री' में भी यही लिखा है—

भारत मझार कौन अधिक दुखारी री।
पोषों जन प्राण दुध पान को कराउँ नित पुत्र ज्यों प्रेमवश पालत महतारी री।
दधि घृत नवनीत खाय होत है, बलिष्ठ पूर अच्छ बच्छ मेरे नये करत सवारी री।
ताहूपै यवन कुचालोये कृतघ्न सदा द्वेषवश गर्दन पै फेरत कटारी री।
पूछत गोवृंद सुने के सर महरानी और भारत मझार कौन अधिक दुखारी री।[६१]

भाषा अभिव्यक्ति का साधन है, बिना भाषा के मानव गूँगा है, असहाय है। इसलिए मानव-जीवन में भाषा का भी अपना विशेष महत्व है। इस समय जहाँ लोग अंग्रेज़ी शासन के विरोधी थे, वहीं दूसरी ओर अँग्रेज़ी के स्थान पर हिंदी को प्रतिष्ठित करने के लिए भी कटिबद्ध थे। हिंदी भाषा तथा नागरी आन्दोलन इस समय जोरों पर था। हिंदी के सभी

लेखकों और कवियों ने हिंदी को प्रचारित करने के लिए हिंदी-पत्रिका संपादन का कार्य भार अपने ऊपर ले लिया था। पत्रिका के माध्यम से वह पाठकों की हिंदी के प्रति रुचि जाग्रत करते थे। यद्यपि उनकी पत्रिका आजन्म आर्थिक संकट से ग्रस्त रहती थी और उनकी सारी मासिक आय पत्रिका के अंकों के प्रकाशन में समाप्त हो जाती थी किन्तु हिंदी के लिए वे सब कुछ सहते थे। भारतेंदु हरिश्चन्द्र 'हरिश्चन्द्र मैगज़ीन', बालकृष्ण भट्ट 'नागरी नीरद', 'प्रेमघन' 'नागरी नीरद' तथा प्रतापनारायण मिश्र 'ब्राह्मण' का संपादन हिंदी तथा नागरी प्रचार के लिए ही कर रहे थे। पत्रिका तथा पत्रिका के ग्राहकों की इस समय क्या स्थिति थी इसका वर्णन भी परसन-काव्य में बहुत मिलता है। परसन प० बालकृष्ण भट्ट का शिष्य था और भट्ट जी 'हिंदी प्रदीप' के संपादक थे। शिष्य होने के नाते 'हिंदी प्रदीप' के प्रचार के लिए परसन ने कोई कसर उठा नहीं रक्खी थी। परसन के पत्रिका-संबंधी बचन जहाँ एक ओर 'हिंदी प्रदीप' से संबंधित हैं, वहीं दूसरी ओर ये कथन उस समय की हिंदी पत्रिकाओं के प्रति जन-रुचि का भी परिचय देते है। वह लिखता है कि लोग बात-बात में हिंदी का दम भरते हैं, किंतु पत्रिका के दाम चुकाने के समय वे चुप हो जाते हैं—

समाचार पत्रन के आदर करेंगे। बात बात में हिंदी का दम भरेंगे।
एक नहीं हम सबके गाहक बनेंगे। परसन लाख तकादा करो दाम न देंगे। [६२]

ये ग्राहक तो ऐसे थे जो पत्रिका का आदर करते थे, किंतु दूसरे ऐसे थे जो पत्रिका देखकर ही इस भविष्य की चिंता से सिर नीचा कर लेते थे कि उन्हें वार्षिक चंदा पत्रिका का देना पड़ जाएगा—

हिंदी पत्र डाकिया, दिया, देखत ही मुँह नीचा किया,
रुपिया तीन व कुछ बिल दिया, तिस्पर कहा कि ज्यादा लिया। [६३]

इसीप्रकार कुछ हिंदी का दम भरने वाले राष्ट्रभाषा सेवी ऐसे भी थे कि यदि उनके पास पत्रिका वी० पी० पी० से भेजी जाती थी तो वे बिना किसी संकोच के उसे वापस भेज देते थे। हिंदी और नागरी की दुर्दशा उस समय ऐसी थी कि लोग अपने बच्चों को हिंदी पढ़ाना व्यर्थ समझते थे। ऐसे लोग हिंदी का पक्ष तो लेते थे, किंतु अपने बच्चों के भविष्य को ध्यान में रखकर वे उन्हें उर्दू या अंग्रेज़ी पढ़ाया करते थे, क्योंकि नौकरी के लिए उर्दू और अंग्रेज़ी का ही ज्ञान आवश्यक समझा जाता था—

'नागरी की दुर्दशा देख तर्स बहुत खाते थे लेकिन लड़कों को बिस्मिला ही पढाते थे।' [६४]

अदालतों में तथा शिक्षा-विभाग में भी हिंदी-प्रयोग की अनुमति थी, किंतु प्रयोग उर्दू का ही होता था। शिक्षा-विभाग के मुखिया लोग हिंदी का विरोध करते थे तथा अदालतों मे भी उर्दू का ही प्रयोग अधिक हो रहा था, किंतु इतना सब होते हुए भी जनवर्ग के मध्य हिंदी का प्रचार व्यापक था और हिंदी-आंदोलन को जन-बल मिल रहा था। हिंदी की यह बढ़ती हुई लोकप्रियता अंग्रेज़ों के लिए आश्चर्य की वस्तु थी

धर्म और दर्शन भारतीय संस्कृति का मूल तत्व है। प्रत्येक भारतवासी चाहे कितना ही अपने को नास्तविक कहता हो, किंतु संकट के समय वह ईश्वर का स्मरण किए बिना नही रह पाता। अपने पर संकट पड़ा हुआ देखकर वह ईश्वर से यही कहता है कि हे करुणा-निधि भगवान्, तुम कहा सोए हो। तुम शरणागत रक्षक हो अतएव इस समय तुम अपनी बानि से क्यों विमुख हो रहे हो। भारतीय साहित्य में भी इसी भावना का समावेश हो गया है। परसन-साहित्य में भी जब महंगी, टिक्कस, बेरोजगारी से परेशान मानव अपने संकटों पर विचार करता है तो अन्त में यही कहता है कि भगवान्, तुम करुणानिधि हो, कहां सोए हुए हो—

छछ्छा काल रोय नहिं परजा- सुनि दुख द्रवत पखान
अहो अनाथ नाथ करुणानिधि-कहँ सोए भगवान[६५]

इसी प्रकार सामाजिक कुरीतियों के विरुद्ध भी जनवर्ग यही कहता है कि हे भगवान्, यह जीवन किस प्रकार बीतेगा।[६६]

भारत में दार्शनिक उपदेशकों की किसी भी समय कमी नहीं थी। वे हरि-नाम का उपदेश सदा दिया करते थे। यह उपदेशक प्रवृत्ति इतनी व्यापक हुई कि घर-घर भिक्षा मांगने वाले भी हरि-नाम-स्मरण का उपदेश देने लगे। जन-जन में इसका प्रचार इस बात का स्पष्ट प्रमाण है कि भारतीय जनता कितनी आस्थावान् है तथा वह केवल नाम को ही महत्व नहीं देती वरन् नाम-स्मरण के बहाने भिक्षुकों को भी कितना आदर और सम्मान दिलवाती है। परसन की 'खेती करो हरि नाम की' टेक में भारतीय जीवन की यही आस्था-वाली प्रवृत्ति लक्षित है।

इसके अतिरिक्त अनेक देवी देवताओं का तथा उनसे संयुक्त विविध माहात्म्य का उल्लेख करना भी परसन नहीं भूलता। यद्यपि ये वर्णन प्रायः व्यंग्यपरक हैं, किंतु फिर भी यह तत्कालीन भारतवासी की आस्था-प्रवृत्ति का परिचय देते हैं। उदाहरण के लिए—'खेती करो हरिनाम की' के अंत में कवि माहात्म्य बतलाता है और कहता है कि—'जो देवाली अथवा देवउठान के जागरण से इसका संकीर्तन करेगा उसे अचल लक्ष्मी प्राप्त होगी और लक्ष्मीनारायण सदैव उस पर प्रसन्न रहेंगे।'[६७]

परसन प्रयाग का रहने वाला था। प्रयाग का महत्व उसके तीर्थराज होने में है जहाँ गंगा-जमुना तथा सरस्वती का संगम होने से अचल पुण्य प्राप्त होता है। ऐसे धार्मिक स्थान पर पंडों द्वारा अजपा-जाप कर जो ठगी होती है, भोली-भाली जनता को मूर्ख बनाया जाता है तथा धर्म के नाम पर जो भिक्षावृत्ति होती है, उससे जहाँ एक भारतवासी की धर्म तथा तीर्थ आस्था का परिचय मिलता है, वहीं समाज में प्रतिदिन बढ़ती हुई कुरीतियों का परिचय भी मिल जाता है। संगम पर खड़े हुए पंडे तथा साधु लोग संसार की असारता का, माया मोह का वर्णन बड़े भावमय ढंग से करते हैं और कहते हैं—'बिरथा जनम राम जी दीन, जस आए तैसे चलि जावै; जग में कछु निज नाम न कीन्ह'। इसी प्रकार सूर्यग्रहण के अवसर पर किस प्रकार लोग सूर्य देवता को जल चढ़ाते हैं तथा पैसे बेचते हुए चिल्लाते रहते हैं इसका वर्णन भी परसन बड़े सजीव रूप में करता है

'ग्रहण स्नान के हेतु घर के निकल पड़ा सूर्य देवता बादलों में छिपे हुए थे। कोई कहता था ग्रहण न लगा होगा कोई कहता था अवश्य लगा होगा पर ब्राह्मणों का वचन कभी झूठ हो सकता है—मेहतर, चमार, डोम आदि अन्नदान वस्त्रदान सोना चाँदी का दान पुकारते गलियों में इधर-उधर दौड़ रहे थे तट पर पहुँच जब सितासित संगम में स्नान करने को धँसे तो भड्डरी लोग ब्राह्मण बने 'कुशा लेव' 'कुशा लेव' नने डालते थे जिनका मन देव देव की आवाज सुन अकुला गया था और इसी कारण घर से निकल भागे थे। वे यहाँ कुशा लेव सुनकर चक्कर में आ गए। सोच-सोच लाचार हो उन्हें एक पाई टेंट में से निकलना ही पड़ा।'[१९]

भारतवासी इतना आस्थावान तथा धर्मपरायण है कि उसे जिस कार्य में जब भी सफलता मिलती है, सारी सफलता का श्रेय वह भगवान को देता है किंतु यदि उसे किसी कार्य में असफलता मिलती है तो असफलता का कारण वह अपने को मानता है। परसन-साहित्य मे भारतवासी की इस भावना के भी दर्शन मिलते है। परसन अपने एक गीत के परिचय मे स्वयं ही पाठकों से कहता है कि—'सरस्वती देवी की कृपा से याद करता गया और पाठकों के विनोदार्थ लिख लाया। इसी प्रकार परसन महामाया, ब्रह्मा, विष्णु, शंकर, गंगा आदि की, जहाँ भी अवसर मिलता है, स्तुति करना नहीं भूलता।

इस प्रकार उपरोक्त तत्कालीन सांस्कृतिक परिस्थितियों का परसन-साहित्य में कितना विवरण प्राप्त है, यह स्पष्ट हो जाता है। सच तो यह है कि परसन-साहित्य के आधार पर उस युग का वास्तविक चित्र खींचा जा सकता है, जिसमें जन-समाज का अपने शासक के प्रति दृष्टिकोण हैं। जो गुण हैं उनकी वह प्रशंसा करता है और जो अवगुण हैं, जिनसे भारत दिनों-दिन कमजोर होकर परावलंबी बनता जा रहा है, जो अंग्रेजों की कुटिल कुचाल है उनके प्रति आक्रोश भी व्यक्त है। संक्षेपतः परसन-साहित्य तत्कालीन समाज का दर्पण है।

संदर्भ-संकेत

(१) हिंदी प्रदीप, जि० १३, सं० ८, पृ० १८-१९ (२) वही, जि० १३, सं०५,६,७, पृ०६४ (३) वही, जि० १२, सं० ९, पृ० ५ (४) वही, जि० १२, सं० ११,१२, पृ० १३ (५) वही, जि० १२, सं० ११-१२, पृ० २९-३० (६) वही, जि० १३, सं० १, पृ० ८ (७) हिन्दी प्रदीप, जि० १३, सं० ५,६,७, पृ० ५२-५३ (८) वही, जि० १२, सं० १०, पृ० ९-१० (९) वही, जि० १३,सं० २,३,४, पृ० १४-१५ (१०) वही, जि० १३, सं०,२,३,४, पृ० १४-१५ (११) वही, जि०, १३, सं० ८, पृ० १८-२१ (१२) वही, जि० १२, सं० ३, पृ० २-४ (१३) वही, जि० १२, सं० १२, पृ० २५ (१४) वही, जि० १२, सं० १०, पृ० ५-६ (१५) 'It is significant that Raja Sir T. Madhava Rao seconded the proposal remarking that, prudent and conservative he was, he regarded as n-----ry for India represent tive institution he said he princ p e was on which the British Government, I am sure will not and

cannot refuse to recognize. He was optimistic enough to beive, this cautions old statesman that in" a year or two "they would receive" a satisfactory response to our very reasonable recommondation —Anne Beasant ; How India wrought for Freedom, p. 40. (१६) हिंदी प्रदीप, जि० १३, सं० ५,६,७,८, पृ० ४ (१७) वही, जि० १३, सं० ५,६,७, पृ० ५०-५२ (१८) हिंदी प्रदीप, जि० १३, सं० १, पृ० २१-२२ (१६) A striking proof of the result of this was the fact that Rs. 5,500 were contributed by 8,000 such scription varying from anna one to Rs 1-8 and another Rs. 8,000 varying from Rs. 18 to 30, Poor people even sent collection from Mandalay, Rangoon, Singapur and the eastern islands. It is pleasant to see the names of the Ruling Princes of Mysore, Travancoure and Cochin and their Highness of Maharaja Vijia Nagaram and the Raja of Venkatgiri at one end of the subscribers with one anna coolies at the other—a truely National work.—Anne Beasant : How India Wrought for Freedom p. 35-36, (२०) Sir Syad Ahmed Khan was a strong opponent of the Congress but who, in his book, causes of the Indian Revolt, written in 1758 stated that the people should have a voice in its council "was necessary to the stability of the Government, so as to" "warm us of dangers before they turst upon and destrous". "The evils which came to India" wrote Sir Syed, "from the non-admission of nations into the Legislative council of Indian were various." —Anne Basent. How India wrought for Freedom p 62. (२१) हिंदी प्रदीप, जि० १२, सं० १०, पृ० ११-१३ (२२) वही, जि० १२, सं० ६ पृ० १०-१२ (२३) वही, जि० १२, सं० ६, पृ० ५ (२४) वही, जि० १२ सं० ६ पृ० ४ (२५) वही, जि० १२, सं० ६ पृ ४ (२६) हिन्दी प्रदीप, जि० १३, सं० २,३,४, पृ० १८-२२ (२७) हिन्दी प्रदीप, जि० १६, सं० ६-१०, पृ० ७-६. (२८) हिन्दी प्रदीप, जि० १२, सं० ११-१२ पृ० २५ (२६) हिन्दी प्रदीप, जि० १३, सं० ५,६,७, पृ० ५२-५३. (३०) वही, जि० १३, सं० २,३,४, पृ० १८-२२ (३१) वही, जि० १३, सं० ५,६,७, पृ० ६४ (३२) वही, जि० १२, सं ७, पृ० १६. (३३) वही, जि० १२, सं० २२, पृ० २६ (३४) हिन्दी प्रदीप, जि० १२, सं० २२, पृ० २६ (३५) वही, जि० १२, सं० २२, पृ० २६. (३६) हिन्दी प्रदीप, जि० १२, सं० १०, पृ० ६-१० (३७) वही, जि० १२, सं० ११-१२ पृ० ३६ (३८) वही, जि० १२, सं० ७ पृ० ४ (३६) वही, जि० १२, सं० ११,१२ (४०) वही, जि० १२, सं० ३, पृ० ४-५ (४१) वही, जि० १३, सं० २,३,४ पृ० १४-१५ (४२) वही, जि० १२, सं० ७ पृ० २१ (४३) वही, जि० १३ सं० २,३,४ पृ० १४-१५ (४४) वही, जि० १२, सं० २,३,४, पृ० ७-१० (४५) वही, जि० १२, सं० ७ पृ० २१ (४६) वही, जि० १२, सं० ७ पृ० २१ (४७) वही, जि० १२, सं० ७, पृ० १४-१५ (४८) वही, जि० १२, सं० ११-१२ पृ० ३७ (४६) वही जि० १३ सं० २ ३ ४ पृ० १४-१५ (५०) वही जि० १३ सं० ४ पृ० १४ १५ ५१ वही जि० १२, सं० ४ पृ० ४५ ५२ वही जि० १३ सं० ५ ६-७

पृ० २२-२३ (५३) वही, जि० १२, सं० १, पृ० ७-८ (५४) वही, जि० १२, सं० ११,१२, पृ० १४-१५ (५५) वही, जि० १२, सं० ११,१२ पृ० ३-४ (५६) वही, जि० १२, सं० ११,१२ पृ० १३ (५७) वही, जि० १२, सं० ११,१२ (५८) वही, जि० १२, सं० ११-१२ (५९) वही, जि० १२, सं० १० पृ० ९-१० (६०) वही, जि० १२, सं० ६, पृ० १९-२० (६१) वही, जि० १२, सं० १२ पृ० २६ (६२) वही, जि० १२, सं० ६, पृ० ५-६ (६३) वही, जि० १२, सं० ७ पृ० २१ (६४) वही, जि० १२, सं० ९, पृ० ४ (६५) वही, जि० १२, सं० ११, पृ० ३७ (६६) वही, जि० १२, सं० ११, पृ० ३७ (६७) वही, जि० १६, सं० पृ० १८-२१.

जायसी का स्थितिकाल

• *हरिप्रसाद नायक*

हिन्दी साहित्य में मलिक मुहम्मद जायसी को सर्वप्रथम प्रकाश में लाने का श्रेय फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी को है। हिन्दी साहित्य का सर्वप्रथम इतिहास 'इस्त्वार द ला लितरेत्यूर ऐंदुई ऐ ऐंदूस्तानी' तासी द्वारा मूल फ्रेंच में लिखा गया था। इस इतिहास-ग्रन्थ का पहला संस्करण दो भागों में सन् १८३६ ई० तथा सन् १८४७ ई० में प्रकाशित हुआ था। इसके बाद सन् १८८६ ई० में सर जार्ज ग्रियर्सन ने महामहोपाध्याय पण्डित सुधाकर द्विवेदी की सहायता से जायसी कृत 'पद्मावत' का सम्पादन किया था। आचार्य प्रवर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने सन् १९२८ ई० में 'जायसी ग्रन्थावली' का सम्पादन किया, जिसमें पद्मावत के अलावा अखरावट भी संकलित था। इस पुस्तक की भूमिका में शुक्ल जी ने जायसी के कविरूप की सुन्दर व्याख्या की थी। परन्तु जायसी के जीवन-वृत्त पर किसी ने प्रामाणिक रूप से कुछ नहीं लिखा। कोई प्रामाणिक आधार ही उपलब्ध न हो सका। इनका जीवनचरित आज भी अनुमान की परिधि में चक्कर काट रहा है। उत्तर प्रदेश के रायबरेली जिले के जायस नामक स्थान के कँचाने मुहल्ले में रहने के कारण इनका नाम जायसी कहलाया। 'जायस' गाँव उत्तर रेलवे का स्टेशन है। लखनऊ से १०८ किलोमीटर (६७ मील) दक्षिण-पूरब में है। जायसी के माता-पिता कौन थे और क्या करते थे तथा ये लोग कहाँ के रहनेवाले थे इस बारे में प्रामाणिक रूप से कुछ भी ज्ञात नहीं है। 'मलिक' अरबी भाषा का शब्द है इसलिए यह अनुमान होता है कि इनके पूर्वज अरब थे। परन्तु पण्डित रामखेलावन पाण्डेय के मतानुसार 'मलिक' की उपाधि सैनिकाध्यक्ष होने की संभावना पर प्रकाश डालती है। जायसी को पठान मानते हुए पाण्डेय जी ने लिखा है :

"'पद्मावत' में शेरशाह के प्रताप-वर्णन में जायसी ने जैसा उत्साह प्रदर्शित किया है, वैसा बाबर के वर्णन में नहीं। इससे जायसी की अन्तर्वृत्ति की सूचना मिलती है। जायसी पठान थे और पठान शेरशाह की विजय से उनके उल्लास की सीमा नहीं रहती।"[1]

सैयद कल्बे मुस्तफा के अनुसार जायसी के पिता का नाम शेख मुमरेज था और नाना का नाम शेख अलहदाद था। इनकी ननिहाल मानिकपुर में थी।

हिन्दी और संस्कृत के अधिकांश प्राचीन कवियों की भाँति मलिक मुहम्मद जायसी का भी स्थितिकाल संदिग्ध है इनके जीवनकाल का थोड़ा बहुत अनुमान इनकी रचनाओं से

लगता है। मिश्रबंधु, डॉ० श्यामसुन्दर दास, डॉ० रामकुमार वर्मा, पण्डित गणेश प्रसाद द्विवेदी ने जायसी की जन्म-मरण तिथि का उल्लेख अपने ग्रन्थों में नहीं किया है। जायसी की रचनाओं में 'बाबर साह छत्रपति राजा' तथा 'सेरसाहि दिल्ली सुलतानू' का नाम आया है, इसलिए यह निश्चित रूप से कहा जा सकता है कि जायसी की स्थिति इन दोनों बादशाहों के समय में थी।

जायसी के कालनिर्णय पर विचार करने से पहले इनके दो ग्रन्थ--'आखिरी कलाम' और 'पद्मावत' के रचनाकाल पर विचार कर लेना अपेक्षित है। कुछ लोग 'आखिरी कलाम' का नाम 'आखिरीनामा' भी बताते हैं, और यह उनके नाम से प्रसिद्ध अन्य ग्रन्थों के नाम से मेल भी खाता है। यथा, पोस्तीनामा, खुर्बानामा, मोराईनामा, मुकहरानामा, कहरनामा आदि। परन्तु इस काव्य का जायसी ने क्या नाम रखा था, प्रबल और पुष्ट प्रमाणों के अभाव में इस विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। वास्तविक नाम जो कुछ भी रहा हो, हिन्दी-जगत् उसे 'आखिरी कलाम' के नाम से ही जानता है। डॉक्टर कमल कुलश्रेष्ठ का कहना है कि यह ग्रन्थ जायसी की अंतिम रचना है। इस ग्रन्थ का रचनाकाल निर्विवाद रूप से सन् ९३६ हिजरी है :

"नौ सै बरस छतीस जो भए।
तब एहि कविता आखर कहे।"

'आखिरी कलाम' के नाम के संबंध में जो भ्रान्तियाँ है, उसके बारे में श्री देशराजसिंह भाटी ने लिखा है :—

"'आखिरी कलाम' में 'आखिरी' शब्द को देखकर कुछ विद्वान् इसे कवि की अन्तिम रचना बताते हैं। कलाम का शाब्दिक अर्थ वक्तृता, साहित्यिक कृति एवं आपत्ति है। इसके साथ विशेषण जोड़ देने से यथा, कलाम पाक, कलामुल्ला, कलाम-मजीद आदि का विशिष्ट अर्थ कुरआन होता है जिसको आखिरी कलाम भी कहते हैं। इसका कारण यह है कि उसमें अन्तिम रसूल के उपदेशामृत संग्रहीत हैं।"[२]

यह निश्चित है कि यह ग्रन्थ जायसी की अन्तिम रचना नहीं है। डॉक्टर रामरतन भटनागर ने ठीक ही लिखा है कि, "कदाचित् जायसी ने इसका कोई नाम नहीं रखा। फारसी में 'आखिरियत नामा' (रोज़े अखीर की कथा) की परम्परा थी। यह उसी का अवधी रूप है। इसी विचार के किसी ने ग्रन्थ को 'आखिरी कलाम' कह दिया और आलोचक इस भ्रम में पड़ गए कि यह जायसी की अंतिम रचना है।"[३]

'आखिरी कलाम' की रचना मुगल-राज्य के संस्थापक जहीरुद्दीन मुहम्मद बाबर के समय हुई थी। इस ग्रन्थ में जायसी ने बाबर का यशगान किया है। 'बाबर साह छत्रपति राजा। राजपाट उनका विधि साजा।' इत्यादि

८ रज्जब सन् ९३२ हिजरी शुक्रवार (२० अप्रैल सन् १५२६ ई०) को पानीपत के मैदान में बाबर ने सुलतान सिकन्दर लोदी के पुत्र तथा बहलोल लोदी के पौत्र सुलतान इब्राहीम लोदी को युद्ध में परास्त कर दिया। इसी युद्ध में इब्राहीम लोदी मारा गया।[४] २७ अप्रैल सन् १५२६ ई० को शुक्रवार के दिन मौलाना महमूद शेखजईन तथा कुछ अन्य

व्यक्तियों द्वारा दिल्ली की मस्जिद में बाबर के नाम से 'खुतबा पढा गया'[4] इस प्रकार बाबर हिन्दुस्तान का बादशाह घोषित हुआ।

बाबर का देहान्त ५ जमादिउल् अव्वल सोमवार सन् ९३७ हिजरी (२६ दिसम्बर सन् १५३० ई०) को हुआ। इस प्रकार बाबर का राजत्वकाल हिजरी सन् ९३३ से ९३७ (१५२६ ई० से १५३० ई०) तक का हुआ। 'आखिरी कलाम' सन् ९३६ हिजरी की रचना है।

'आखिरी कलाम' में जायसी ने बाबर के विषय में लिखा है :

'बल हमजा कर जैस सँभारा। जो बरियार उठा तेहि मारा।
पहलवान नाए सब आरी। रहा न कतहुँ बादि का बादी।
बड़ परताप आप तप साधे। धरम के पंथ दई चित बांधे।
दरब जोरि सब काहूँ दिए। आपुन बिरह आपु जस लिए।
राजा होइ करै तब छाँड़ि जगत माँ राज।
सब अस कहै मुहम्मद बैं कीन्हा किछु काज।''[5]

इन अर्धालियों से यह पता लगता है कि बाबर ने अपने समस्त प्रतिद्वन्दियों पर विजय प्राप्त कर ली थी। ऐतिहासिक साक्ष्य के आधार पर यह स्पष्ट है कि सन् ९३५ हिजरी (२० जनवरी १५२९ ई०) को अफगानों को दण्ड देने के लिए बाबर ने आगरे से प्रस्थान कर दिया था। ६ मई १५२९ ई० में घाघरा के युद्ध में अफगानों को परास्त करके २४ जून १५२९ ई० को बाबर आगरे लौट आया। यह बाबर की अन्तिम विजय थी जिसके द्वारा सम्पूर्ण उत्तरी भारत का वह स्वामी बन गया। उस समय तक बाबर का अधिकार मुलतान, पंजाब, दिल्ली, आगरा, अवध और बिहार में ही था। इससे यह निश्चित है कि 'आखिरी कलाम' की रचना जायसी ने २४ जून सन् १५२९ ई० के बाद सन् ९३६ हि०) की और इसकी समाप्ति बाबर के निधन सन् ९३७ हि० (सन् १५३० ई०) के पूर्व हुई।

अब 'पद्मावत' के रचनाकाल पर विचार करना है। 'पद्मावत' में एक काल संबंधी अर्धाली है :—

''सन नौ सै सैंतालिस अहै। कथा अरंभ बैन कबि कहै।''

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि 'जायसी के ग्रन्थ फ़ारसी लिपि में लिखे गए थे। हिन्दी लिपि में उन्हें पीछे लोगों ने उतारा है। इससे एक ही शब्द को किसी ने एक रूप में पढ़ा, किसी ने दूसरे रूप में। (जायसी ग्रन्थावली : वक्तव्य : प्रथम संस्करण—पृ० ९)। 'पद्मावत' की प्रतियाँ अधिकतर फ़ारसी लिपि में मिलती है। इससे पता चलता है कि जायसी ने स्वयं उसे फ़ारसी लिपि में ही लिखा था। फ़ारसी में 'सत्ताइस' और 'सैंतालिस' लिखने पर उनमें अधिक अन्तर नहीं होता है। थोड़े से भ्रम में 'सैंतालिस' का 'सत्ताइस' पढा जा सकता है। फ़ारसी लिपि मे यदि नुक़ते को हटा दिया जाय तो 'सैंतालिस' और 'सत्ताइस' एक ही तरह लिखे जायेंगे। इसलिए उपरोक्त अर्धाली में कुछ लोग 'नौ सै सैंतालिस' को लिपि भेद से नौ सै सत्ताइस' भी पढते हैं आखिरी कलाम को अन्तिम रचना मानने

वाले विद्वान् 'नौ से सत्ताइस' को ही शुद्ध पाठ मानते है। मिश्रबन्धुओं ने 'नौ सै सत्ताइस' पाठ माना है। शुक्ल जी ने 'जायसी ग्रन्थावली' के प्रथम संस्करण में 'नव सै सैंतालिस' पाठ दिया था, परन्तु उसके बाद के संस्करणों में उन्होंने 'सत्ताइस' पाठ को ही स्वीकार किया है। पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने भी 'नव सै सत्ताइस' को ही शुद्ध माना है। आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी तथा पण्डित परशुराम चतुर्वेदी का भी यही मत है। डॉक्टर विमल कुमार जैन भी ६२७ के पक्ष में हैं। डॉक्टर मुंशीराम जी शर्मा ने 'नव सै सत्ताइस' का ही समर्थन किया।[७] परन्तु फ्रांसीसी विद्वान् गार्सां द तासी के शब्दों में '६४७ (१५४०-१५४१) में उन्होंने (जायसी) अपने 'पद्मावती' (पदमावत) काव्य की रचना की।[८] डॉक्टर अब्राहम जार्ज ग्रियर्सन ने ६२७ को अशुद्ध पाठ मानते हुए लिखा है :

"पद्मावत के बनारस संस्करण के पाठ के अनुसार, जो कि अत्यंत अशुद्ध है, कवि ने इसको ६२७ हिजरी (१५२० ई०) में लिखना प्रारंभ किया, किन्तु संभवतः यह अशुद्ध है क्योंकि वह भूमिका में स्वयं कहते हैं कि सूरवंश का शेरशाह जो कि ६४७ हिजरी (१५४० ई०) में सिंहासनासीन हुआ, उस समय शासन करने वाला सुलतान था। अतः संभवतः ६४७ के स्थान पर ६२७ अशुद्ध पाठ है।"[९]

डॉक्टर माता प्रसाद गुप्त ने 'सैंतालिस' को मान्यता देते हुए 'जायसी ग्रन्थावली' के फुटनोट में 'सत्ताइस' और 'पैंतालिस' का भी उल्लेख किया है। इसके अलावा डॉक्टर बाबू राम सक्सेना, डॉक्टर रामकुमार वर्मा, डॉक्टर श्याम मनोहर पाण्डेय, श्री त्रिलोकी नारायण दीक्षित, डॉक्टर शिवसहाय पाठक, डॉक्टर जयदेव कुलश्रेष्ठ, आदि विद्वानों ने ६४७ को शुद्ध पाठ माना है। पण्डित रामखेलावन पाण्डेय ने अपने 'जायसी : तिथिक्रम और गुरु परम्परा' शीर्षक लेख में ६४७ के समर्थन में स्तुत्य प्रयास किया है। विद्वान् लेखक ने कुछ अन्तःसाक्ष्यों के आधार पर प्रामाणिक रूप से पद्मावत का रचनाकाल सन् ९४७ हिजरी माना है।

पद्मावत के राजा-बादशाह-युद्ध-खण्ड में निम्न अर्धालियाँ हैं :—

> छेंका गढ़ जोरा अस कीन्हा। खसिया मगर सुरंग तेईं दीन्हा।
> गरगज बांधि कमानें धरीं। चलहि एक मुख दारू भरीं।
> हबसी रूमी और जो फिरंगी। बड़ बड़ गुनी औ तिन्ह के संगी।"[१०]

उपरोक्त पद में तोप का जो वर्णन आया है उसके आधार पर श्री इन्द्रचन्द्र नारंग ने पद्मावत के रचनाकाल सन् ६४७ हि० के समर्थन में बहुत ही तर्कसम्मत विचार प्रस्तुत किया है :

"पदमावत में तोपों का कई स्थानों पर उल्लेख हुआ है और एक स्थान पर तोप चलाने वाले 'हब्सी रूसी और फिरंगी' का भी उल्लेख है। तोपें पहले-पहल सोलहवीं शताब्दी के आरम्भ में पुर्तगालियों और बाबर के साथ भारत में आई। यद्यपि पुर्तगाली १६वीं शताब्दी के आरम्भ में पश्चिमी समुद्र में आ चुके थे पर चटगाँव में वे पहले-पहल १५३२ में उतरे × × × सम्भवतः शेरशाह ने अपने शत्रु तुर्कों और पुर्तगालियों के

मुकाबले में हब्सी तोपचियों को अपनी सेवा में लिया होगा और रूसी (तुर्क) और फिरंगी (पुर्तगाली) तोपचियों के साथ हब्शी तोपचियों की भी प्रसिद्धि हो गई होगी। यों जायसी का यह वर्णन १५३३-३४ ई० से पहले का नहीं हो सकता।"[११] फिरंगी शब्द जायसी के समय में पुर्तगालियों के लिए प्रयुक्त होता था, जैसा कि शुक्ल जी ने 'जायसी ग्रन्थावली' की पृष्ठ संख्या २५६ (प्रथम संस्करण) के फुटनोट में लिखा है :—

"फिरंगी = पुर्तगाली। फ़ारस में यह शब्द रूम से आया जहाँ 'धर्मयुद्ध' के समय योरप से आए 'फ्रांक' लोगों के लिए पहले पहल व्यवहृत हुआ। फ़ारस से यह शब्द हिन्दुस्तान में आया और सबसे पहले आए पुर्तगालियों के लिए प्रयुक्त हुआ।"

पण्डित रामखेलावन पाण्डेय ने लिखा है कि "फिरंगियों ने मुग़लों की सेना में नौकरी की थी और उनकी ओर से युद्ध भी किए थे, किन्तु इस घटना का प्रामाणिक उल्लेख सन् १६०८ ई० के पूर्व का नहीं प्राप्त होता। बदाऊनी ने फिरंगियों के द्वारा सुलतान बहादुर के प्रति किये गये विश्वासघात का वर्णन किया है। यह घटना ३री रमज़ान ९४३ हि० की है। उत्तर भारत का फिरंगियों से परिचय ९४३ हि० के पूर्व का नहीं जान पड़ता। सन् ९२७ हि० में 'फिरंगी' का प्रयोग सम्भव नहीं था।"[१२] इसी प्रकार स्तुति खण्ड की यह अर्धाली : 'हिंदू तुरुकहि भई लराई :' सन् १५२७ ई० की खनवा की लड़ाई की ओर संकेत करती है। दिल्ली के सुलतान इब्राहीम लोदी को सन् १५२६ ई० में पानीपत के युद्ध में हराकर बाबर ने भारत में मुग़ल साम्राज्य की नींव डाली। हिन्दू राजाओं में सबसे प्रबल महाराणा संग्राम सिंह ही थे। राणा सांगा ने (संग्राम सिंह) अपने राज्य की सीमा बयाने तक विस्तृत कर ली थी। भारत में पुनः हिन्दू-राज्य स्थापित करने के लिए १७ मार्च सन् १५२७ ई० को भरतपुर के समीप खनवा (बयाने के पास) के मैदान में राणा सांगा ने बाबर से युद्ध किया। मुग़लों को उस काल में तुर्क ही माना जाता था। बाबर की मातृ-भाषा मध्य-एशिया की तुर्की भाषा थी और उसकी मूल आत्मकथा तुर्की भाषा में ही है। बाबर की इस आत्मकथा का अनुवाद फारसी में अब्दुर्रहीम खानखाना ने किया है। अतः 'सन नौ सै सैतालिस' ही 'पद्मावत' का शुद्ध पाठ है।

'पद्मावत' के प्रारम्भ में जायसी ने अपने चार अनन्य मित्रों का उल्लेख किया है जिसमें दो प्रधान मित्र थे यूसुफ मलिक और सलोने सिंह, जिन्हें जायसी ने 'मियाँ' के नाम से भी लिखा है। यूसुफ मलिक और सलोने मियाँ विषमय आम खाने से मर गये। जायसी भी उनके साथ थे, पर वे बच गये। वे आम किसी विषैले जन्तु के खाए हुए थे। यूसुफ और सलोने मियाँ गाजीपुर और भोजपुर के महाराज जगत देव (सन् १५२७ ई० से १५७३ ई०) के आश्रित थे। जगतदेव शेरशाह के मित्र थे। इससे भी यह प्रमाणित होता है कि 'पद्मावत' की रचना सन् ९३३ हि० (१५२७ ई०) के बाद ही संभव हुई। इसलिए सन् ९४७ हि० 'पद्मावत' का निश्चित रचनाकाल है।

आराकान राज्य के वज़ीर मगन ठाकुर के आश्रित कवि 'आलो उजालो' ने 'पद्मावत' का बंगला अनुवाद किया इस अनुवाद की हस्तलिखित प्रतियाँ मिली हैं जिनमें का

रचनाकाल या मिलता है शेख महम्मद जति जखन रचिल ग्रंथि सख्या सप्तविंश नव शत। परन्तु यह बंगला अनुवाद सन् १०५७ हि० (सन् १६ ७ ई) के लगभग हुआ 'पद्मावत' की रचना के एक सौ दस वर्ष बाद का यह बंगला अनुवाद है। इसलिए संभव है कि 'आलो उजालो' ने सुनी सुनाई किसी निर्बल जनश्रुति के आधार पर ९२७ हि० को 'पद्मावत' का रचनाकाल मान लिया। मूल रचना के सौ वर्ष बाद का यह बंगला अनुवाद न प्राचीनतम ही कहा जा सकता है और न इसकी शुद्धता ही विश्वसनीय है। इसलिए 'आलो उजालो' का यह बंगला अनुवाद प्रमाण की कोटि में नहीं रखा जा सकता है। इसी बंगला अनुवाद के मिलने पर पण्डित रामचन्द्र शुक्ल ने जायसी ग्रन्थावली के द्वितीय संस्करण मे 'नव सै सत्ताइस' पाठ लिखा है, जब कि प्रथम संस्करण में 'नव से सैंतालिस' लिखा हुआ है। निर्विवाद ही सन् ९४७ हिजरी 'पद्मावत' का रचनाकाल है।

'आखिरी कलाम' की रचना सन् ९३६ हिजरी में हुई, यह सर्वमान्य है। यह ग्रन्थ जायसी की अन्तिम रचना नहीं हो सकती है। श्री रामरतन भटनागर ने अपना जो विचार इस विषय में प्रस्तुत किया है, वह सर्वथा ग्राह्य है :

"कट्टर इस्लाम से सूफीमत की ओर बढ़ना प्रगति के चिन्ह हैं। इसके विपरीत जो है, वह अधःपतन है। पद्मावत के रचयिता से हम यह आशा नहीं करते कि वह अंतिम रचना के रूप में कट्टर इस्लामी विचार-धारा का पोषण करे।"[13]

यह निश्चित है कि 'आखिरी कलाम' की रचना के बाद ही 'पद्मावत' की रचना हुई। इसलिए 'सन नौ से सैंतालिस' पाठ ही शुद्ध एवं मान्य है। अतः यह नितांत अमाननीय नहीं है कि जायसी ने 'पद्मावत' में 'नौ से सैंतालिस' ही लिखा था, परन्तु फ़ारसी लिपि मे लिखने के कारण कुछ लोगों ने उसे 'सत्ताइस' पढ़ा और कुछ लोगों ने 'सैंतालिस'। अब हम अपने विषय पर आएँ। अपने जन्म के बारे में जायसी ने 'आखिरी कलाम' में लिखा है—

"भा औतार मोर नौ सदी। तीस बरिख ऊपर कबि बदी॥"

पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने जायसी की उपर्युक्त अर्धाली का अर्थ पहले नवीं सदी हिजरी में तीस वर्ष बीतने पर (अर्थात् ८०० + तीस वर्ष) जायसी की जन्म तिथि सन् ८३० हि० (सन् १४२७ ई०) सिद्ध किया था, परन्तु अब उस तिथि को अमान्य मानते हुए पाण्डेय जी लिखते है—

"जायसी ने 'पद्मावत' में शेरशाह का दिल्ली के सुलतान के रूप में गुण-गान किया है, जो किसी भी दशा में सन् ९४७ हिज्री के पहले का नहीं हो सकता, क्योंकि दस मुहर्रम सन् ९४७ हिज्री (१९ मई, सन् १५४० ई०) में शेरशाह ने हुमायूँ को कन्नौज के निकट हराया था और उसे राज्य-च्युक्त कर दिल्ली का सिंहासन हथियाया था। ऐसी स्थिति में जायसी की अवस्था बहुत लम्बी हो जाती है और 'नौ सदी' का नवीं सदी अर्थ लगाना भी ठीक नहीं जँचता अब रहा ९०० और ८७० की बात इनमें से कोई भी तिथि ग्राह्य हो सकती है।"[14]

आगे चलकर सन् ८७० हिजरी में ही जायसी का जन्म होना पाण्डेय जी ने सभव माना है। पाण्डेय जी अपने मत को प्रामाणिक रूप से प्रतिष्ठित करने में सर्वथा असमर्थ है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने हि० सन् ८७० के आसपास जायसी के जन्म का अनुमान किया है। डॉक्टर सूर्यकान्त शास्त्री ने सन् १४८३ ई० में जायसी का जन्म माना है और शास्त्री जी के अनुसार सन् १५४० ई० (९४७ हि०) में पद्मावत की रचना हुई। इसप्रकार जायसी का जन्म सन् ८९० हि० में हुआ। परन्तु पद्मावत की भूमिका में शास्त्री जी ने हिजरी सन् ८३० को जायसी का जन्मकाल माना है। श्री रामपूजन तिवारी ने उपरोक्त अर्धाली का अर्थ ८७० हि० निकाला है।

"इस पंक्ति का अर्थ यह हो सकता है कि अपने जन्म के वर्ष का संकेत करने के लिए कवि यह कहना चाहता है कि 'मेरा जन्म ९०० हिजरी में हुआ (लेकिन) कवि (मैंने) ने तीस वर्ष बढ़ाकर कहा है।' अर्थात् ९०० हिजरी से तीस वर्ष पहले उसका जन्म हुआ। इस प्रकार जायसी का जन्म ८७० हिजरी (सन् १४६४ ई०) माना जा सकता है।"[१५]

आचार्य रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है कि, '**इन पंक्तियों का ठीक तात्पर्य नहीं खुलता। जन्मकाल ९०० हिजरी मानें तो दूसरी पंक्ति का अर्थ यही निकलेगा कि जन्म से ३० वर्ष पीछे जायसी कविता करने लगे और इस पुस्तक के कुछ पद्य उन्होंने बनाए।**' (**हिन्दीसाहित्य का इतिहास**, सं० २००३ वि०, पृ० ९९)

'नौसदी' के बदले 'नव सदी' रूप भी मिलता है। पण्डित परशुराम चतुर्वेदी 'नव सदी' को हिजरी नवीं शताब्दी मानते हैं और उनका मत है कि जायसी का जन्म हिजरी ९०० से पहले हुआ। चतुर्वेदी जी शुक्ल जी की तरह इस पंक्ति को महत्वपूर्ण मानते है। दोनों ने ही स्वीकार किया है कि इस पंक्ति का अर्थ स्पष्ट नहीं हो पाता।

सैयद कल्बे मुस्तफा ने भी सन् ९०० हि० को शुद्ध जन्मकाल माना है। डॉ० जयदेव का भी यही मत है। श्री रामरतन भटनागर ने जायसी का जन्म सन् ९०० हिजरी में मानते हुए लिखा है : तीस वर्ष की आयु में जायसी कवि के रूप में प्रसिद्धि पाने लगे थे—'कवि बदी' से यही आशय है। 'नौ' सदी का अर्थ 'नई' सदी लेने पर यह स्पष्ट है कि जायसी का जन्म ९०० हिजरी (१४९३) में हुआ। ३० वर्ष की अवस्था में वे कवि रूप में प्रसिद्ध हुए (१५२३);"[१६] श्री रामखेलावन पाण्डेय के अनुसार जायसी का जन्म सन् ९०० हिजरी मे हुआ। डॉक्टर कमल कुलश्रेष्ठ ने जायसी के जन्म की कल्पना हिजरी सन् ९०६ में की है जबकि नवीं शताब्दी नहीं वरन् दसवीं शताब्दी थी। डॉक्टर मनमोहन गौतम ने भी सन् ९०६ हि० का ही समर्थन किया है। श्री विमल कुमार जैन का भी यही मत है। भिन्न-भिन्न मतो के योगफल (सन् ८३० हिजरी से ९०६ हिजरी) के अनुसार जायसी के जन्मकाल के लिए ७६ वर्ष का अंतर बहुत ही चिन्तनीय है।

जायसी किसी गुरु के मुरीद अवश्य थे। अपनी रचनाओं में कवि ने गुरु का उल्लेख किया है। गुरु और शिष्य में अवस्था अंतर होना स्वाभाविक है। जायसी भी अपने गुरु से उम्र में छोटे रहे होंगे इसमें सन्देह नहीं डॉक्टर ग्रियर्सन ने लिखा है कि जायसी स्वयं अपने काव्य की भूमिका में सूचित करते हैं कि वह सैयद अशरफ जहाँगीर और शेख बुरहान के शिष्य

थे।[१७] जायसी की गुरु परम्परा पर 'जायसी : तिथिक्रम और गुरु परम्परा' शीर्षक अपने विद्वतापूर्ण निबंध में श्री रामखेलावन पाण्डेय ने बहुत ही तर्क-सम्मत विचार प्रस्तुत किया है। गुरु-संबंधी पाण्डेय जी की जो मान्यता है, वह सर्वथा मान्य है। पाण्डेय जी के अनुसार जायसी 'शेख बुरहान' के शिष्य थे। उनका मत है कि सैयद अशरफ़ जहाँगीर पीर अथवा कुल-पूज्य है और शेख बुरहान कालपीवाले दीक्षा-गुरु। हाज़ी शेख के पुत्र और सैयद अशरफ़ के पौत्र शेख मुबारक के माध्यम से इन्होंने शेख़ बुरहान का शिष्यत्व ग्रहण किया।[१८]

शेख बुरहान का नाम इब्राहीम था और पूरा विरुद था शेख इब्राहीम दरवेश बुरहान और पिता का नाम था अली। शेख़ बुरहान हिन्दी में कविता करते थे। डॉ० शिवसहाय पाठक ने भी शेख़ बुरहान को ही जायसी का गुरु माना है। जौनपुर के बादशाह हुसैनशाह के आश्रित 'मृगावती' के रचयिता कवि कुतबन भी शेख़ बुरहान के ही शिष्य थे। 'मृगावती' का रचनाकाल है सन् ९०९ हिज्री (सन् १५०३-०४ ई०)। शेख़ बुरहान बुंदेलखण्ड के अन्तर्गत कालपी के रहने वाले थे और कहा जाता है कि वे सौ वर्ष की आयु में सन् ९७० हिजरी (१५६२-६३ ई०) में मरे। सन् ९६० हिजरी में बदाऊनी ने इनका साक्षात्कार किया था और उसके साक्ष्यानुसार इनकी मृत्यु सन् ९७० (१५६२-६३ ई०) में प्रायः सौ वर्ष की आयु में हुई। इसप्रकार उनका जन्म ८७० हिजरी के आसपास ठहरता है। आइन-ए-अकबरी में अबुल फज़ल अल्लामी ने शेख बुरहान का उल्लेख करते हुए लिखा है :

"He lived as a recluse in Kalpi, and subsisted on milk and sweetmeats, denying himself water. He knew no Arabic, and yet explained the Quran. He was a Mahdawi. He died in 970 at the age of one hundred years, and was buried in his cell.[१९]

इन्होंने कालपी को अपना निवासस्थान बनाया था। निवास के लिए छोटी सी गुफा बनवा ली थी। मृत्यु के पश्चात् शिष्यों ने उनकी इच्छा का पालन करते हुए उसी गुफा मे उन्हें समाधि दे दी। इस प्रकार शेख़ बुरहान का जन्म सन् ८७० हिजरी के आसपास ठहरता है। जायसी के गुरु शेख़ बुरहान की उम्र जायसी से अधिक रही होगी, यह निश्चित है। इसलिए सन् ८७० हिजरी के बाद ही जायसी का जन्म संभव है। सन् ८७० हिजरी से पूर्व जायसी के जन्म की कल्पना हम नहीं कर सकते हैं। सन् ८२० हिजरी में जिन लोगों ने जायसी के जन्म को स्थिर किया है, उनके अस्थिर एवं अप्रामाणिक विचार हैं।

'पद्मावत' की रचना शेरशाह के शासनकाल में हुई थी। 'पद्मावत' के 'स्तुति-खण्ड' में जायसी ने शाहे-वक़्त शेरशाह को आशीर्वाद दिया है :

"दीन्ह असीस मुहम्मद करहु जुगहि जुग राज।
पातसाहि तुम्ह जग के जग तुम्हार मुहताज॥" पद संख्या १३

इससे दो बातों का पता चलता है। प्रथम, जायसी अवस्था में शेरशाह से कुछ बड़े अवश्य थे, दूसरी, 'पद्मावत' की रचना के समय जायसी निश्चित रूप से वृद्ध थे, क्योंकि शाहेवक्त शेरशाह को आशीर्वाद देने वाला कवि अवश्य ही वृद्धावस्था को प्राप्त हो चुका होगा। जायसी शेरशाह से उम्र में बड़े थे. इसलिए शेरशाह के जन्मकाल पर विचार कर लेने से हम जायसी के का पता लगाने में बहुत अर्थों तक सफल हो सकेंगे।

शेरशाह का जन्म कब हुआ, यह निश्चित नहीं है। 'तारीख ए-शेरशाही' में अब्बास खान सरवानी ने शेरशाह के जन्मकाल का उल्लेख नहीं किया है। मुहम्मद कासिम हिन्दू शाह 'फरिश्ता' ने भी इस विषय की उपेक्षा कर दी है। भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र ने 'बादशाह-दर्पण' शीर्षक लेख में शेरशाह उपनाम फरीद खाँ का जन्म हिजरी सन् ८७१ में माना है। श्रीनेत्र पाण्डेय ने लिखा है कि फरीद (शेरशाह) की जन्म-तिथि का ठीक-ठीक पता नहीं है। कुछ लोग सन् १४७२ ई० और कुछ लोग १४८६ ई० इसकी जन्म-तिथि मानते हैं। प्रो० राधाकृष्ण चौधरी ने सन् १४७२ ई० (८७७ हिजरी) मे शेरशाह का जन्म माना है। पण्डित चन्द्रबली पाण्डेय ने भी शेरशाह का जन्म रज्जब ८७७ हिजरी (दिसम्बर, १४७२ ई०) में लिखा है। आधुनिक अंग्रेज इतिहास-लेखकों ने शेरशाह का जन्मकाल सन् १४८५-८६ ई० (८९१ हिजरी) माना है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री ऑफ इण्डिया' के चतुर्थ खण्ड में इतिहासकार ने लिखा है कि फरीद खाँ (शेरशाह) का जन्म सन् १४८६ ई० (८९४ हिजरी) के कुछ वर्ष पहले हुआ था। चार्ल्स किनकेड (charls Kincaid) ने भी इसी सन् में शेरशाह के जन्म का अनुमान किया है।[२०] श्री कालिका रञ्जन कानूनगो ने सन् १४८६ ई० की पुष्टि की है।

शेरशाह की जितनी जन्मतिथियाँ ऊपर दी गई हैं, उन तिथियों से पूर्व ही जायसी का जन्म होना संभव है। अधिक-से-अधिक सन् ८९१ हिजरी के पूर्व ही हम जायसी का जन्म होना मान सकते हैं। जिन लोगों ने सन् ९०० हि० अथवा ९०६ हि० में जायसी के जन्म का अनुमान किया है, वह प्रमाण की कसौटी पर खरा नहीं उतरता है। पण्डित रामखेलावन पाण्डेय ने सन् ९०० हिजरी को ही जायसी का प्रामाणिक जन्मकाल माना है। पाण्डेय जी के लिखे अनुसार जायसी शेरशाह के बाल्य-सहचर थे। जायसी और शेरशाह अगर दोनों बाल्य-सहचर थे, तब एकाध वर्ष का ही अवस्था-अन्तर दोनों में होना चाहिए। जायसी अगर शेरशाह से उम्र में दो चार वर्ष के ही बड़े रहे हों तो भी सन् ८९१ हिजरी के पूर्व ही जायसी का अवतार होना संभव है। अगर बाल्य-सहचर के रूप में शेरशाह को थोड़ी देर के लिए जायसी से बड़ा मान लिया जाय, तो वैसी हालत मे अधिक-से-अधिक सन् ८९५ हिजरी के बाद जायसी के जन्म की संभावना कल्पना मात्र है। पाण्डेय जी ने अपने निबंध (जायसी : तिथिक्रम और गुरु-परम्परा) में शेरशाह के जन्मकाल पर ध्यान नहीं दिया और न इस पर विचार ही किया, इसलिए पाण्डेय जी ने सन् ९०० हिजरी में जायसी का जन्म मान लिया।

'तारीख-ए-शेरशाही' में अब्बास खान सरवानी ने लिखा है कि शेरशाह सुलतान बहलोल लोदी के शासनकाल में ही उत्पन्न हुआ। अफगान निवासी बहलोल लोदी ने सन् ८५५ हिजरी (१९ अप्रैल, १४५१ ई०) को दिल्ली में अपना राज्याभिषेक करा लिया और अपने नाम से मस्जिदों में खुतबा पढ़वाया। ग्वालियर से लौटते समय मार्ग में ही बहलोल लोदी का स्वास्थ्य बिगड़ गया और वह बीमार पड़ गया। जलाली के निकट सन् ८९५ हिजरी (सन् १४८९ ई० की जुलाई के मध्य) में उसका देहान्त हो गया। इसलिए शेरशाह का जन्म सन् ८५५ और ८९५ हिजरी के बीच किसी समय हुआ।

इब्राहीम, शर्की वंश का महानतम शासक था। उसने लगभग ३४ वर्ष तक राज्य किया सन् ८३९ हिजरी १३३६ ई० में उसकी मृत्यु हो गई और महमूद शाह उसका

उत्तराधिकारी हुआ। उसने दिल्ली पर आक्रमण किया किन्तु अफगान सरदारों की सहायता से बहलोल लोदी ने उसे परास्त किया. सन् ८६२ हिजरी (१४५७ ई०) में उसकी मृत्यु हो गई। विजय प्राप्ति के बाद जब पर्वतीय प्रदेशों के अफ़गान सरदार वापस अफ़गान लौट गए तो बहलोल लोदी ने अपने सरदारों को निर्देश दिया कि यदि कोई अफ़गान पर्वतीय प्रदेशों से हिन्दुस्तान में मेरी सेवा ग्रहण करने आता है तो उसे तत्काल मेरी उपस्थिति में लाओ। मैं उसे उसकी योग्यता से कहीं अधिक जागीरें दे कर सन्तुष्ट करने की चेष्टा करूँगा।' पर्वतीय क्षेत्रों के अफ़गानों ने जब बहलोल की इस स्नेहसिक्त उदारता को सुना तो वे लोग प्रतिदिन भारी संख्या में हिन्दुस्तान आने लगे और उन्हें उनकी इच्छा के अनुकूल जागीरें आदि भी मिलने लगीं। इन्हीं दिनों शेरशाह का पितामह इब्राहीम खान सूर अपने पुत्र हसन खान सूर के साथ अपने निवास स्थान अफ़गानिस्तान स्थित 'तख्ते सुलेमान' की पहाड़ी घाटी को छोड़ कर हिन्दुस्तान में आया। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया' के विद्वान् लेखक ने भी लिखा है :

"During his long struggle with the kings of the Sharqi dynasty of Jaunpur, Sultan Buhlul Lodi recruited his forces with bodiel of Afghans from Roh, the highlands of the Sulaiman range, whose leaders received assignments in India for the maintanance of their followers. Among them was ohe Ibrahim Khan, of the Sur tribe."[२३]

अब्बास सरवानी ने लिखा है कि, 'ये लोग (शेरशाह के पितामह और पिता) मुहब्बत खान सूर, दाऊद साहू खेल की सेवा में भरती हुए। इस सरदार को बहलोल ने हरियाना तथा बहकला के पंजाब स्थित परगने जागीर में दे रखे थे। इब्राहीमखान सूर अपने परिवार सहित बजवाड़ा के परगने में रहने लगा।' मुहब्बत खान सूर, दाऊद साहू खेल इत्यादि अफगान सरदार सन् ८६२ हिजरी (सन् १४५७ ई०) के बाद ही हिन्दुस्तान में अफ़गान से आए। बहलोल लोदी द्वारा इन लोगों को जागीरें मिलीं। इन सरदारों के जम जाने के कुछ वर्षों बाद शेरशाह के पितामह इब्राहीम खान सूर अफ़गान से आया होगा— संभवत: ८७८ हिजरी (१४७३ ई०) में, हुसेन शाह शर्की के प्रथम दिल्ली आक्रमण के बाद। हुसेन शाह शर्की ने सन् ८७८ हिजरी (१४७३ ई०) में जौनपुर से दिल्ली पर आक्रमण किया था। उस समय कुछ ऐसी परिस्थिति उत्पन्न हो गई जिसके कारण बहलोल और हुसेनशाह में संधि हो गई और हुसेनशाह जौनपुर वापस चला गया। इसलिए सन् ८७८ हिजरी के बाद ही शेरशाह के पितामह का अपने पुत्र हसन खान के साथ हिन्दुस्तान आना सम्भव है।

हसन खान के आठ लड़के थे। फरीद खान तथा निजाम खान एक ही अफगान माता से पैदा हुए थे। अली और युसुफ एक माँ से, खुर्रम और शादी खान एक अन्य माँ से तथा सुलेमान और अहमद चौथी माँ से उत्पन्न हुए थे। हिन्दुस्तान आने के समय शेरशाह के पिता हसन खान अविवाहित थे। अगर विवाहित होते तो अफ़गान से हिन्दुस्तान आने के समय शेरशाह के पितामह इब्राहीम और पिता हुसेन के साथ उनकी माँ का भी उल्लेख होता परन्तु सरवानी ने सिर्फ़ इब्राहीम और हुसेन की ही चर्चा की है इससे इसका संकेत तो मिलता

है कि शेरशाह के पिता हुसेन खान का विवाह हिन्दुस्तान आने पर ही हुआ। इसलिए सन् ८८० हि० (सन् १४७५ ई०) के पूर्व हम शेरशाह के जन्म की कल्पना नहीं कर सकते हैं।

मसनदे-आली तातार खान की मृत्यु के पश्चात् सुलतान बहलोल ने लाहौर के सूबे का शासन उमर खान को सौंप दिया। उमर खान ने शाहाबाद परगने में अनेक गाँव हसन खान (शेरशाह के पिता) को जागीर के रूप में दे दिए। कुछ समय के पश्चात् जब हसन फरीद (शेरशाह) को उमरखान की सेवा करने के हेतु ले गया तो उमरखान ने फरीद जैसे छोटे बालक से किसी तरह की सेवा कराना उचित नहीं समझा और इसलिए उसे वापस भेज दिया। यह घटना बहलोल की मृत्यु (सन् ८९६ हि० = १४८९ ई०) से पूर्व ही हुई होगी। उमरखान ने फरीद को 'छोटा बालक' कहा है अर्थात् उन दिनों फरीद की अवस्था अधिक-से-अधिक नौ-दस वर्ष की रही होगी। इसलिए सन् ८८५ हिजरी (१४८० ई०) के लगभग शेरशाह का जन्म होना संभव है। एक प्रश्न उठ सकता है कि उमर खान के पास फरीद को लेकर हसन खान का जाना सन् ८९५ हिजरी (बहलोल लोदी की मृत्यु) के बाद भी हो सकता है। 'तारीख-ए-शेरशाही' में उपरोक्त घटना (छोटा बालक वाली घटना) के बाद लेखक ने लिखा है :

"इसके कई वर्षों के बाद हसन खान का पिता इब्राहीम खान नारनौल में परलोक सिधार गया। जब हसन खान को अपने पिता की मृत्यु का समाचार मिला तो वह उमर खान की सेवा में उपस्थित हुआ, जो उस समय सुलतान बहलोल की सेना के साथ था।"[२२]

इससे यह स्पष्ट होता है कि यह घटना बहलोल लोदी के शासन काल में ही घटित हुई थी।

१७ जुलाई सन् १४८९ ई० यानी सन् ८९५ हिजरी में बहलोल लोदी के मरने के बाद उसका दूसरा लड़का निज़ाम खाँ सिकन्दर लोदी के नाम से दिल्ली की गद्दी पर बैठा। अपने भाई बारबक शाह को परास्त कर उसने जौनपुर को अपने अधिकार में कर लिया। हुसेन शाह शर्की के साथ सिकन्दर लोदी का युद्ध बनारस के निकट सन् ९०१ हिजरी (१४९५ ई०) में हुआ और हुसेन शाह हार कर बिहार भाग गया। अन्त में भागलपुर जिले के कहल गाँव में सन् ९०५ हिजरी (१५०० ई०) में उसकी मृत्यु हो गई। सन् ९०१ हिजरी और ९०५ हिजरी के बीच किसी समय अपने घर वालों से रुष्ट होकर शेरशाह जौनपुर में जमाल खान की सेवा में चला गया। कुछ वर्षों के बाद हसन खान को जौनपुर में जमालखान से भेंट करने के लिए आना पड़ा। जौनपुर में उसके सभी सम्बन्धियों ने शेरशाह जैसे होनहार नवयुवक के साथ मनोमालिन्य के कारण हसनखान को भला बुरा कहा। सोलह वर्ष से पैंतीस वर्ष तक की अवस्था का मनुष्य युवक कहलाता है। शेरशाह को 'नवयुवक' कहा गया है। उन दिनों शेरशाह की अवस्था बीस वर्ष के लगभग की रही होगी। शेरशाह और हसन खान सन् ९०१ हिजरी और ९०५ हिजरी के बीच जौनपुर गये। दोनों के जाने में कुछ वर्षों का अन्तर अवश्य था। संभवतः सन् ९०१ हिजरी में शेरशाह रुष्ट होकर जौनपुर गये होंगे और तीन चार वर्ष के बाद सन् ९०५ हिजरी में हसन खान का जौनपुर जाना असम्भव नहीं है। इस प्रकार कई वर्षों बाद (सखानी) और तीन चार साल बाद (फरिश्ता) की

पुष्टि भी हो जाती है। सन् ९०५ हिजरी में शेरशाह की उम्र बीस वर्ष की थी और नव युवक' के लिए बीस वर्ष की अवस्था उचित ही है। इसलिए शेरशाह का जन्म सन् ८८५ हिजरी (१४८० ई०) में होना प्रामाणिक है।

सन् ८८५ हिजरी में हसनखान की उम्र तीस वर्ष से कम की नहीं हो सकती है क्योंकि इब्राहीम लोदी के शासनकाल (सन् ९२३ हिजरी से ९३२ हि० = १५१७ ई० से १५२६ ई०) में हसन खान वृद्ध हो चुके थे। इब्राहीम लोदी के शासनकाल ही में शेरशाह ने एक पत्र दौलतखान को लिखा था, 'मियाँ हसन वृद्ध हो चुका है और उसकी समस्त इन्द्रियाँ शिथिल हो गई हैं।'[२३] इब्राहीम के ही राज्यकाल में हसन खान की मृत्यु हो गई थी। मृत्यु के समय ७०-७५ वर्ष की उम्र हसन की रही होगी। इससे इतना संकेत तो मिलता ही है कि अफ़गान से आने के समय हसन खान की अवस्था २१ वर्ष के लगभग की रही होगी। यह निश्चित् है कि हसन खान उन दिनों शादी-शुदा नहीं थे। अगर विवाहित होते तो उनके प्रथम पुत्र शेरशाह का जन्म हिन्दुस्तान आने के पूर्व ही होता और अफ़गान से आने के समय इब्राहीम खान सूर के साथ उनके पुत्र हसनखान और पौत्र फरीदखान का भी उल्लेख इतिहासकार करते। परन्तु अफ़गान छोड़ने के समय फरीद खान की चर्चा नहीं है। इसलिए हिन्दुस्तान आने पर ही हसनखान का विवाह हुआ, यह निश्चित है।

पहले लिखा जा चुका है कि शेरशाह के पिता और पितामह सन् ८७८ हिजरी के बाद ही हिन्दुस्तान आए। हिन्दुस्तान आने पर स्थिर होने में कई एक वर्ष लग ही गए होंगे। जम जाने पर ही शादी विवाह की चर्चा अथवा चिन्ता हुई होगी। इस प्रकार सन् ८८३ हिजरी के पूर्व हसन खान का विवाह होना संभव नहीं है। इसलिए शेरशाह का जन्म सन् ८८५ हि० (१४८० ई०) अप्रामाणिक नहीं कहा जा सकता है।

इब्राहीम लोदी की मृत्यु (सन् ९३२ हिजरी = १५२६ ई०) के पूर्व शेरशाह को बिहार खान (बहर खाँ लोहानी) के दरबार में जाकर उसकी सेवा ग्रहण करनी पड़ी। कहा जाता है कि एक बार बिहार खान के साथ आखेट के समय शेरशाह ने एक शेर को तलवार के एक ही प्रहार से मार दिया। उसी दिन से 'फरीद' शेरखान कहलाने लगा। इस घटना के समय शेरशाह की उम्र ४६ वर्ष की होती है। सन् ९३२ हिजरी के बाद भी शेरशाह बिहार खान की सेवा में रहा।

सन् ९४६ हिजरी, तारीख २३ जिलाहिज (सन् १५४० ई०, तारीख २ मई = वि० स० १५९७ ज्येष्ठ कृष्ण ९) को हुमायूँ बिना मुकाबिले के शिकस्त खाकर आगरे होता हुआ लाहौर पहुँचा। उस समय शेरशाह हुमायूँ को परास्त करके हिन्दुस्तान का सम्राट् बन चुका था परन्तु उस समय तक उसका अभिषेक नहीं हुआ था। दिल्ली के सुलतान-पद पर उसका अभिषेक सन् ९४८ हिजरी (२६ जनवरी, सन् १५४२ ई०) को हुआ। बादशाह का ताज उसने अपने सिर पर रखा। सन् ९५२ हिजरी, रबि-उल-अव्वल की दसवीं तारीख (मई १५४५ ई०) को शेरशाह का देहान्त हो गया। शेरशाह की इस निधन तिथि को सभी इतिहासकारों ने माना है।

हिन्दुस्तान की बादशाहत मिलने के समय शेरशाह वृद्धावस्था की देहरी पर पाँव रख चुके थे। मुहम्मद कासिम फरिश्ता ने इस घटना का उल्लेख अपने इतिहास में किया है। फरिश्ता का मूलग्रन्थ फारसी में लिखा हुआ है जिसका अंग्रेजी अनुवाद 'हिस्ट्री आफ दी राइज आफ दी मह्मडन पावर इन इण्डिया' के नाम से जॉन ब्रिग्स ने किया है। उक्त पुस्तक मे शेरशाह की वृद्धावस्था का विवरण इस प्रकार है :—

"It is said that Sheer Shah being told that his beard grew white, replied, 'it was true that he had obtained the throne in the evening of life; a circumstance he always regretted, as it left him so short a time to be of use to his country and to promote the welfare of his people.''[२४]

सर जार्ज डनवर ने भी उपर्युक्त घटना का जिक्र 'हिस्ट्री आफ इण्डिया' के प्रथम खण्ड मे किया है (पृ० १७४)। 'वीर विनोद में कविराज श्यामलदास ने इस घटना का उल्लेख इस तरह किया है :

जब वह (शेरशाह) अपनी डाढ़ी को सिफेद देखता तो अफसोस के साथ कहता कि मुझको शाम के वक्त बादशाहत मिली।"[२५] प्रायः सभी इतिहासकारों के मतानुसार शेरशाह का अन्त उसके जीवन की संध्यावेला में हुआ, परन्तु प्रो० कालिकारञ्जन कानूनगो ही एक ऐसे व्यक्ति है जिन्होंने 'शेरशाह' नामक अंग्रेजी पुस्तक में लिखा है कि अपने जीवन के मध्याह्न में ही वह (शेरशाह) विजयी और लाभप्रद कार्य करने वाला दक्ष सेनानी तथा कूटनीतिज्ञ शासक उठ गया। शेरशाह का जन्म सन् ८८५ हिजरी (१४८० ई०) में मान लेने से सन् ६४८ हिजरी और ६५१ हिजरी (१५४२ ई०-१५४५ ई०) के मध्य, शेरशाह की अवस्था ६२ और ६५ के बीच में होती है। इतनी अवस्था में डाढ़ी के बालों में निश्चित् रूप से सफेदी आ जाती है। इसलिए सन् ८८५ हिजरी (१४८० ई०) में शेरशाह का जन्म होना प्रामाणिक है।

पिछले पृष्ठों में लिखा गया है कि जायसी उम्र में शेरशाह से बड़े थे, इसलिए यह निश्चित है कि शेरशाह के जन्म सन् ८८५ हिजरी (१४८० ई०) से पूर्व ही जायसी का जन्म हुआ।

यह भी निश्चित है कि जायसी का जन्म नवीं सदी हिजरी (१३९८ ई० में १४९४ ई० तक) में हुआ था। कब हुआ था, इसके बारे में कवि ने स्पष्ट रूप से नहीं लिखा है। संभवतः कवि को अपने जन्म सन् का ज्ञान निश्चित रूप से नहीं था। 'भा अवतार मोर नौ सदी' के बाद कवि ने **'तीस बरिस ऊपर कवि बदी'** सोद्देश्य लिखा है और इस अर्धाली का 'ऊपर' शब्द महत्त्वपूर्ण है। इस अर्धाली के बाद ही भूकंप का वर्णन कवि ने किया है :

"आवत उवतचार बड़ ठाना। भा भूकंप जगत अकुलाना।
धरती दीन्ह चक्र विधि भाईं। फिरै अकाश रहट कै नाईं।
गिरि पहार मेदिनि तस हाला। जस चाला चलनी भल चाला।
मिरित लोक जेहि रचा हिंडोला। सरग पताल पवन खट डोला।
गिरि पहार परबत ढहि गए। सात समुद्र कहच मिलि भए।
धरती ८ास फाटि महरानी। पुनि मह मया जौ सिस्टि हरानी।' इत्यादि

यह भूकंप-वर्णन जायसी के जन्मकाल की ओर संकेत करता है। जिस भूकंप का वर्णन जायसी ने किया है वह अपने समय का असाधारण और भयंकर भूकंप था। पं० चन्द्रबली पाण्डेय को इस भूकंप का पता ठीक-ठीक नहीं लगा कि यह कब घटा था ? उपरोक्त अर्धालियों का उल्लेख करते हुए पाण्डेय जी ने लिखा है कि 'जायसी ने इसमें अपने जन्म-काल का जैसा वर्णन किया है वह इतिहास में कब घटा इसका ठीक-ठीक पता अभी तक नहीं चला। यदि इस भूकंप का पता हो जाता तो जायसी का जन्म-काल ठीक-ठीक निकल आता।'[२६] मालूम पड़ता है पाण्डेय जी ने इस भूकंप के लिए विशेष अनुसंधान नहीं किया।

इतिहास से पता चलता है कि एक भयंकर भूकंप सन् ९११ हि० (सन् १५०५ ई०) में आगरा में घटित हुआ था। 'तारीख-ए-खान जहान लोदी' के इतिहासकार ने भूकंप के बारे में लिखा है :

"On Sunday, the 3rd of Safar, 911 (July, 1505 A. D.) a violent earthquake occurred at Agra, and lofty buildings are thrown down. The living thought the day of judgement had arrived the dead, the day of resurrection. No such earthquake had been known in Hindustan since the days of Adam, nor is any such recorded in the page of history. One of the able scholars of Hind has traced its date in the word "Kazi". Many people say, that on the self-save day an earthquake was felt throughout most of the provinces of Hindustan."[२७]

'मुन्तखबुत्तवारीख' के लेखक अल्-बदायूनी ने तीसरी सफर सन् ९११ हि० (छठी जुलाई १५०५ ई०) में होने वाले एक भीषण भूकंप का वर्णन किया है। 'बाबरनामा' में भी बाबर ने इस भूकंप की चर्चा करते हुए लिखा है कि 'तीसरी सफर को तैंतीस धक्के लगे और प्रायः एक मास तक प्रतिदिन दो तीन धक्के लगते रहे।' अब्दुल्लाह ने 'तारीख-ए-दाऊदी' में भी इस भूकंप का जिक्र किया है। 'कैम्ब्रिज हिस्ट्री आफ इण्डिया' में इस भूकंप का उल्लेख इतिहासकार ने किया है :

"On July 6 a most abstructive earthquake occurred in Agra. The area affected by it was extraordinarily large. It was general throughout India, it is mentioned by Babur in his memore, and it is said by Budauni to have extended to Persia.[२८]

डॉक्टर वासुदेव शरण अग्रवाल ने सर्वथा भिन्न विचार प्रकट किया है। इस भूकंप के बारे में अग्रवाल जी ने 'पद्मावतः संजीवनी व्याख्या' (द्वितीयावृत्ति) की पृष्ठ संख्या ८५ पर लिखा है कि, "१५०५ ई० (९११ हिजरी) में अवश्य एक ऐसा भूकंप हुआ था किन्तु यह वह नहीं हो सकता जिसका जायसी ने उल्लेख किया है।"[२९] अग्रवाल जी की धारणा है कि जायसी के जन्म सन् के आस-पास एक बड़ा भूकंप आया था। अग्रवाल जी के मतानुसार जायसी का जन्म सन् ९०० हिजरी के पूर्व हुआ था और इसीलिए इस सन् के पूर्व किसी ऐसे भूकंप की चर्चा किसी इतिहास-ग्रन्थ में नहीं मिलती है सन् ८८७ हिजरी १४८२ ई० में होने वाले एक भूकंप का उल्लेख निजामुद्दीन ने 'तबकात' में किया है, परन्तु यह प्रामाणिक नहीं माना जा सकता

क्योंकि यह उल्लेख बहुत बाद का है और किसी समकालीन इतिहासकार ने इसकी चर्चा नहीं की है।

इसमें कोई सन्देह नहीं कि हिजरी सन् ९११ में विनाशकारी भूकंप हुआ था। जायसी को अपने जन्म के निश्चित काल का ज्ञान नहीं था, इसीलिए कवि ने भूकंप का उल्लेख सकारण किया है। सन् ९११ हिजरी वाला भूकंप अपने समय की असाधारण घटना थी, इसलिए कवि ने उस घटना को आधार बना कर अपने जन्मकाल की ओर संकेत किया है। उपर्युक्त जन्म संबंधी अर्धालियों में यह संकेत मिलता है कि कवि के जन्म के तीस वर्ष के ऊपर सन् ९११ हिजरी में भूकंप हुआ था। अगर भूकंप वाली घटना का संबंध जायसी के जन्मकाल से नहीं होता तो कवि 'तीस बरिख ऊपर' में 'ऊपर' शब्द का प्रयोग नहीं करता। यह 'ऊपर' शब्द ही कवि के जन्मकाल और भूकंप की संबंध-शृंखला है। आज भी किसी महत्वपूर्ण घटना के आधार पर आगे-पीछे का समय निर्धारित किया जाता है। जिन लोगों को अपने जन्मकाल का निश्चित ज्ञान नहीं रहता है, उन्हें किसी विशेष घटना का हवाला देकर उसके पूर्व या पश्चात् की जन्मतिथि निकाल ली जाती है। मर्दुम शुमारी में शुमार-कुनिन्दा को इस तरीके को अपनाने की हिदायत रहती है। जायसी के लिखने का तात्पर्य यही है कि जन्म के तीस वर्ष से अधिक हुए कि भूकंप हुआ था। यह निश्चित् है कि सन् ९११ हिजरी वाले भूकंप के समय जायसी की अवस्था तीस से ऊपर थी। इसलिए सन् ८८१ हिजरी से पूर्व ही कवि जायसी का जन्मकाल स्थिर होता है। अगर कवि को निश्चित् जन्म सन् का ज्ञान होता तो स्पष्ट रूप से इसका उल्लेख करता।

प्राचीनकाल के किसी भी कवि ने अपनी जन्मतिथि का उल्लेख निश्चित् रूप से नहीं किया है। अन्तः साक्ष्यों और बाह्य साक्ष्यों के आधार पर उन कवियों के स्थितिकाल का पता चलता है। सैयद कल्बे मुस्तफा के अनुसार जायसी बाल्यावस्था में ही अनाथ हो गये और साधु फकीरों के साथ दर-दर भटकते रहे। इसलिए अपने निश्चित् जन्मकाल से अनभिज्ञ रहना जायसी के लिए अस्वाभाविक नहीं है। जायसी एक तो अनाथ थे, उनकी दीन-हीन अवस्था थी और दूसरे साधु फकीरों का संग था, वैसी हालत में अपने निश्चित् स्थितिकाल के बारे में कैसे कुछ कह सकते थे। इसके अलावा प्राचीनों में जन्म-संबंधी तिथियों की जानकारी करने की प्रवृत्ति भी नहीं थी। इसीलिए जायसी ने भी इस पर विशेष ध्यान नहीं दिया हो तो आश्चर्य नहीं। सज्ञान होने पर उनको इतना ही मालूम हो सका कि भूकंप (सन् ९११ हि०) के समय उनकी अवस्था तीस से ऊपर की हो चुकी थी। इसलिए सन् ८८१ हि० से पूर्व जायसी के जन्म की संभावना अप्रत्याशित नहीं है।

जायसी के गुरु शेख बुरहान के जन्म सन् ८७० हिजरी के बाद किसी समय जायसी का जन्म होना चाहिए। अगर अपने गुरु से जायसी अवस्था में कम-से-कम ५-६ वर्ष के भी छोटे रहे होंगे, तो सन् ८७५ हिजरी के बाद ही उनका जन्म होना संभव है। ऊपर लिखा जा चुका है कि सन् ८८१ हि० से पूर्व ही जायसी का जन्म हुआ। शेरशाह से दो-चार वर्ष के भी जायसी बड़े रहे होंगे तो सन ८७८ हिजरी बाद जायसी का अवतार होना संभव नहीं इस प्रकार जायसी का जन्म सन ८७८ और ८७८ हि० के बीच किसी समय हुआ सन ८७८

हिजरी ही जायसी का प्रामाणिक जन्मकाल होना चाहिए इस जन्म सन का मान लेने से जायसी अपने गुरु शेख बुरहान (जिनका जन्म ८७० हिजरी है) से उम्र में ८ वर्ष छोटे होते है और शेरशाह (जन्म सन् ८८६ हिजरी) से ७ वर्ष। भूकंप सन् ९११ हिजरी से ३३ वर्ष पूर्व जायसी का जन्म होने से 'तीस बरिख ऊपर' की अर्थ-ध्वनि का समर्थन भी पूर्णरूप से हो जाता है।

'पद्मावत' की रचना सन् ९४७ हिजरी में हुई थी और इसके प्रणयन मे दो वर्ष लगा। इस प्रकार इस ग्रन्थ का समाप्तिकाल सन् ९४९ हिजरी है। उन दिनों अपनी वृद्धावस्था का वर्णन कवि ने पद्मावत के अन्त में किया है :

" मुहमद बिरिध बएस अब भई। जोबन हुत सो अवस्था गई।
बल जो गएउ कै खीन सरीरू। दिस्टि गई नैनन्ह दै नीरू।
दसन गए कै तुचा कपोला। बैन गए दै अरुचि बोला।
बुद्धि गई हिरदै बौराई। गरब गए तरहुड़ सिर नाई।
सुरुन गए ऊँच दै सुना। गारी गएउ सीस भा धुना।
भँवर गएउ केसन्ह दै भुवा। जोबन गएउ जियत जनु मुवा।
तब लगि जीवन जोबन साथाँ। पुनि सो मीचु पराये हाथाँ।"

उन दिनों कवि की अवस्था ७०-७१ वर्ष की होती है। इतनी अधिक उम्र के लिए उपरोक्त वर्णन में अतिशयोक्ति नहीं है। इसलिए जायसी का जन्म सन् ८७८ हिजरी तदनुसार सन् १४७३ ई० में निश्चित रूप से हुआ।

मलिक मुहम्मद जायसी के निधनकाल पर अब विचार करना है। निधनकाल के लिए भी जन्म-काल के समान विद्वानों में मतैक्य का अभाव है। काजी नसीरुद्दीन हुसैन जायसी ने अपनी याददाश्त (डाएरी) में जायसी का मृत्युकाल चार रज्जब नौ सै उन्चास हिजरी दिया है। नसीरुद्दीन हुसैन अवध के नवाब शुजा-उ-द्दौला के समय में हुए थे। शुजा-उ-द्दौला का समय १८वीं शताब्दी (ई०) है। काजी नसरुद्दीन का हवाला देते हुए पं० रामचन्द्र शुक्ल ने लिखा है 'काजी नसरुद्दीन हुसैन जायसी ने, जिन्हे अवध के नवाब शुजाउद्दौला से सनद मिली थी, अपनी याददाश्त में जायसी का मृत्युकाल ४ रज्जब ९४९ हिजरी लिखा है।[30] परन्तु शुक्लजी पूर्णतः इस निधन-तिथि को प्रामाणिक नहीं मानते है, क्योंकि आगे चलकर शुक्लजी ने लिखा है कि यह काल कहाँ तक ठीक है, नहीं कहा जा सकता।' डॉ० जयदेव और डॉ० शिवसहाय पाठक ने भी जायसी की इस निधन तिथि को शुद्ध माना है। डॉ० गोविन्द त्रिगुणायत ने भी हि० ९४९ सन् के पक्ष में अपना विचार प्रकट किया है। इस निधन तिथि का समर्थन करने वालों की संख्या अधिक है। पं० चन्द्रबली पाण्डेय का मत है कि काजी नसीरुद्दीन हुसैन जायसी ने जो मृत्युतिथि दी है वह ठीक और प्रामाणिक है (नागरी प्रचारिणी पत्रिका, भाग १४, पृ० ४१७)। 'हिन्दी कवि चर्चा' में जायसी संबंधी लेख में पाण्डेय जी ने सन् ९९१ हि० के पूर्व ही जायसी की मृत्यु का अनुमान किया है। पं० रामखेलावन पाण्डेय के मतानुसार जायसी का देहावसान सन् ९४९ हिजरी में नहीं हुआ। पाण्डेयजी ने सन् ९७४ हि० तक जायसी का जीवित रहना सम्भव माना है। सैयद कल्वे मुस्तफा गुलाम सरवर लाहोरी

तथा शेख अब्दुल कादिर के आधार पर जायसी की मृत्यु सन् १०४६ हिजरी में मानते है। इस प्रकार भिन्न-भिन्न मतों के कारण जायसी के निधन काल में सौ वर्ष का अन्तर पड़ जाता है (सन् ९४६ हिजरी से १०४६ हिजरी तक)।

जायसी का जन्म सन् ८७८ हिजरी प्रामाणिक है। सन् १०४६ हिजरी में निधन मान लेने से जायसी की आयु १७१ वर्ष की हो जाती है और इतनी दीर्घायु प्राप्त करना असंभव तो नहीं कहा जा सकता, परन्तु जायसी के लिए ऐतिहासिक आधारों के कारण विश्वसनीय नहीं है। 'पद्मावत' की रचना के बाद सौ वर्ष जीने वाला जायसी जैसा प्रतिभा-सम्पन्न महाकवि अकर्मण्य नहीं रहा होगा। उनकी और भी रचनाएँ होंगी परन्तु 'पद्मावत' के बाद की किसी अन्य रचना का पता अद्यावधि नहीं लगा है। इसके अलावा सन् १०४६ हिजरी तक जीवित रहने का अर्थ है कि जायसी अकबर और जहाँगीर के शासनकाल में भी वर्तमान थे। शाहजहाँ के भी समकालीन माने जा सकते हैं, परन्तु तत्कालीन इतिहासकारों ने जायसी के जीवित होने का उल्लेख नहीं किया है। अकबर का देहान्त सन् १०१४ हि० (सन् १६०५ ई०) में हुआ। 'अकबरनामा' सन् १००६ हि० में पूर्ण हुआ। अगर जायसी जैसे सूफी संत दार्शनिक महाकवि उन दिनों जीवित रहते तो उनका उल्लेख किसी-न-किसी रूप में अवश्य होता। 'आइन ए-अकबरी' में जहाँ बहुत से दार्शनिकों, कवियों और अन्य कलाकारों के नामों का उल्लेख अबुल फजल अल्लामी ने किया है, वहाँ जायसी की चर्चा का नितान्त अभाव है। इसी ग्रन्थ मे जायसी के गुरु शेख बुरहान का जिक्र है। मुगल राज्य के संस्थापक बाबर का यशोगान करने वाला अकबर के समय जीवित महाकवि जायसी तत्कालीन इतिहास-कारों द्वारा उपेक्षित कैसे होता? अगर जायसी अकबर के समकालीन होते तो अपनी रचनाओं मे अकबर जैसे महान बादशाह का उल्लेख सगौरव करते। ध्यान देने की बात है कि जायसी की किसी भी रचना में अकबर का नाम नहीं आया है। पं० चन्द्रबली पाण्डेय ने ठीक ही लिखा है :

"उधर हम देखते है कि अकबर के हाथ में शासन-सूत्र आते ही सभी जायस वालो को जो माफी मिली है उसमें मलिक मुहम्मद का कहीं नाम नहीं। तो क्या यह आश्चर्य की बात नहीं है कि मलिक मुहम्मद अकबर के शासन के अन्तिम दिनों (१०६६ हिजरी) तक जीवित रहे और कोई रचना ऐसी न करें कि जिसमें कहीं अकबर का भी नाम हो। सो भी उस अकबर का जो उन्हीं के बाबर का पौत्र और जायस का प्यारा था।"[31]

पाण्डेय जी के उपरोक्त कथन से जायसी का निधन सन् ९९९ हिजरी के पूर्व माना जा सकता है। इसी प्रकार सन् ९६३ हिजरी (१५५६ ई०) वाले फरमान अकबरी में जायसी की चर्चा नहीं है, इसीलिए पाण्डेय जी ने जायसी की मृत्यु का अनुमान ९६३ हिजरी के पूर्व किया है :

"फरमान अकबरी ९६३ हिजरी (१५५६ ई०) जो सैयद पियारा हुसेनी रईस जायस के नाम है और जिसकी बदौलत तमाम जायस वालों को माफ़ी मिली है उसमें भी मलिक जी की कोई चर्चा नहीं है।[32]

अगर पाण्डेय जी के इस आधार को निराधार नहीं माना जाय तो सन् ९५२ हिजरी के पूर्व ही जायसी का दिवंगत होना सिद्ध होता है। परन्तु एक शंका का उठना स्वाभाविक है कि जायसी तो पठान थे और पद्मावत में शेरशाह के प्रताप-वर्णन में जायसी ने जैसा उत्साह प्रदर्शित किया है, वैसा ९३६ हिजरी में रचित 'आखिरी कलाम' में बाबर के वर्णन में नहीं, संभवतः इसीलिए अबुल फज़ल ने जायसी की चर्चा न 'अकबरनामा' में की और न 'आइन-ए-अकबरी' ही में।

ऊपर लिखा जा चुका है कि जायसी के गुरु शेख बुरहान सन् ९७० हिजरी में दिवंगत हुए थे। सन् ९६७ हिजरी में अल्-बदायूनी ने शेख बुरहान का साक्षात्कार किया था। अगर सन् ९६७ हि० के समय जायसी जीवित रहते तो बदायूनी इनका उल्लेख अवश्य करते। इससे इतना तो संकेत मिलता है कि सन् ९६७ हि० के पूर्व ही जायसी की मृत्यु हो गई थी।

जायसी ने सन् ९४७ हिजरी में 'पद्मावत' का प्रारम्भ किया था। 'पद्मावत' जैसे महाकाव्य को पूर्ण होने में कम-से-कम दो वर्ष की अवधि अपर्याप्त नहीं कही जा सकती है। अगर सन् ९४९ हि० में 'पद्मावत' की समाप्ति मान लें तो भी इस सन् के बाद ही जायसी का निधन होना संभव है। एक जनश्रुति है कि जायसी का एक चेला नागमती का बारहमासा (पद्मावत का एक प्रकरण) गाकर अमेठी (जि० सुल्तानपुर, जायस से ३१ किलोमीटर = १९ मील पूरब) में भीख माँगा करता था। अमेठी का राजा उस बारहमासे को सुनकर बहुत ही प्रसन्न हुआ और उस व्यक्ति से बारहमासे के कवि का नाम-धाम पूछकर राजा अमेठी ने जायसी को अमेठी में सादर बुलवाया। कहा जाता है कि तभी से जायसी अमेठी में आमरण रहे। इस जनश्रुति से इतना आभास तो मिलता है कि जायसी की कविता (पद्मावत के पद्य) की प्रसिद्धि इनके जीवनकाल में हो गई थी, तभी तो उनके चेले उनकी कविता गाते फिरते थे। 'पद्मावत' की समाप्ति के बाद ही जायसी का अमेठी जाना हुआ और वहाँ के मँगरा नामक जंगल में स्थायी रूप से वे रहने लगे। 'पद्मावत' के पद्यों को प्रसिद्धि पाने में कुछ वर्ष तो अवश्य ही लगे होंगे। इसलिए सन् ९४९ हिजरी में जायसी की मृत्यु होना सर्वथा असंभव है। सन् ९५१ हिजरी के बाद ही जायसी का निधन संभव है। पण्डित सुधाकर द्विवेदी ने लिखा है, 'इनके आशीर्वाद से राजा अमेठी के पुत्र उत्पन्न हुआ था। इस कारण वह इन पर बड़ी श्रद्धा रखते थे। अतः जायसी के मरने पर गढ़ अमेठी के फाटक के सामने इनकी कबर बनाई गई।'[३३] इसका मतलब हुआ कि अमेठी नरेश को पुत्र की प्राप्ति सन् ९५१ हि० के बाद हुई। पुत्र-प्राप्ति के बाद जायसी पर विशेष कृपा राजा की बनी रही। इसमें एकाध वर्ष लग गए हों तो आश्चर्य नहीं। इसलिए सन् ९५२ हिजरी तक जायसी निश्चित रूप से जीवित थे। सन् ९४९ हि० में जायसी का अगर दिवंगत होना मान लिया जाय तो जायसी 'पद्मावत' समाप्ति के बाद अमेठी कब गए? राजा अमेठी को इनके आशीर्वाद से पुत्र कब हुआ? और पुत्र-प्राप्ति के बाद अमेठी-नरेश द्वारा कब सम्मानित हुए? सन् ९४९ हिजरी को निधन काल मान लेने से किसी प्रकार की संगति नहीं बैठती है।

पद्मावत की समाप्ति सन ९४९ हिजरी में हो गई थी इसके बाद जायसी

के किसी अन्य ग्रन्थ का पता अभी तक नहीं लगा है। जायसी जैसा सूफीफकीर 'पद्मावत' के बाद अगर किसी अन्य ग्रन्थ की रचना नहीं की हो तो अधिक-से-अधिक दस वर्ष अर्थात् ९५९ हिजरी तक हम उनका जीवित रहना संभव मान सकते हैं। इसलिए सन् ९५३ हिजरी और ९५९ हिजरी के बीच किसी समय जायसी का निधन हुआ होगा।

डॉक्टर जयदेव कुलश्रेष्ठ ने डॉ० इश्तियाक हुसैन कुरैशी कृत 'दी एडमिन्स्ट्रेशन ऑव दी सुल्तानेट ऑव देलही' के निम्न उद्धरण का हवाला देते हुए जायसी की मृत्यु सन् ९४९ हि० में मानी है :—

"Islam Shah Sur provided pavilions near his own residence which were beautifully furnished, in that the Dilettanti of the age like Mir Sayyid, Manghu Shah Mohammed, Hayoti, Saifi and Surdas who recited poetry or debated literary and philosophical questions. "(Afsanah-i-Shahan)."[३४]

डॉ० जयदेव ने लिखा है कि 'शेरशाह के पुत्र सलीम शाह सूर के समय के प्रसिद्ध कवि तथा दार्शनिक व्यक्तियों में भी उनका (जायसी) नाम नहीं है, यद्यपि उन्होंने शेरशाह के राज्य की मुक्तकण्ठ से प्रशंसा की थी। इससे निष्कर्ष निकलता है कि सलीमशाह सूर के सिंहासनारूढ़ होने से पूर्व ही जायसी इस संसार से विदा हो चुके थे।'[३५]

शेरशाह की मृत्यु सन् ९५२ हि० (शनिवार २२ मई १५४५ ई०) की संध्या में हुई। उसकी मृत्यु के बाद उसका छोटा लड़का जलाल खाँ इस्लाम शाह सूर (सलीम शाह सूर) के नाम से १५ वीं रवि-उल-ऊव्वल ९५२ हि० (२५ मई १५४५ ई०) को गद्दी पर बैठा। इस्लाम शाह की मृत्यु सन् ९६१ हि० (२२ नवम्बर १५५४ ई०) में हुई। इस्लामशाह के शासनकाल ही में मंझन कवि ने 'मधुमालती' की रचना की थी, जैसा कि मंझन ने 'मधुमालती' में स्पष्ट रूप से लिखा है :

"साहि सलेम जगत भा भारी। जेइं भूंजी वर मेदिनि सारी।" इत्यादि और इस्लाम-शाह के शासनकाल में 'सन नौ से बावन जब भए' (सन् ९५२ हि०) मंझन ने 'मधुमालती' की रचना की। उपरोक्त अंग्रेजी उद्धरण में मंझन का नाम नहीं है। यह तो निश्चित् है कि सन् ९५२ हिजरी में 'मधुमालती' की रचना का प्रारम्भ हो गया था। 'अफसाना-ए-शाहाना' में मंझन का नाम क्यों नहीं आया? लेखक ने एक मंघु शाह मुहम्मद के नाम का उल्लेख अँग्रेजी उद्धरण में किया है। मंझन का वास्तविक नाम शेख मंझन था। बहुत संभव है कि मंघु (मगु) शाह मुहम्मद ही शेख मंगन है अर्थात् मंझन है। परन्तु जायसी के नाम का उल्लेख क्यों नहीं हुआ, यह विचारणीय है। सन् ९५३ हि०. तक निश्चित रूप से जीने वाला कवि जायसी उपरोक्त 'नामावली' में आने से वंचित कैसे रह गया? शेरशाह का यशगान करने वाला महाकवि, सूफी दार्शनिक जायसी की उपेक्षा इस्लामशाह सूर द्वारा कैसे हो गई, चिन्तनीय है और आश्चर्य भी है। इसके लिए तत्कालीन इतिहास के पन्ने उलटने होंगे।

इतिहास से पता चलता है कि शेरशाह ने अपने जीवनकाल में ही अपने बड़े पुत्र आदिल खाँ को अपना उत्तराधिकारी नियुक्त कर दिया था परन्तु शेरशाह की मृत्यु के उपरान्त अमीरों ने उसके छोटे पुत्र जलाल खाँ को सुलतान निर्वाचित कर लिया जलाल खाँ इस्लाम

शाह (सलीम शाह) के नाम से सिंहासन पर बैठा। उसने सबसे पहले आदिल खाँ से छुटकारा पाने के लिए उसे कैद करने का प्रयत्न किया। आदिल खाँ भयभीत होकर अपने पिता शेरशाह के विश्वासपात्र सेनापति खवास खाँ के पास चला गया। खवास खाँ ने इस्लाम शाह के प्रति खुल्लम-खुल्ला विद्रोह का झण्डा खड़ा कर दिया। परन्तु इस्लाम शाह ने इन सभी विद्रोहों का दमन कर दिया। पंजाब के शासक हैबत खाँ ने भी विद्रोह का बिगुल बजा दिया। इन विद्रोहों को शान्त करने में इस्लाम शाह को पाँच वर्ष लग गया। इस प्रकार सन् ९५७ हि० तक इस्लाम शाह के शासन काल में अशान्ति बनी रही। अशान्ति काल में इस्लामशाह ने चित्र-शाला (Pavilion) की स्थापना की होगी, विश्वास योग्य नहीं है। इस प्रकार की चित्रशाला का निर्माण शान्तिकाल में ही होना संभव है। इसलिए सन् ९५७ हिजरी के बाद ही चित्रशाला बनी होगी। उस चित्रशाला में तत्कालीन जीवित कवियों का ही चित्र था। उसमें जायसी के चित्र का अभाव उसके निधन होने का समर्थन करता है। इसलिए सन् ९५७ हिजरी के पूर्व जायसी का परलोक-गमन निश्चित रूप से हो गया था। इस प्रकार सन् ९५२ हि० और ९५७ हि० के मध्य जायसी की मृत्यु की संभावना प्रकट होती है। इसमें सन्देह नहीं कि जायसी के कवि रूप का निधन सन् ९४९ हि० में हो गया था, क्योंकि 'पद्मावत' की समाप्ति उन्हीं दिनों हुई थी और इस ग्रन्थ के बाद जायसी ने फिर कुछ नहीं लिखा—लिखना-लिखाना हमेशा के लिए बन्द कर दिया। इसलिए जायसी के कवि रूप की मृत्यु सन् ९४९ हि० में हो गई थी परन्तु उनके भौतिक शरीर का अन्त सन् ९५४ के आस-पास ही हुआ। जायसी का जन्म सन् ८७८ हिजरी (१४७३ ई०) में हुआ और वे सन् ९५४ हि० (सन् १५४७ ई०) तक जीवित रहे। इस प्रकार लगभग ७५ वर्ष की लम्बी आयु का उपभोग जायसी ने किया।

संदर्भ-संकेत

(१) हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक) - पृ० ३६५ (२) जायसी एक विवेचन (प्रकाशक—हिन्दी साहित्य संसार, दिल्ली,- पृ० ४८ (३) मलिक मुहम्मद जायसी : एक अध्ययन, (किताब महल, इलाहाबाद)-पृ० ७७ (४) हुमायूँनामा (काशी नगरी प्रचारिणी सभा : द्वितीय संस्करण)-पृ० १८ (५) नुक्ते बाबरी (प्र० इन्डोलाजिकल बुक हाउस, वाराणसी)-पृ० ४१ (६) आखिरी कलाम (जायसी ग्रन्थावली-सं० मातप्रसाद गुप्त)-पद संख्या ८ (७) पद्मावत (प्रकाशक-मनोहर पब्लीकेशन्स, कानपुर : १९५८ ई०)-पूर्वार्ध (८) हिन्दुई साहित्य का इतिहास (हिंदुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद)-पृ० ८६ (९) हिन्दी साहित्य का प्रथम इतिहास (प्र० हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी)-पृ०-८१-८२ (१०) जायसी ग्रन्थावली (सं० माता प्रसाद गुप्त) पदमावत पद संख्या ५२५ (११) पदमावत का अनुशीलन (प्र० हिन्दी भवन, जालंधर)-पृ० ९२-९३ (११) हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक)-पृ०३६४-३६५ (१३) मलिक मुहम्मद जायसी : एक अध्ययन (किताब महल, इलाहाबाद)-पृ० ७७ (१४) हिन्दी कविचर्चा : प्रथम भाग (सरस्वती मन्दिर, काशी)-पृ० १०८ (१९४३ ई०) (१५) हिन्दी सूफी काव्य की भूमिका (ग्रन्थ वितान, पटना) पृ० १७५ (१६) मलिक मुहम्मद जायसी एक अध्ययन किताब महल इलाहाबाद -पृ० ७६ (१७) हिन्दी साहित्य का प्रथम

इतिहास (हिन्दी प्रचारक पुस्तकालय, काशी,-पृ० ८१ (१८) हिन्दी अनुशीलन (धीरेन्द्र वर्मा विशेषांक)-पृ० ३७८ (१६) Ain-i-Akbari (Royal Asiatic society of Bengal : Calcutta : 2nd Ed.)—186 (२०) Great Men of India (The Home Library Club) —Page 104 (२१) The Cambridge History of India : Vol. IV (S. Chand & Co., Delhi) —Page 45 (२२) शेरशाह (भारतवर्ष का इतिहास : इलियट और डाउसन—(प्र० इन्डोलाजिकल बुक हाउस) (२३) वही (काशी)—पृ० १७ (२४) History of the Rise of the Mohamedan Power in India : Vol. II by John Brigges (Published by R. Cambray & Co., Calcutta) —Page 125 (२५) वीर विनोद-प्रथम प्रकरण (प्रकाशक-राजयन्त्रालय, उदयपुर) —पृ० १३८ (२६) हिन्दी-कवि-चर्चा (सरस्वती मन्दिर, काशी : १९५३ ई०)—पृ० १०८ (२७) Afghan Dynasties by Elliot & Dawson (Susil Gupta : Calcutta : 2nd Reprint)—Page 133 (२८) The Cambridge History of India : Vol. III (S. Chand & Co., Delhi)—Page 242 (२६) पदमावत (प्रकाशक, साहित्य सदन, चिरगाँव, झाँसी)-द्वितीय संस्करण (प्राक्कथन) (३०) हिन्दी साहित्य का इतिहास (काशी नागरी प्रचारिणी सभा; सं० २००३ वि०)—पृ० १०० (३१) हिन्दी कवि चर्चा : प्रथम भाग (सरस्वती मन्दिर, काशी) पृ० ११५ (३२) वही—पृ० ११५ (३३) मिश्र बन्धु-विनोद : प्रथम भाग (गंगा पुस्तकमाला कार्यालय, लखनऊ : तृ० सं०)—पृ० २७८ (३४) सूफी महाकवि जायसी (भारत प्रकाशन मन्दिर, अलीगढ़-पृ० ३७ (फुटनोट) (३५) वही - पृ० ३७-३८।

प्रतिपत्तिका

रहस्य कथाएँ : एक विवेचन

•

प्रतिभा पाण्डेय

•

रहस्य कथाओं को विशिष्ट शिल्प से युक्त कथा का वह प्रकार कहा जा सकता है, जो सामान्य जीवन में घटित होने वाले रोमांचक विवरणों को रहस्यपूर्ण वातावरण के साथ प्रस्तुत करती हैं। आज जहाँ कहानी को लेकर इतनी व्यापक चर्चाएँ हो रही हैं, आन्दोलन छिड़े हुए हैं, आधुनिक जीवन को चित्रित करने का प्रयास हो रहा है, यथार्थ और प्रामाणिकता पर बहस हो रही है, वहाँ रहस्य कथाओं की ओर ध्यान देना असंभव ही है। यह ठीक भी है। रहस्य कथाओं के साथ कोई दावा और दायित्व नहीं होता, न ही इनके लेखक का यह प्रयास ही होता है कि अपने लेखन के माध्यम से लोगों में नई जागरूकता पैदा करे। इस तरह की कथाओं के लेखकों का दृष्टिकोण मुख्यतः व्यावसायिक होता है। उनका मन्तव्य पाठकों को आश्चर्यजनक विवरणों में उलझाकर मनोरंजन करना होता है। इसका यह तात्पर्य न निकाला जाय कि इन कथाओं का अपना कोई शिल्प नहीं होता या केवल मनोरंजन के लिए ही ये लिखी जाती हैं। रहस्य कथाओं की रचना के लिए साहित्यिक प्रतिभा (वर्णन में रोचकता लाने के लिए), उच्च कोटि की कल्पना शक्ति, घटनाओं को उलझाकर औत्सुक्य पैदा कर सकने का चातुर्य तथा शिल्प के बहुविध प्रयोगों की जानकारी होनी जरूरी है। प्रायः साहित्यिक दृष्टि से जासूसी और रहस्य-फिक्शन को हेय समझा जाता है; इसके साथ ही ऐसे लेखक को भी निम्नकोटि का माना जाता है। इस तरह की धारणा बहुसंख्यक अतिवादी तथा अनिश्चित मान्यताओं को लेकर लिखी जाने-वाली बाजारू-स्तर की कहानियों के कारण ही बनी है। यह एक रोचक तथ्य है कि रहस्य कथाओं को अविकसित मस्तिष्क या निम्न श्रेणी के लोग ही नहीं बल्कि विकसित रुचि के लोग भी तल्लीनता से पढ़ते हैं यह तथ्य तो और भी रोचक है कि इस तरह के फिक्शन को पसन्द करने वालों में नारियों की संख्या अधिक है अनेक ख्यातिप्राप्त

वैज्ञानिकों, डॉक्टरों, पत्रकारों तथा लेखकों और व्यावसायिकों ने फ्रैंकुलन डी० रूज़वेल्ट की रहस्य-कथाओं के प्रति बहुत आकर्षण व्यक्त किया है। वे इनको बार-बार पढ़ते हैं। बात यहीं तक नहीं है। हज़ारों की संख्या में सामान्य और हर स्तर के लोगों द्वारा ये समान रूप से पसंद की गईं। इससे यह सिद्ध होता है कि रहस्य-कथा लेखन निम्न कोटि का लेखन नहीं है।

पाश्चात्य साहित्य में रहस्य कथाओं को कथा-विधा के अन्तर्गत ही रखा गया है तथा इनका मूल्यांकन कथा के रूप में ही किया गया है। यही नहीं, इनके शिल्प-विधान को पर्याप्त विकसित तथा रोचकता उत्पन्न करने के सहज-ग्राह्य साधन के रूप में देखा गया है। अन्य कथा-रूपों के लेखकों ने इनके शिल्प को अपनी कथाओं को रोचक बनाने के लिए अपनाया है। यह आश्चर्य में डालने वाली बात है। हिन्दी में इनका यह स्वरूप नहीं है। इसलिए इन्हें साहित्यिक कोटि में नहीं रखा गया है। हिन्दी में भी इस तरह की कथाएँ लिखी जा सकती हैं, अगर इन्हें गंभीरता से लिया जाय तो। एम० एफ० रोडेल ने रहस्य-कथाओं का परिमूल्यांकन करते हुए लिखा है, **"व्यावसायिक साहित्य लेखन का तात्पर्य यह नहीं है कि पाठक की रुचि को ध्यान में रखा ही जाय। वह पुस्तक, जिसका मूल्यांकन न तो कला की दृष्टि से किया जा सके और न व्यवसाय की दृष्टि से, कोई महत्व नहीं रखती। कुछ लेखकों ने रहस्य कथाओं के क्षेत्र में उच्च कोटि की साहित्यिक प्रतिभा प्रदर्शित की है और सफलता भी प्राप्त की है। यद्यपि विशिष्ट रहस्यवादी फार्मूला अपनाकर ही इस क्षेत्र में सफलता प्राप्त की जा सकती है।"**

रहस्य कथाएँ हमें नित्य के संसार से भिन्न, एक ऐसे संसार में ले जाती हैं, जो कहीं अधिक स्वप्निल, जागतिक अव्यवस्थाओं से रहित और कौतूहलपूर्ण होता है। इस संसार मे हम समस्यारहित होते हैं, अभावों से दूर रहते होते हैं, संत्रासमुक्त होते हैं। एक धारणा यह भी है कि साहित्य का उद्देश्य आनन्द देना है, इसलिए उसमें ऐसे जीवन तथा संसार का चित्रण हो, जिससे राहत का अनुभव किया जा सके। रहस्य-कथाओं के पीछे यह राहत वाली प्रवृत्ति ही काम करती होगी—ऐसा मान लेना भ्रामक है। इन कथाओं में घटना-क्रम का रचाव तथा वस्तु-विन्यास का संयोजन ही इस प्रकार का होता है, जो उलझाव-पूर्ण, रहस्यमय हो। यह तथ्य है कि इन कथाओं के पीछे एक निश्चित उद्देश्य रहता है। प्रत्येक व्यक्ति के अचेतन मन में कुछ ऐसी अपराध भावनाएँ होती हैं जो पूरी होने के लिए जोर मारती रहती हैं, किन्तु सामाजिक व्यवधानों के कारण उनका पूरा होना संभव नहीं हो पाता। प्रसिद्ध रहस्य लेखक ससिल डे लेविस ने इस तथ्य को उद्घाटित करते हुए रहस्य कथाओं को 'प्रत्येक व्यक्ति के मन में स्थित क्रूरता की भावना की हानि-रहित अभिव्यक्ति' माना है। हत्या करने की अभिलाषा अनेक व्यक्तियों के मन में रहती है किन्तु साहस के अभाव में अथवा उसके दुष्परिणामों से डर कर वे वैसा नहीं कर पाते। रहस्य कथाओं में किए जाने वाले हत्यारे के कृत्य को स्वयं पर आरोपित कर संतुष्टि पाते हैं।

रोडेल ने रोमांस और फैंटेसी के समानान्तर रहस्य कथाओं को रखते हुए इन सबको साहित्य के एक विस्तृत वर्ग से सम्बन्धित कर दिया है। इस वर्ग में रखने को

आवश्यकता उन्होंने संभवतः इसलिए महसूस की कि ये कथाएँ हमारे रोजमर्रा के तल्ख और वास्तविक जीवन से हटाकर एक विचित्र स्वप्निल संसार में ले जाती हैं। वहाँ पहुँचकर हम जीवन की वर्जनाओं, कुंठाओं, अभावों को भूलकर हर प्रकार से संतुष्टि का अनुभव करने लगते हैं। दुनिया के झमेलों से दूर, मकड़ी के जालों से बारीक-चिकने धागों के रहस्यमय झूले में झूलते हुए ऐसे लोक में आ पहुँचते हैं, जहाँ सोने-चाँदी की बरसात होती है, मखमली कालीन और गद्दों पर से होकर गुजरना पड़ता है, सारी ताकतों को नाकाम बना देनेवाली शक्ति का स्वामित्व मिलता है, वैभव-विलास का नैरन्तर्य कभी कम नहीं होता। वहाँ हम स्वयं कथा का भोक्ता बनकर सफलता को अपने वश में किए रहते हैं। प्रश्न यह हो सकता है कि अन्य पलायनवादी साहित्य-विधाओं की अपेक्षा रहस्य कथाएँ ही क्यों इतनी अधिक लोकप्रिय हैं? इनमें कौन-से ऐसे विलक्षण-तत्व हैं जो पाठक के एक बहुत बड़े वर्ग को अपनी ओर आकर्षित कर लेते हैं? सामान्य जासूसी उपन्यासों को जितने चाव से लोग पढ़ते है, उतने चाव से ऐतिहासिक उपन्यासों को भी नहीं पढ़ते। इस रोचकता के पीछे कारण है। रहस्य कथाएँ गुमराह करने वाले साहित्य में आती हैं और एक विशिष्ट प्रकार की रहस्यात्मकता को सन्निहित किए रहती हैं। यह सन्निहिति व्यक्ति के बौद्धिक स्तर के अनुरूप लगाव उत्पन्न कराने में सहायक होती है। रोमांस में निश्चित रूप से आकर्षण रहता है, उसमे पाठक कुछ देर के लिए खो जाता है, लेकिन उसकी चेतना रोमानी सृष्टि में पूर्णतया निमग्न नही हो पाती, उसकी उकताहट बनी रहती है और उस एकरसता से वह शीघ्र ऊब जाता है। इसी प्रकार ऐतिहासिक उपन्यास भी जिस युग को लिए रहता है वह पाठक मे अभिरुचि पैदा तो कर देता है, किन्तु यह अहसास उसका मिट नहीं पाता कि जिस सृष्टि मे वह विचरण कर रहा है, वह वर्तमान की नहीं है। वर्तमान से सम्बद्ध होकर भी इतिहास तो इतिहास ही रहता है। रहस्य-कथाओं में रोमांस रहता है लेकिन एक बौद्धिक आकर्षण के साथ। इन कथाओं के चरित्र, घटनाएँ, कार्य सभी सामान्य पाठक की पहुँच के भीतर होते है, नित्य घटित होने वाले व्यवहार के रूप में होते हैं। इससे सबसे बड़ा लाभ यह यह होता है कि सामान्य-से-सामान्य व्यक्ति भी इन्हें अपने ही क्रिया-कलाप अनुमोदित कर निकटता का अनुभव करता है। उसके मन के किसी कोने में यह आशा (दुराशा) बँध जाती है कि इस तरह के साहसिक कार्यों का प्रतिनिधि वह आसानी से बन सकता है। इनमें नैतिक-अनैतिक, सामाजिक-असामाजिक, दुर्बल-सबल सभी प्रकार के तत्वों का समावेश आसानी से हो जाता है। अपराध भावना से प्रेरित व्यक्ति कथा में निर्मित अपराधी का मानसिक साथी बन जाता है और संरक्षक-तत्व दूसरे रूप में। इस तरह दोनों प्रकार के पाठकों को रहस्यकथाओं मे संतुष्टि की प्राप्ति होती है।

रहस्य कथा के प्रकार

सकता है। ड्यूमा के रोमांटिक, डिकेन्स के यथार्थवादी और प्रेमचन्द के 'कायाकल्प' जैसे आदर्शवादी उपन्यास रहस्य-कथा-शिल्प को प्रश्रय देने के कारण इस संज्ञा से अभिहित किए जा सकते हैं। लेकिन इन उपन्यासों का एक निश्चित उद्देश्य है, जो रहस्य-कथाओं की विशेषता को खंडित करता है। इस शब्द का प्रयोग पलायनवादी साहित्य के अन्तर्गत आनेवाली विशिष्ट प्रकार के कथा-शिल्प से युक्त कथाओं के लिए ही किया जा सकता है। इस प्रकार की कथाओं को चार प्रकार के उपशीर्षकों में रखा जा सकता है—

१—जासूसी कथा, २—संत्रास कथा, ३—साहसिक कथा, ४—तिलस्मी कथा।

कोई ऐसी पुष्ट विभाजक रेखा नहीं है जो इन्हें ठीक से अलग-अलग कर सके, क्योंकि एक-दो तत्व ऐसे हैं जो सभी में मिल जाते है अथवा एक ही कोटि में दूसरी की विशेषताएँ आ जाती हैं। मोटे तौर पर ही यह विभेद किया गया है। जासूसी कहानी, अपराध और उसके खोज से सम्बद्ध रहकर ऐसा वातावरण निर्मित करती है, जो औत्सुक्य और प्रगति को अन्त तक अपने अन्दर छिपाये रहता है। कथा का ज्यों-ज्यों विकास होता जाता है, घटनाओं में उलझाव आता जाता है, त्वरा बढ़ती जाती है और अन्त में जाकर एकाएक सब बिखर जाता है। इसमें बुद्धि की प्रधानता रहती है, भावना गौण। कथाकार अपना सारा ज्ञान, सारी शक्ति बौद्धिकतापूर्ण विश्लेषण में लगा देता है। जासूस बुद्धि का उत्प्रेरक ही होता है। पिछले कुछ वर्षों में जासूस-कला के विकास के साथ-साथ इस क्षेत्र में नयी टेकनीक और नवीन साधनों का विकास हुआ है।

संत्रास कथा, जासूसी कथा के विपरीत, भावना पर अधिक बल देती है। किसी परिस्थिति में डाल कर व्यक्ति की संचेतना को उद्घाटित करने का प्रयास इसमें रहता है। व्यक्ति का आचरण वातावरण के अनुरूप बनता-बिगड़ता है। संत्रास कथा में वातावरण निर्मित करते समय इस बात का पूरा ध्यान रखा जाता है कि उसमें विभिन्न चरित्रों के ऊहापोह प्रदर्शित करने का अवसर मिल सके। स्थिति की संक्रामकता से पाठक को भी निबद्ध करने की चेष्टा इनमें की जाती है। जासूसी कथाओं में आदि से अन्त तक सूत्रों के माध्यम से अपराधी को पकड़ने का प्रयास रहता है, संत्रास-कथा में वह बहुत पहले ही पकड़ लिया जाता है और बाद में अन्य घटनाओं का ताना-बाना बुना जाता है।

साहसिक कथा, उपर्युक्त दोनों कोटियों के बीच की होती है। एक ओर तो संत्रास कथा की भाँति इसका प्रमुख बल मध्य के चरित्र के व्यक्तिगत ख़तरों पर और पाठक को स्वयं उस चरित्र से सम्बन्धित कर लेने पर रहता है दूसरी ओर जासूसी कथा की भाँति उलझाव पैदा करने और घटना-क्रम के समुचित निर्वाह की चेष्टा रहती है

रोडेल ने एक अन्य प्रकार की रहस्य कथा का संकेत करते हुए उसे चारित्रिक-रहस्य-कथा नाम दिया है। इनमें विशेष भावनात्मक परिस्थितियों में व्यक्ति के क्रिया-कलापों और अन्तर्विरोधों का दिग्दर्शन कराया जाता है।

रहस्य कथाओं की रचना प्रक्रिया :—

रहस्य कथा में तीन प्रमुख तत्व होते हैं—भोक्ता, संघर्ष और उद्देश्य। इनके अतिरिक्त अन्य सहयोगी तत्वों का भी समावेश समयानुसार होता रहता है। अपराध, खोज और दण्ड, रहस्य कथा के आदि, मध्य और अन्त को संकेतित करते हैं। कथा का प्रारंभ किसी घटना की योजना से होता है। इसी के अन्तर्गत अपराधी, साधन, अवसर और संघर्ष की व्यवस्था होती है। सूत्र या संकेत दो तरह के होते हैं, एक तो वे जिनका पाया जाना लगभग अनिवार्य-सा होता है और दूसरे वे, जिन्हें न चाहते हुए भी अनजान में अपराधी छोड़ जाता है। इन्हीं संकेतों को आधार बनाकर अपराधी का पता लगाया जाता है। जितनी यह प्रक्रिया आगे बढ़ती है, उत्सुकता चरम-स्थिति पर आती जाती है। अन्त में अपराधी को पकड़कर दण्डित किया जाता है। अपराध प्रायः हत्या के रूप घटित होता है। इसके पीछे एक व्यक्ति या समूह कार्य करता है। कभी यह उद्देश्य बनाकर सुनियोजित ढंग से की जाती है और कभी अचानक हो जाती है तथा उसे छिपाने में कथा का अधिकांश निर्मित हो जाता है। हत्यारा, हत्या करने के बाद लाश को छिपा देना चाहता है जिससे तथ्यों का पता न चले अथवा तब तक वह अपने बचाव का पूरा प्रबन्ध कर ले। यदि हत्यारा लाश को नहीं छिपा पाता तो उन संकेतों को, जिनसे हत्या का पता चलता है, छिपाकर यह दिखाने का प्रयास करता है कि किसी दुर्घटना के कारण अथवा आत्महत्या से मृत्यु हुई है। यहाँ पर कथाकार को पूरा विवरण देना पड़ता है कि गले के पास फाँसी के चिन्ह हैं अथवा उंगलियों के, लाश की शिनाख्त हो सकी अथवा नहीं, हत्या का समय क्या है? आदि। हत्यारे के सम्बन्ध में तीन बातें उल्लेखनीय होती हैं—उद्देश्य, साधन और अवसर। किन्हीं उद्देश्यों से प्रेरित होकर वह हत्या करता है, प्रमुखतः यही संभावना की जाती है। साधन के अन्तर्गत हत्या में प्रयुक्त हथियार, खोज संबंधी प्रक्रिया और उनकी जानकारी का विश्लेषण किया जाता है। मौलिकता और रोचकता उत्पन्न करने के फेर में लेखकों द्वारा हत्या के विचित्र ढंग निकाले गए हैं। एस० एस० वान डाइन ने अपने उपन्यास 'दि ड्रैगन मरडर केस' में अदृश्य विषैले बाणों द्वारा हत्या कराया है। हिन्दी के जासूसी उपन्यासों में भी अद्भुत तरीके अपनाए गए हैं, जैसे, विषैले मकड़े अथवा जहरीली गैस द्वारा हत्या किया जाना। लेकिन इस बात का ध्यान रखना आवश्यक है कि केवल अनोखे और अविश्वसनीय हत्या के साधनों द्वारा ही कथा में मौलिकता अथवा नवीनता नहीं आ सकती। बल्कि कहीं-कहीं तो ये कथा की स्वाभाविकता में बाधक भी होते हैं। असंभाव्य घटना, पाठक के मन में कथा से दूरी पैदा करने के लिये जिम्मेदार होती है। इससे कथा का जो सबसे प्रधान गुण है, वही तिरोहित होने लगता है। साधनों को विनष्ट करके भी औत्सुक्य में वृद्धि की जा सकती है जैसे हत्या से साबित होता है कि हत्यारे ने चाकू का

प्रयोग किया है लेकिन घटनास्थल के पास पिस्तौल पड़ी मिले और पुलिस की जाँच से मालूम हो कि पिस्तौल पर स्वयं मृत व्यक्ति की उंगलियों के निशान हैं। घूँसे से मारकर अथवा मकान की छत से नीचे ढकेलकर की जाने वाली हत्या आत्महत्या की ही घटना साबित होती है। तात्पर्य यह कि हत्या में जिन तरीकों का उपयोग हो, वे सम्भाव्य हों, मौलिक हों तथा औपन्यासिक औत्सुक्य के समीप हों। उद्देश्य एवं तरीकों की संरचना, स्थान के संदर्भ मे ही होती है। एक तरीक़ा एक स्थान पर उपयुक्त हो सकता है, किन्तु दूसरे पर नहीं। कथाकार को इस ओर से सतर्क रहना पड़ता है। सभ्य लोगों के रहन-सहन और खानाबदोशों के रहन-सहन में अन्तर है, शहर में रहने वाले अपराधी जिन साधनों का उपयोग करते हैं, देहात के रहने वाले उससे भिन्न साधनों को काम में लाते हैं। घटना की प्रकृति और विकास इस विभिन्नता पर निर्भर करती है। कथाकार को इन सबसे परिचित रहना पड़ता है, क्योंकि कथा मे साधनों का प्रयोग उसके स्वयं के अनुभव और कथानक की विकास-प्रक्रिया पर निर्भर करता है। कथा में उलझाव पैदा करने तथा संघर्ष को तीव्रता देने के लिये प्रायः चरित्रों का बाहुल्य किया जाता है, अनेक संदिग्ध व्यक्तियों का नियोजन किया जाता है। आवश्यक नहीं कि संदिग्ध लोगों की संख्या बढ़ा देने से कथा को प्रगति मिलेगी ही। यह तो कथाकार की प्रतिभा और कौशल पर निर्भर करता हैं। कम पात्रों के माध्यम से भी कथा के शिल्प को नये ढंग से प्रस्तुत किया जा सकता है।

रहस्य कथाएँ : मूल तत्व :—

रहस्य कथाओं का अपना विशिष्ट शिल्प होता है, एक अलग पद्धति होती है और उसी के अनुरूप घटना और पात्रों को रखा जाता है। घटना सामान्य जीवन की ही होती है, पात्र हमारे रोज के देखे सुने व्यक्ति होते हैं, लेकिन उन्हें प्रस्तुत करने में कथाकार को नवीनता लानी पड़ती है। यद्यपि हर क्षेत्र में कुछ-न-कुछ अतिवादिता होती है और रहस्य-कथा भी इससे शून्य नहीं हैं। भय और त्रास के इस युग में, जब वैज्ञानिक साधनों का प्रयोग बेहद बढ़ता जा रहा है, सुरक्षा की गुंजाइश कम रह गई है। हर ओर अराजकता, अव्यवस्था, अपराध-भावना का बाहुल्य दृष्टिगत होता है। अभी कुछ दिनों पहले अमरीका के सबसे सभ्य नगर शिकागो में बदमाशों का एक अन्तर्राष्ट्रीय गिरोह पकड़ा गया जो हर प्रकार के आधुनिक एवं वैज्ञानिक साधनों से सम्पन्न था। जासूसी कथाएँ, पाठक के लिये राहत की वस्तु बनती हैं। अपराधी पकड़कर दण्डित किया जायेगा, ऐसी भावना उसके मन में आ जाती है।

प्रायः यह धारणा बन गई है कि बौद्धिकता का समावेश रहस्य-कथाओं में होना चाहिए। लेकिन इस तरह की कथा पढ़ने की ओर लोगों को प्रेरित करने वाले, बौद्धिक और भावात्मक दोनों तत्व होते हैं। केवल बौद्धिकता कथा को बोझिल, नीरस, और सम्पर्करहित बना देती है। सर्जन के दोनों आयामों की सम्बद्धता कथा-प्रवाह में सहायक तो होती ही है, पाठक और कथा के बीच सहानुभूति उत्पन्न कराने में भी सहायक बनती है। आज हिन्दी मे लिखे जाने वाले जासूसी उपन्यास रोमानी कथ्य को लेकर सर्जन में प्रवृत तो होते हैं, लेकिन उसका प्रतिपादन सस्ते ढंग से करने लगते हैं जो किन्ही मर्मों तक बासी होता है

इसके विपरीत द्विवेदीयुगीन गोपालराम गहमरी के उपन्यास हैं, जिसमें उत्सुकता है, चरित्रों की एकरूपता है, किन्तु दृष्टि में फैलाव नहीं है। उनमें भावात्मक तत्वों का एकदम अभाव है। शायद इसी कारण वे स्थायी महत्व के न बन सके। चिनगारी की तरह इधर-उधर छिटक कर बुझ गए।

सत्य और कल्पना को लेकर साहित्यिक क्षेत्र में बहुत विवाद रहा है। काव्य-सत्य की अलग कोटियाँ निर्धारित की गई हैं, इतिहास का सत्य अपना झण्डा लिये खड़ा है, औपन्यासिक सत्य के बारे में दलीलें पेश की गईं। प्रकृतिवाद, अतियथार्थवाद और युगयथार्थ का नारा अभी मन्द नहीं पड़ा है। प्रश्न यह है कि क्या बाह्य-जगत में घटित होने वाले सभी सत्यों को साहित्य में समाहित में कर लिया जाय? ऐसा शायद संभव न हो सके, क्योंकि जगत के एकान्तिक सत्य पर निर्भर रहकर साहित्य की संरचना नहीं की जा सकती है। साहित्य सत्यों की सूची नहीं प्रस्तुत करता, न तो वह इतिहास की भाँति नीरस विवरण ही होता है। जिस उद्देश्य को लेकर वह चलता है, उसकी सिद्धि के लिये काल्पनिक तथ्यों की रचना कभी-कभी करनी पड़ती है। बाह्य जगत में बहुत कुछ ऐसा घटित होता है जिसका कथा के संदर्भ में कोई महत्व नहीं होता।

इसलिए कथाकार केवल उन्हीं अंशों को ग्रहण करता है, जो उसके लक्ष्य में सहायक सिद्ध हो सकते हैं। इसी प्रकार कथा में अनेक ऐसी बातों या घटनाओं का समावेश लेखक को करना पड़ता है, जो वास्तविक जीवन में प्रायः नहीं देखी जातीं। कथा को रोचक, घटना-क्रम को नियंत्रित और चरित्रों के प्रतिष्ठापन के लिए इन असंभावित अतिवादियों का निर्माण आवश्यक हो जाता है। कम-से-कम रहस्य-कथाओं में तो उक्त दोनों अतिवादियों की स्थिति दृष्टिगत होती है। चित्रण में वास्तविकता और विविधता लाने के लिए कथा लेखक ऐसे वातावरण का सृजन करता है जो उसकी निर्मिति के संघर्षशील तत्वों को उजागर कर सके। इतना अवश्य है कि उसे वास्तविक जीवन के उन्हीं विवरणों को लेना चाहिए, जिनसे वास्तविकता की सृष्टि हो सके तथा दूसरी ओर, ऐसे औपन्यासिक तथ्यों का उल्लेख करे जो पाठक की संतुष्टि करा सकें।

किसी कृति का मूल्यांकन और कृतिकार की संवेदनशील प्रतिभा का आकलन संघर्ष की तीव्रता के आधार पर किया जाता है। कथा का मूल तत्व संघर्ष ही होता है। यही वह केन्द्र बिन्दु है, जिसके चारों ओर कथानक संगुम्फित होता और विकास पाता है। जीवन की अनेकरूपताओं का परस्पर सामंजस्य संघर्ष के लिये पृष्ठभूमि तैयार करता है। संघर्ष, समूह का भी होता है और अकेले का भी, व्यक्ति का भी होता है और समाज का भी, वास्तविक भी होता है और काल्पनिक भी। यही कथा की भूमिका भी होता है और उपसंहार भी। स्थूल रूप से संघर्ष की दो श्रेणियाँ बनाई जा सकती हैं— अन्तः और बाह्य। कथा में प्रयुक्त अन्तः संघर्ष चरित्र के मानसिक ऊहापोहों में व्यक्त होता है। यह नैतिकता-अनैतिकता, इच्छा-अनिच्छा, प्रेम-द्वेष जैसे मानसिक स्तरों के बीच होता है। बाह्य-संघर्ष व्यक्ति-समाज, मानव-प्रकृति, नायक-खलनायक, अपराधी-पुलिस आदि में होता है। कोई कार्य आरंभ करने से पहले व्यक्ति के मन में अनेक प्रकार के विचार आते हैं वह सोचता है यह कार्य करे या न करे

करने पर इसका परिणाम क्या होगा, संभावनाएँ किस प्रकार की हैं। ये प्रश्न उसे आन्दोलित करते हैं। इन विभिन्न वर्जनाओं के बीच द्वन्द होता है और तब वह किसी एक पर दृढ हो पाता है। कथाकार अपनी रुचि और प्रतिभा के अनुसार इन दोनों प्रकार के संघर्षों में से एक को अपनाता है, लेकिन रहस्य कथाओं में संघर्ष का दुहरा रचाव होता है। उसमें संघर्ष के सभी स्तर पाए जाते हैं। अपराधी और रक्षक, आक्रामक और आक्रमण-ग्रस्त के बीच संघर्ष होता है, आक्रामक की आन्तरिक शक्ति में भी संघर्ष होता है। रहस्य-कथा में आन्तरिक संघर्ष पहले आता है, लेकिन प्रच्छन्न रूप से। वह बाह्य संघर्ष के लिए पृष्ठभूमि तैयार करता है। कथा का प्रारंभ बाह्य संघर्ष से ही होता है, प्रेरक आन्तरिक संघर्ष होता है। जब तक उस कार्य-स्थिति तक पहुँचाने वाले संघर्षों की स्थापना नहीं हो जाती, दूसरे संघर्ष के लिए घटनाओं का नियोजन हो ही नहीं सकता। यह बहुत रोचक तथ्य है कि इन कथाओं में घटनाओं के विकास-क्रम (वाह्यसंघर्ष) के लिए पीठिका अन्त:संघर्ष ही देते हैं, लेकिन इनसे कथा का प्रारम्भ न होकर अन्त होता है। दूसरा संघर्ष ही पहले के तथ्यों का पता लगाने में प्रवृत्त होता है, और तब इनका भेद खुलता है। रहस्य कथाओं का वास्तविक कथ्य वाह्य संघर्ष होता है। जासूसी उपन्यास भी इसी संघर्ष पर जोर देता है। उसका प्रारंभ इस संघर्ष की प्राथमिक अवस्था—हत्या से होता है। जासूस और पुलिस घटना-स्थल पर उपस्थित होती है। जासूस द्वारा खोजबीन करने पर पहला संघर्ष पाठक के सामने स्थापित होता है। कथा में संघर्ष के इस दुहरे रचाव को कथाकार की क्षमता के रूप में लक्षित किया जा सकता है। अपने शिल्प के संयोजन के अनुरूप वह इसमें परिवर्तन भी कर सकता है संघर्ष को चरम बिन्दु तक लाने में सतर्कता अपेक्षित होती है। जरा भी असावधानी कृति को संवेदनारहित बना सकती है। पाठक को उससे अरुचि हो जाती है। संभवतः इसी कारण कुछ लेखक कथा को विस्तार देते हैं। चरित्रों को उभारने और संघर्षों को गति देने की असमर्थता उस विस्तार में खप जाती है। कथा से विस्तार में यदि तथ्यों की संयोजना भली-भाँति हो तो ठीक है, अन्यथा इससे हानि भी हो सकती है। सतर्क कथा-योजना, असंभावनाओं का उचित निराकरण, उलझाव पैदा कर संघर्ष को रूपायित करने का प्रयास, पाठक की रुचि को विशृंखल न होने देने की क्षमता, रहस्य-कथा-लेखन में अवश्य होनी चाहिये। तभी वह अपने लेखन में सफल हो सकता है।

कवि तोष और सुधानिधि

किशोरी लाल गुप्त

'कवि तोष और सुधानिधि' का प्रकाशन नागरी प्रचारिणी सभा, काशी ने अभी हाल ही में किया है। इसके 'प्रकाशकीय' की तिथि अक्षय तृतीया सं० २०२२ वि० है। ग्रंथ पर 'संपादक' का नाम डॉ० सुरेन्द्र माथुर छपा हुआ है। यह विचारणीय एवं चिन्त्य है। ग्रंथ दो भागों में विभक्त है। प्रथम भाग में तोष संबंधी समीक्षा है, जिसमें कुल १०५ पृष्ठ हैं। यह लेखक का लखनऊ विश्वविद्यालय की एम० ए० परीक्षा के लिए १९५७ ई० में प्रस्तुत निबंध है, जो निम्नांकित सात अध्यायों में विभक्त है।

(१) तोष विषयक प्राप्त सामग्री और उसकी परीक्षा, तोष नामधारी अनेक कवि।
(२) जीवन-वृत्त और व्यक्तित्व।
(३) तोष के ग्रंथ।
(४) तोष का आचार्यत्व।
(५) तुलनात्मक समालोचना।
(६) भाषा और शैली।
(७) उपसंहार।

दूसरे भाग में मूल ग्रंथ है, पृष्ठ १०९-२०४, कुल ९६ पृष्ठ।

१. सम्पादन

आलोचना के पहले डॉ० सुरेन्द्र माथुर कृत प्राक्कथन है, जिसके पृष्ठ २ के तृतीय अनुच्छेद में वे लिखते हैं—

"'तोष कवि' का प्रमुख ग्रन्थ 'सुधानिधि' है। इसका प्रकाशन सन् १८९२ ई० में भारत जीवन प्रेस, काशी से बाबू रामकृष्ण वर्मा द्वारा हुआ था। प्रस्तुत आलोचना का आधार वही ग्रन्थ है। उसी का पुनर्मुद्रण इस आलोचना के साथ हो रहा है।"

इस कथन से स्पष्ट है कि डॉ० सुरेन्द्र माथुर ने 'सुधानिधि' का संपादन नहीं किया है। यह १८९२ ई० में रामकृष्ण वर्मा द्वारा भारतजीवन प्रेस से प्रकाशित 'सुधानिधि' का पुनर्मुद्रण मात्र है, संपादन नहीं। यह इस बात से भी स्पष्ट है कि समीक्षा के अन्तर्गत सुधानिधि के किसी हस्तलेख का विवरण भी नहीं दिया गया है जिसके आधार पर संपादन

किया गया है। डॉ० माथुर ने स्पष्ट स्वीकार किया है कि यह पुनर्मुद्रण है। ऐसी स्थिति में ग्रथ के मुखपृष्ठ पर डॉ० सुरेन्द्र माथुर को संपादक के रूप में प्रस्तुत किया जाना ठीक नहीं। वे ग्रन्थ के पूर्वार्द्ध में संलग्न आलोचना के लेखक मात्र हैं, 'सुधानिधि' के पाठ के संपादक नहीं। इस निबंध में केवल उसी आलोचना पर विचार किया जा रहा है, संपादन पर नहीं, क्योंकि संपादन का उत्तरदायित्व अब डॉ० सुरेन्द्र माथुर पर नहीं रह जाता है।

२. भूमिका

'प्रकाशकीय' और 'प्राक्कथन' के बीच स्वर्गीय डॉ० व्रजकिशोर मिश्र लिखित दो पृष्ठों की भूमिका है। प्रस्तुत निबंध डॉ० मिश्र की देखरेख में उन्हीं के शिष्य द्वारा लिखा गया था, इसीलिए यह भूमिका संलग्न है। यह भूमिका अनावश्यक ही नहीं है, प्रत्युत हानिकर भी है। निबंध में डॉ० माथुर ने तोष और तोषनिधि नामक दो कवि स्वीकार किये हैं, जो निश्चय ही ठीक है और यही प्रतिपादन परंपरा से शिवसिंह सेंगर, सर जार्ज ग्रियसन, मिश्रबंधुओं एवं उक्त डॉ० मिश्र के पूज्य पिता पं० कृष्ण बिहारी जी मिश्र द्वारा होता आता है। आचार्य शुक्ल जी ने न जाने कैसे तोष और तोषनिधि को एक कर दिया है। यही भूल भूमिका लेखक डॉ० व्रज किशोर मिश्र से भी हो गई है। वे लिखते हैं कि तोष की कविता से मेरा अनुराग बाल्यावस्था में ही हो गया था और मैं तोष की समस्त रचनाओं को एक स्थान पर प्रकाशित देखने के लिए उत्सुक था। मेरे शिष्य श्री सुरेंद्र माथुर ने मेरी इच्छा को पूर्ण करके आशीर्वाद प्राप्त करने की योग्यता प्राप्त कर ली है। यही समस्त भूमिका का सार है। डॉ० मिश्र ने चर्चा तो बराबर 'तोष' की की है, पर जिस कवित्त ने 'तोष' के काव्य के प्रति उनके हृदय में अनुराग उत्पन्न किया, दुर्भाग्य की बात है कि वह तोष का नहीं है, तोषनिधि का है। स्पष्ट है कि डॉ० मिश्र ने जल्दीबाजी में न तो अपने पूज्य पिता की बातों का ध्यान रखा और न आलोचना में प्रतिपादित अपने शिष्य के कथन का ही। तोष और तोषनिधि का यह घालमेल उनसे प्रमादवश हो गया, जिसका परिमार्जन अब संभव नहीं है। तोष (वस्तुतः तोषनिधि) के जिस छंद ने डॉ० मिश्र को अपने काव्य की ओर बाल्यावस्था में ही आकृष्ट किया, वह यह है—

शक्ति जो न मांगि लेतो कुण्डल कवच, पुनि
    चक्र जो न लीलती धरति, रथ धारतो
कुन्ती जो न सरति समेटि लेती, द्विजराज
    साथ जो न होतो, सल्य सारथी निबाहतो
'तोषनिधि' जो पै प्रभु पीत पटवारो बनि
    सारथीपने कौ कछु कारज न सारतो
तौ तौ बीर करन प्रतापी रविनंदन सु
    पांडु सुत सैना को चबैना करि डारतो

इस छंद का पाठ भी दो स्थलों पर भ्रष्ट हो गया है। पहली पाठभ्रष्टता तो प्रथम शब्द ही में है। 'शक्ति' के स्थान पर 'शक्र' होना चाहिए। दूसरे चरण में 'द्विजराज साथ जो न होतो' के स्थान पर द्विजराज साप जो न होतो पाठ होना चाहिए

इस कवित्त को डॉ० सुरेन्द्र माथुर ने भी अपनी आलोचना के प्रथम अध्याय में पृष्ठ १२ पर उद्धृत किया है, पर शुद्ध पाठ के साथ उद्धृत किया है और तोषनिधि के नाम से उद्धृत किया है, फिर जानबूझ कर उन्होंने इस भूमिका को इस ग्रन्थ में क्यों जाने दिया। गुरु के प्रति श्रद्धा दिखलाने के लिए उन्होंने यह भूमिका उनसे लिखवाकर जाली है। पर इस भूल की अभिज्ञता होते हुए भी इस भूमिका को ग्रन्थ के साथ जाने देकर उन्होंने अपने गुरु के साथ अन्याय ही किया है। ऐसा हो नहीं सकता कि लेखक अपने ग्रन्थ की दूसरों से लिखाई गई भूमिका को स्वयं ही मनोयोगपूर्वक न पढ़े।

भूमिका ग्रंथ के प्रतिपादन के विरुद्ध है, भूमिका लेखक के यश के प्रतिकूल है, अत: अब परिमार्जन का एक ही पथ रह जाता है कि ग्रन्थ की जो प्रतियां बिक्री के लिए रह गई है, उनमें से इस भूमिका को निकाल दिया जाय। इससे ग्रन्थ की कोई क्षति नहीं होगी, अपितु भूमिका लेखक, ग्रन्थ एवं प्रकाशन-संस्था की पत रह जायगी।

३. तोष के ग्रन्थ

तोष का केवल एक ग्रंथ है 'सुधानिधि', पर मिश्रबंधुओं ने विनोद में कवि संख्या २६४/१ पर तोष का विवरण देते हुए लिख दिया है—

"'विनय शतक' और 'नखशिख' नामक इनके दो ग्रन्थ खोज में मिले हैं।"

मिश्रबंधुओं ने जब एक बार ऐसा लिख दिया, तब झोंक में आकर उसी बात को आचार्य शुक्ल, हरिऔध, गुलाबराय, चतुरसेन शास्त्री आदि पुराने इतिहासकार दुहराते गए। प्रस्तुत ग्रन्थ के प्रणेता डॉ० माथुर को इस पर विशेष ध्यान देना चाहिए था। पर उन्होंने भी लीक पर ही चलना ठीक समझा और उसी प्रवाह में वे भी बह गए। मिश्रबंधुओं ने इन दोनों ग्रन्थों के खोज में मिलने की बात कही है। वे रौ में आकर ही ऐसा लिख गए, वस्तुत: तोष के इन नामों के कोई भी ग्रन्थ खोज में कभी भी नहीं प्राप्त हुए। पर डॉ० सुरेन्द्र माथुर लिखते हैं—

"यद्यपि इनके दो अन्य ग्रन्थ 'विनयशतक' और 'नखशिख' भी द्वितीय त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट में काशी नागरी प्रचारिणी सभा द्वारा बताए गए हैं, पर अभी तक प्राप्त नहीं हो सके हैं।"

डॉ० सुरेन्द्र का यह कथन निराधार है। सभा की द्वितीय त्रैवार्षिक रिपोर्ट (१९०९-११ ई०) क्या, किसी भी रिपोर्ट में, तोष के इन दोनों ग्रन्थों का उल्लेख नहीं हुआ है। १९०३ वाली प्रसंग प्राप्त रिपोर्ट में ग्रन्थ संख्या ३१६ पर 'सुधानिधि' की प्राप्त प्रति का विवरण एवं ग्रन्थ के आदि एवं अंत के उद्धरण मात्र दिए गए हैं। कवि का विवरण पृष्ठ १४ पर रिपोर्ट के अंतर्गत संख्या २१ पर दिया गया है। वहाँ भी 'विनयशतक' एवं 'नखशिख' का कोई उल्लेख नहीं हुआ है। फिर डॉ० सुरेन्द्र माथुर ने द्वितीय त्रैवार्षिक रिपोर्ट का हवाला कैसे दे दिया? निश्चय ही माथुर जी ने खोज रिपोर्ट स्वयं नहीं देखी। उन्होंने जो हवाला दिया है, मिश्रबंधु विनोद के आधार पर दिया है पर गलत हवाला दिया है विनोद में कहीं भी यह उल्लेख नहीं है कि ये दोनो ग्रन्थ द्वितीय त्रैवार्षिक खोज में मिले। वस्तु इन दोनों ग्रन्थों

के सम्बन्ध में मिश्रबंधुओं द्वारा किया गया उल्लेख उद्धृत किया जा चुका है। उसके ठीक पहले वाले वाक्य में 'सुधानिधि' के रचनाकाल पर विचार करते हुए वे लिखते हैं :—

"अतः 'सुधानिधि' का निर्माण काल १७९१ न होकर एक शतक पूर्व का अर्थात् १६९१ का होना द्वि० त्रै० खोज रिपोर्ट से सिद्ध है।"

यहाँ आए 'द्वि० त्रै० खोज रिपोर्ट' ने माथुर जी के मन में भर दिया कि 'विनय-शतक' एवं 'नखशिख' भी इसी खोज रिपोर्ट में उल्लिखित हैं।

जिस प्रकार माथुर जी ने इन दोनों ग्रन्थों के द्वितीय त्रैवार्षिक खोज रिपोर्ट में उल्लिखित होने की बात असावधानी से लिख दी, उसी प्रकार मिश्रबंधुओं ने भी इन दोनों 'ग्रन्थों' को तोष की रचना मानने की भूल कर दी। शिवसिंह सरोज में तोखनिधि के विवरण में लिखा है :—

"१६ तोखनिधि ब्राह्मण कंपिला नगरवासी, सं० १७९८

इनके बनाए हुए तीन ग्रन्थ हैं—१—सुधानिधि, २—व्यंग्य शतक, ३—नखशिख। ये तीनों ग्रन्थ विचित्र हैं।" तोषनिधि के नाम पर चढ़े इन तीनों ग्रन्थों को मिश्रबंधुओं ने विनोद में प्रमाद से 'तोष' के नाम पर भी चढ़ा लिया। प्रश्न उठता है कि उन्होंने 'व्यंग्यशतक' का 'विनयशतक' कैसे कर दिया। १९१२-१४ वाली खोज रिपोर्ट में इस ग्रन्थ की जो प्रति मिली है उसमें ग्रन्थ का नाम 'दीन व्यंगशत' है। विवरण में 'subject' के अन्तर्गत लेख है—"ईश्वर प्रति विनय।" हो सकता है इस 'विनय' ने व्यंगशत को 'विनय शतक' बना दिया हो। अस्तु। भूल जैसे भी हुई हो, हुई है, और विनयशतक तथा 'नखशिख' नामक ग्रन्थ तोषनिधि की रचनाएँ हैं; 'तोष' ने इन नामों के कोई ग्रंथ नहीं लिखे और अब भविष्य में तोष की रचना के नाम पर केवल सुधानिधि का उल्लेख किया जाना चाहिए।

४. सुधानिधि का रचनाकाल

१८९२ ई० में भारत जीवन प्रेस से सुधानिधि का प्रकाशन हुआ था। उसमें रचना-काल सूचक यह दोहा दिया गया है—

संवत् सत्रह से बरस, गो इक्यानबे बीति,
गुरु असाढ़ की पूर्णिमा, रच्यौ ग्रन्थ करि प्रीति। ५५५

इस दोहे के आधार पर सुधानिधि का रचनाकाल सं० १७९१ वि० माना जाता रहा है। इसी के आधार पर बंधुओं ने विनोद के प्रथम संस्करण में तोष का रचनाकाल सं० १७९१ माना था। पहले वे भी तोष और तोषनिधि को एक ही कवि मानते थे और ७२५ संख्या पर इनका विवरण दिया था। विनोद द्वितीय भाग का द्वितीय संस्करण सं० १९८४ वि० (१९२७ ई०) में हुआ और नए कवियों की जो नवीन अंक दिए गए वे पूर्णाङ्क न होकर भिन्नांक हुए। इस संस्करण में 'तोष' का विवरण २९४।१ संख्या पर एवं 'तोषनिधि' का ८८४।१ संख्या पर है। यह विभेदीकरण 'साहित्य समालोचक' में पं० कृष्ण बिहारी मिश्र, प० चंद्र मनोहर मिश्र एवं याज्ञिक त्रय द्वारा १९२५-२६ ई० में कर दिया गया था, जिसे मिश्रबंधुओं ने विनोद भाग २ के द्वितीय संस्करण में (सन् १९२७ ई०) स्वीकार कर लिया। विनोद के इस द्वितीय में ७१९ सख्यक कवि का यह विवरण दिया गया है

नाम—(७१५) तोषनिधि। इनका ठीक नं० (२९४/५) है। तु० त्रै० रि० में इनका 'दीन व्यंगशत' नामक ग्रन्थ मिला है।" पीछे लिखा जा चुका है कि २९४।१ संख्या पर तोषनिधि नहीं है, 'तोष' हैं। तोषनिधि तो ९८४।१ संख्या पर है। अस्तु।

१९०९ की खोज में सुधानिधि की जो प्रति अयोध्या नरेश के राजकीय पुस्तकालय में मिली, उसमें इस ग्रन्थ का रचनाकाल सूचक यह दोहा है—

संवत सोरह सै वरष, गो इकानवे बीति। गुरु अषाढ़ की पूर्णिमा, रच्यो ग्रन्थ करि प्रीति।

भारत जीवन प्रेस की मुद्रित एवं इस हस्तलिखित प्रति के इस दोहे में केवल एक शब्द में अंतर है। मुद्रित में 'संवत सत्रह सै' है, हस्तलेख में 'संवत सोरह सै' है। निश्चय ही मुद्रित प्रति भी किसी-न-किसी हस्तलिखित प्रति के ही आधार पर प्रस्तुत की गई होगी, जिसमें 'संवत सत्रह सै' पाठ रहा होगा। फिर किसको प्रामाणिक माना जाय, किसको अप्रामाणिक। बिना किसी विचार के मिश्रबंधुओं ने इसका रचनाकाल संवत १६९१ मान लिया और डॉ० भगीरथ मिश्र ने इनका अनुसरण किया। मैंने भी 'सरोज सर्वेक्षण' में सुधानिधि का रचनाकाल सं० १६९१ स्वीकार किया है। आचार्य पंडित रामचन्द्र शुक्ल, डॉ० रामशंकर शुक्ल 'रसाल' ने पुरानी लीक पर ही चलना स्वीकार कर इसका रचनाकाल सं० १७९१ ही माना है। 'कवि तोष और सुधानिधि' ग्रन्थ के प्रणेता डॉ० माथुर इस संबंध में सं० १७९१ को ही रचनाकाल मानते हुए लिखते हैं—

(१) "यही संवत् प्राप्त प्रति के अनुसार हमें भी मान्य है। क्योंकि सुधानिधि ग्रंथ में तोष द्वारा रचित निम्न दोहा इसका स्पष्ट प्रमाण है। (पृष्ठ ३०)

(२) "भारत जीवन प्रेस, काशी से सन् १८९२ ई० में प्रकाशित इस ग्रन्थ की जो प्रति प्राप्त हो सकी है उसके अनुसार मैं भी यह कहने का साहस करता हूँ कि इस 'सुधानिधि' ग्रन्थ की रचनासमाप्ति काल संवत् १७९१ ही शुद्ध और मान्य है, सं० १६९१ नहीं। क्योंकि सुधानिधि ग्रन्थ के अंत में कवि ने स्वयं ही रचनासमाप्ति काल दिया है, जो इस प्रकार है—" पृष्ठ १८ डॉ० माथुर का तर्क अद्भुत है। एक ही पोथी की दो भिन्न प्रतियों में दो रचनाकाल दिए गए हैं, एक को प्रामाणिक और दूसरे को अप्रामाणिक मानने के लिए कोई दूसरा तर्क अपेक्षित है। मुद्रित प्रति के दोहे को स्वयं कवि का रचा कहना मुद्रित प्रति को प्रमाण मानना है, फिर हस्तलेख वाला दोहा क्या किसी दूसरे का लिखा है। दोनों दोहे एक ही है और कवि-विरचित हैं। एक शब्द में पाठांतर है। कौन पाठ ठीक है, यह निर्णय अन्य प्रमाणों पर निर्भर करता है। यदि सुधानिधि के दस-पाँच हस्तलेख मिल जाँय, तो यह निर्णय आसानी से हो सकता है, पर दुर्भाग्यवश इसका एक ही हस्तलेख—अयोध्या नरेश के राज पुस्तकालय वाला—प्राप्त हो सका है और उसी ने यह विवाद खड़ा किया है। फिर शुद्ध पाठ के लिए कोई दूसरा द्वार देखना होगा।

शिवसिंह सेंगर ने तोष और तोषनिधि के संबंध में जो विवरण दिए हैं, वे अधिकांश में ठीक हैं। उन्होंने तोष और तोषनिधि को दो भिन्न कवि माना है। भूल उनसे एक ही हुई है, उन्होंने विवरण में सुधानिधि को तोषनिधि की रचना मान लिया है, पर उदाहरण देते समय उन्होंने अपनी इस गलती को ठीक कर लिया है तोष की कविता का जो उदाहरण

दिया है, उसके पहले '२६४ तोख कवि' लिख कर (सुधानिधि ग्रंथ) लिख दिया है। शिवसिंह सेंगर के अनुसार तोष का समय संवत् १७०५ है। यह जन्मकाल नहीं है। सरोजकार के दिए सवतों को जन्म संवत् समझने की भूल अब तक बहुत की गई है, अब वह भूल सुधार लेनी चाहिए। सरोजकार ने कवियों का रचनाकाल देने का प्रयास किया है। अस्तु, सरोजकार के अनुसार तोष का रचनाकाल संवत् १७०५ है। सुधानिधि का रचनाकाल सूचक दोहा यदि सरोजकार ने भी दे दिया होता, तो अत्युत्तम हुआ होता। कुछ पता नहीं सुधानिधि की प्रति उनके पास थी भी अथवा नहीं। मेरा ऐसा ख्याल है कि सरोजकार के पास सुधा-निधि की प्रति नहीं थी। ऐसा सोचने के दो कारण हैं। प्रथम, यदि सेंगर जी के पास सुधानिधि का हस्तलेख होता, तो उन्होंने अवश्य ही रचनाकाल सूचक दोहा उद्धृत किया होता, जैसा कि उन्होंने अन्य अनेक ग्रंथों का रचनाकाल उद्धृत किया भी है। दूसरे, सुधानिधि के नाम पर उन्होंने जो ८ छंद उद्धृत किए हैं, उनमें से केवल ४, ५, ८ सुधानिधि में हैं और उक्त ग्रथ के क्रमशः ४७, १८१, १२४ संख्यक छंद हैं। स्पष्ट है कि सरोजकार ने ये सभी छंद किसी अन्य सूत्र से संभवतः किसी संग्रह से लिए हों, स्वयं मूल ग्रंथ से नहीं।

अब प्रश्न उठता है कि सरोजकार ने संवत् १७०५ की कल्पना कैसे कर ली। सेंगर जी ने तोख के विवरण में लिखा है:—

"यह महाराज भाषा काव्य के आचार्यों में हैं। ग्रन्थ इनका कोई हमको नहीं मिला। पर इनके कवित्तों से हमारा कुतुबखाना भरा हुआ है। कालिदास तथा तुलसी जी ने भी इनकी कविता अपने ग्रन्थों में बहुत सी लिखी है।"

जिन तुलसी का यहाँ उल्लेख हुआ है, वे कवि यदुराय के पुत्र थे। इन्होंने संवत् १७१२ में 'कवि माला' नामक एक ग्रन्थ रचा था। जिसमें १५०० से लेकर १७०० वि० तक के ७५ कवियों के कवित्त एकत्रित थे। यह संग्रह सरोजकार के पास था। उसने सरोज के प्रणयन में जिन ग्रंथों से सहायता ली थी, उनमें से 'कवि माला' भी एक है। इन तुलसी ने 'रस भूषण' और 'रसकल्लोल' नामक और दो ग्रंथ लिखे हैं। इनमें से 'रसकल्लोल' का रचनाकाल संवत् १७११ है।

संवत् सत्रह से बरष, येकादस की आदि।
मास सो माधव जानिबे, सुष पक्ष तरादि॥

—अष्टम कल्लोल, छंद ६६

'कवि माला' का रचनाकाल सूचक दोहा है:—

सत्रह सौ बारह बरस, सुदि असाढ़ बुधवार।
तिथि अनंग को सिद्ध यह भई जौ सुख को सार॥

इस दोहे को स्वय सरोजकार ने सरोज म पृष्ठ १२४ पर उद्धरण देते समय उद्धृत

हो उसका १७९१ कैसे हो सकता है। अत सुधानिधि की रचना स० १६९१ में हुई, यही मानना समीचीन है।

५. कुछ सामान्य भूलें

इस ग्रंथ में छोटी-मोटी भूलें अनेक हैं। इनमें से उदाहरणार्थ नीचे कुछ की ओर संकेत किया जा रहा है।

(क) "ना० प्र० सभा काशी की १२वीं खोज रिपोर्ट के पृष्ठ १४ पर 'तोषनिधि' नाम दिया हुआ है और इनके तीन ग्रंथों का नाम भी, जो कि तोष के ग्रंथों से सर्वथा भिन्न हैं।" —(पृष्ठ ८)

उक्त खोज रिपोर्ट १९२०-२२ ई० की है। उसके पृष्ठ १४ पर तोषनिधि के नाम से निम्नांकित तीन ग्रंथ दिए गए हैं—

(१) सुधानिधि

(२) दीन व्यंगसत

(३) रति मंजरी

इनमें से प्रथम तोष का है, शेष दोनों तोषनिधि के।

(ख) पृष्ठ ८ पर ही चंद्रमनोहर मिश्र के लेख पर सारांश देते हुए तोष और तोषनिधि के एक ही कवि समझे जाने के कारणों पर प्रकाश डालते हुए कहा गया है—

"तीसरा भ्रम का कारण यह भी है कि यह दोनों ही कवि ब्राह्मण और शुक्लास्पदी थे।"

तोषनिधि शुक्ल नहीं थे, कान्यकुब्ज अवस्थी थे। यह भूल डॉ० माथुर की नहीं है, श्री चंद्रमनोहर मिश्र की है। डॉ० माथुर को इसका खंडन कर देना चाहिए था।

(ग) पृष्ठ ९ पर कृष्णबिहारी मिश्र के लेख का सारांश देते हुए दो बार कहा गया है कि पिनाकी मिश्र ने कृष्णबिहारी मिश्र को बताया था कि तोषनिधि कालपी के रहने वाले थे। तोषनिधि कालपी के रहने वाले नहीं थे, कंपिला के रहने वाले थे। यह भूल भी डॉ० माथुर की नहीं है, उन्होंने सारांश दिया है, अपनी बात नहीं कही है। पर यहाँ भी उन्हें इस अतथ्य का खंडन कर देना चाहिए था।

(घ) पृष्ठ १७ पर डॉ० माथुर लिखते हैं—

"सेंगर जी तोष की जन्मतिथि संवत् १७०५ मानते हैं।"

शिवसिंह सेंगर ने कवियों का रचनाकाल दिया है, जन्म काल नहीं। उक्त संवत् १७०५ सरोजकार के अनुसार तोष का रचनाकाल है।

(ङ) पृष्ठ १८ पर सुधानिधि का रचनाकाल १७९१ वि० माननेवाले विद्वानों की सूची में पं० अयोध्यासिंह उपाध्याय 'हरिऔध' का भी नामोल्लेख है; हरिऔध जी ने 'हिन्दी भाषा और साहित्य का विकास' में सन् संवत् प्रायः नहीं के बराबर दिया है। किसी भी इतिहास-ग्रन्थ की यह सबसे बड़ी कमजोरी है उन्होंने सुधानिधि का भी रचनाकाल नहीं दिया है।

(च) पृष्ठ २० पर सिंगरौर की स्थिति पर विचार करते हुए डॉ० माथुर लिखते है—

"यह सिंगरौर परगना प्रयाग (इलाहाबाद) के पूर्वी क्षेत्र में दस कोस दूर पर स्थित है और देवनदी के निकट है।"

यह तोष के परिचयात्मक सवैये के निम्नांकित चरण का गलत अर्थ है—

'दक्षिन देवनदी निकटै दस कोस प्रयागहि पूरब मानो'

इसका ठीक अर्थ है—'देवनदी गंगा सिंगरौर से दक्षिण है और निकट ही है।' (वस्तुतः सिंगरौर, जिसे रामचौरा भी कहा जाता है, जिसका पुराना नाम शृंगबेरपुर है, गंगा जी के तट पर ही उत्तर ओर बसा है)। 'प्रयाग को सिंगौर से दस कोस पूर्व मानो।' सिंगरौर प्रयाग से दस कोस पूर्व नहीं है। प्रयाग ही सिंगरौर से दस कोस पूर्व है।

(छ) पृष्ठ २७ पर तोष को "प्रेम में डूबा हुआ व्यक्ति" कहा गया है। पर इसका प्रमाण क्या है; रसखान, आलम, घनानंद, बोधा, ठाकुर आदि के संबंध में तो प्रेम संबंधी किंवदंतियाँ प्रसिद्ध हैं, तोष के संबंध में ऐसी कोई बात नहीं कही जाती।

(ज) पृष्ठ ४८ पर तोष के पूर्वानुराग संबंधी निम्नांकित दोहे का अर्थ किया गया है। दोहा भी पाद-टिप्पणी में दे दिया गया है—

सुनै लखै उपजै जहाँ, उतकंठा अरु प्रीति,
सो पूरब अनुराग है, मिले बिना दुख रीति। ४१६

"तोष के अनुसार पूर्वानुराग वहाँ होता है जहाँ नायक-नायिका के हृदय में एक दूसरे के रूप को देखकर या सुनकर उत्कंठा या प्रीति उत्पन्न होती और फिर दर्शन न मिलने पर दुख होता है।"

'मिले बिना' का अर्थ 'दर्शन न मिलने पर' करना ठीक नहीं। 'दर्शन' व्यर्थ के लिए जोड़ दिया गया है और अर्थ को संकुचित कर दिया गया है। वस्तुतः पूर्वानुराग मिलन-पूर्व का प्रेम है। यहाँ मिलने की विशिष्ट व्याख्या अनावश्यक है।

(झ) तुलनात्मक समालोचना के अंतर्गत डॉ० माथुर ने प्रायः एक ही विषय पर लिखी दो कविताओं को तुलनीय समझ लिया है। तुलना भाव की होती है, न कि विषय की। तुलना तब आवश्यक हो जाती है जब एक ही-सी पदावली भी प्रयुक्त हो। इस दृष्टि से अनेक तुलनाएँ व्यर्थ हैं जैसे तोष और तुलसी वाले प्रकरण में तुलित छंद में भाव-साम्य है ही नहीं; परवर्ती कवि ने पूर्ववर्ती कवि से किसी भी प्रकार की कोई प्रेरणा नहीं ली है। उदाहरणार्थ—

राम कौ रूप निहारत जानकी कंगन के नग की परछाहीं,
याते सबै सुधि भूलि रही, कर टेकि रही, पल टारत नाहीं।

तुलसी की इन पंक्तियों का प्रत्यक्ष क्या परोक्ष प्रभाव भी तोष की निम्नांकित पंक्तियों

मूले सबै जो इकत मिलो यहि भोरे सुभावहि तें करती हौं
गात सबै महरात चिते, भरि आत गरो, चुप ह्वै रहती हौं।[३५५]

निश्चय ही ये पंक्तियाँ तुलसी की ऊपर उद्धृत पंक्तियों को देखकर नहीं लिखी गई है।

(ञ) तोष और बिहारी की तुलना करते हुए डॉ० माथुर पृष्ठ ८२ पर लिखते है—

'बिहारी के नेत्र सर्वत्र चमत्कार की खोज करते हैं।' अभिप्राय यह कि बिहारी अलकारों के ही कवि है। ऐसा कहना बिहारी के साथ अन्याय करना है। केवल अलंकारो की सृष्टि करके बिहारी उस गौरव को नहीं पा सकते थे, जो उन्हें प्राप्त है। उनके काव्य में रस और अलंकार का सम्यक् संतुलन है, केवल चमत्कार के लिए कुछ ही दोहे लिखे गए हैं।

(ट) पृष्ठ ७४ पर वे पुन: लिखते हैं—

'वे भाव-साम्य के क्षेत्र में तुलसी और मतिराम जैसे अनेक कवियों से भी आगे बढते हुए प्रतीत होते हैं।'

इसे अनर्गल मंतव्य ही कहा जायगा। कहाँ तुलसी, कहाँ तोष ?

(ठ) ओज गुण के संबंध में डॉ० माथुर के मन में भयानक भ्रांति है। वे तोष के निम्नांकित छंद में 'ओज गुण पर्याप्त मात्रा में विद्यमान' पाते है :—

फूल गुलाब के फूलि रहे द्दग, किंसुक से अधरा अघकारे
भारि कै लाज पतीवन को, किसलै सम जावक हैं अरुनारे
'तोष' लसैं मृग के मद की तन लीक अली अवली मतवारे
मोद अनंत भयो उर अंतर, आवे वसंत ह्वै कंत हमारे।

गुण दो प्रकार के हैं— अर्थ संबंधी एवं शब्द संबंधी। अर्थ संबंधी गुण एक है, वह है प्रसाद। कविता को ऐसा होना चाहिए कि सरलता से अथवा किंचित् प्रयास से ही समझ में आ जाय। तभी साधारणीकरण होगा। यही कविता की प्रसाद-गुण-पूर्णता है। यदि सरलता से अर्थ-ग्रहण नहीं हो पाता, तो कविता में 'क्लिष्टत्व' दोष आ जाता है। अत: प्रत्येक कविता को प्रसाद गुण से पूर्ण होना चाहिए।

भाव दो प्रकार के होते हैं—कोमल और कठोर। कोमल भावों की अभिव्यक्ति के लिए कोमल पदावली एवं कठोर भावों के लिए कठोर पदावली प्रयुक्त होती है। कोमल पदावली ही माधुर्य गुण है और कठोर पदावली ही ओज गुण है। शृंगार, शांत करुण, हास्य आदि रसों में माधुर्य गुण एवं वीर, भयानक, वीभत्स तथा रौद्र रसों में ओज गुण होता है। माधुर्य और प्रसाद साथ-साथ रहेंगे तथा ओज और प्रसाद साथ-साथ रहेंगे। प्रसाद की गति सर्वत्र है; माधुर्य और ओज की सीमित। अब निर्णय किया जाय कि ऊपर उद्धृत छंद में ओज कहाँ है—यह तो शृंगार रस का छंद है और इसकी पदावली कोमल है, न कि कठोर।

६. कुछ सामान्य दोष

ग्रंथ एम० ए० के विद्यार्थी का लिखा हुआ है उसकी प्रथम रचना है, पर यह लेखक के डॉक्टर हो जाने के उपरांत के प्राय: ८ वर्ष बाद प्रकाशित हो रहा है और वह भी

नागरी प्रचारिणी सभा ऐसी विशिष्ट संस्था से। अतः इसकी कतिपय अन्य त्रुटियों की ओर भी इंगित कर देना आवश्यक है।

(क) ग्रंथ में पुनरुक्ति बहुत है। एक ही बात कई बार कही गई है।

(ख) एक ही कविता दुबारा उद्धृत की गई है।

(ग) अनावश्यक उद्धरण भी बहुत दिए गए हैं। जो बातें सर्वमान्य एवं सामान्य है उनके प्रमाण के लिए विशिष्ट व्यक्तियों की रचनाओं से उद्धरण देना अनावश्यक है।

(घ) भाषा प्रायः असमर्थ हो गई है।

(ङ) भाषा और शैली वाले अध्याय में भाषा, शैली, शब्द शक्ति, अलंकार, छंद आदि के उपशीर्षक है। प्रत्येक प्रकरण में अनावश्यक सैद्धांतिक विवेचन प्रस्तुत किया गया है। यह सब कार्य आज से प्रायः ४० वर्ष पहले के आलोचक कर गए हैं। अब अलंकार क्या है ? इसकी महत्ता क्या है ? आदि बातें समझाने का अनावश्यक विस्तार न करना चाहिए। सीधे कथ्य पर आना चाहिए।

ये सभी त्रुटियाँ इसलिए हुई हैं कि ग्रंथ परीक्षा के दृष्टिकोण से लिखा गया था, जहाँ विद्यार्थी अनावश्यक विस्तार का लोभ संवरण नहीं कर पाता।

७. मूल ग्रन्थ के संबंध में कुछ सुझाव

(क) मूल ग्रंथ के प्रस्तुतीकरण में थोड़ी सावधानी बरतनी चाहिए थी। अर्थ विचार करना चाहिए था। बिना अर्थ विचार किए संपादन संभव नहीं। शब्दों के वर्ण अलग-बगल के शब्दों से मिलाकर निरर्थक पदों की सृष्टि कर देते हैं। ऐसी निरर्थक शब्द-सृष्टि इस ग्रंथ मे बहुत है। यदि थोड़ा भी ध्यान दिया गया होता तो यह त्रुटि दूर हो सकती थी।

(ख) सभी प्राचीन ग्रंथों के जो नवीन संपादित संस्करण प्रकाशित हो रहे हैं, उनमे जिस प्रकार शब्दार्थ किया जा रहा है, वैसा ही इस ग्रंथ में भी होना चाहिए था।

(ग) वैसे ही इस ग्रंथ में भी अंत में छंदानुक्रमणिका दी जानी चाहिए थी।

(घ) तोष के कुछ छंद जो सुधानिधि में नहीं है, ग्रंथ के अंत में संकलित कर दिए गए है। यह अच्छा है। मैं समझता हूँ। यह संकलन अधूरा है। पुराने संग्रह ग्रंथों के आलोड़न से तोष के कुछ और भी छंद निश्चित रूप से मिल सकते हैं। उदाहरणार्थ 'काव्य कानन' में छंद १८,७७० नये हैं, जिनमें क्रमशः 'कुच' और 'कलि की कुचाल' का वर्णन है।

'सुधानिधि' का प्रकाशन आज से ७२ वर्ष पूर्व हुआ था और वह सुलभ नहीं था। इस ग्रंथ का प्रकाशन करके सभी ने प्राचीन काव्य के प्रेमियों का उपकार ही किया है।

जैसलमेर के कतिपय लोक-विश्वास

मोहन लाल पुरोहित

लोक-विश्वासों की परम्परा बहुत ही लंबी है। निस्संदेह इनके पीछे इनका अपना हजारों वर्षों का इतिहास छिपा हुआ है। लोक-साहित्य की अपनी एक विशेषता रही है—असम्भव को सम्भव मानकर चलना। यहाँ अविश्वास नाम का कोई प्रश्न ही नही उठता। तर्क को लोक-साहित्य में स्थान नहीं दिया जाता। ठीक इसी प्रकार हम लोक-विश्वासों में भी देखते आ रहे हैं—वे समाज में एक प्राचीन-परम्परा को लिए चले आ रहे है। लोग उन्हें बहुत दिनों से मानते आ रहे हैं। लोग इन्हें क्यों मानते हैं? इसका यहाँ कोई प्रश्न ही नहीं उठता। समाज में ऐसा ही लोक-प्रचलित विश्वास है। अतः समाज इसे अपनी छाती से चिपकाए, अपने पूर्वजों की थाती समझे, बड़ी सावधानी से इसकी रक्षा करे। इसका आज भी पालन करता आ रहा है। स्थानीय रीति-रिवाजों, विश्वासों, टोना-टोटकों और लोक-देवताओं के पूजा-पाठ को लेकर भले ही इनमें थोड़ा बहुत अंतर पाया जा सकता है, लेकिन जो टोना-टोटका राजस्थान-प्रान्त में प्रचलित है—सम्भव है वहीं महाराष्ट्र, मध्य-भारत और बगाल अथवा किसी अन्य स्थान में, किसी दूसरे रूप में प्रचलित हो। साथ ही विभिन्न प्रान्तों एवं स्थानों में अपनी स्थानीय विशेषताओं के साथ ही एक ही उद्देश्य की पूर्ति के लिए नए नए टोटकों और विश्वासों का प्रचलित होना भी स्वाभाविक है। अतः यह समझ लेना कि जो लोक-विश्वास यहाँ दिए जा रहे हैं, वे राजस्थान भर में सर्वत्र ही समान-रूप से प्रचलित है, अथवा उनकी संख्या इतनी ही होगी, ऐसा नहीं है। हमारा विषय जैसलमेर के कतिपय-लोक विश्वासों को लेकर है। राजस्थान के अन्य जन-पदीय-लोक-विश्वासों पर तो स्वतन्त्र-रूप से लिखने की आवश्यकता है। अस्तु।

चोप

आँख में खेलते समय अथवा असावधानीवश कहीं चोट लगने से एक प्रकार की लाली-सी आ जाती है—इसे 'चोप' कहते हैं। चोप को निकालने के लिए बूढ़ी-बडेरी एक कांसी के कटोरे में पानी भर लेती है। एक टुकड़ा मूंज का ले लिया जाता है। उसे घी अथवा तेल में डुबो लेते हैं। फिर उसे जलाया जाता है। बुढ़िया अथवा चोप निकालने वाली एक तरफ एक कोने में बैठ जाती है चोप निकालने वाली उसे सावधान करते हुए विशेष आदेश देती

है, इस कटोरे में ध्यान से देखते रहना, तुम्हारी चोप झड़ी जा रही है। और फिर वह इस प्रकार कहना प्रारम्भ करती है :—

चोप चोप झड़जा—
आड़ैरी, पाड़ैरी,
आरारी, गरारी,
मेलैरी, छेलैरी,
कुत्तेरी, मिनीरी,
तेलीरी, तंबोलीरी,
ओंचीरी, धोंचीरी,
नाईरी, धोबीरी,
सोनीरी, लुहारी,
चोप चोप झड़जा।

इस प्रकार चोप निकालने वाली सात बार यह कह कर अंत में 'चोप-झड़े-आँख ठरै,' कहती है और चोप निकलवाने वाला उसे हर बार यही उत्तर में कहता है—'झड़े।'

ऐसा विश्वास किया जाता है—इस प्रकार से आँख की पीड़ा जो एक विशेष प्रकार से होती है, ठीक हो जाती है।

रोंई झोंई

कभी-कभी ऐसा भी होता है कि शहर से बाहर ३-४ मील दूर अक्सर मेलों आदि में स्त्रियों को जाना होता है। छोटे-छोटे बच्चों को घर पर तो नहीं रखा जा सकता अकेले में (सम्भव है २-३ वर्ष वाले बच्चों के लिए ही ऐसा कुछ किया जाता हो)—उन्हें भी साथ लेना ही होता है। उस समय जब औरतें मेले आदि से वापस शहर में आती हैं तो शहर के प्रमुख-द्वार पर अथवा उस दरवाजे के बाहर जहाँ से पहिले गमन किया होता है—वहीं बैठ जाती है। वहाँ से सात छोटी-छोटी पत्थर की कंकरी लेती हैं। बच्चे के सिर के ऊपर से उन्हें सात-बार घुमाकर हवा में ऊपर को फेंक देती है, यह कहती हुई—

"रोंई झोंई
रोवणियां रींकणियां लारै,
हसणियां, कूदणिया आगै।"

ऐसा विश्वास है कि यदि इस तरह नहीं किया जाय तो बच्चा घर आकर फिर रोता ही रहता है। वह चुप नहीं होता जब तक उसे शहर के बाहर ले जाकर उस पर 'रोंई-झोंई' र की जाय

और वह व्यक्ति यदि छोटी-उम्र में हो, तो उसका तीसरा विवाह भी सम्भव हो जाता है। ऐसे मौके पर उस तीसरी पत्नी को 'गूजर' की संज्ञा दी जाती है।

'गूजर' के साथ विवाह हो जाने पर भी व्यक्ति-विशेष को एक प्रकार का भय-सा लगा रहता है, कहीं यह भी न मर जाय! अतः विवाह कर लेने के बाद वह अपने घर में प्रविष्ट होने से पूर्व इस प्रकार का 'टोटका' करता है। वर अपने दुपट्टे का छोर उस 'गूजर' के रंगीले सालू से बाँधे घर के मुख्य दरवाजे पर आकर ठहर जाता है। फिर उस 'गूजर' के सिर पर दो-तीन छोटे पानी के भरे बर्तन रख दिए जाते हैं। कन्या पक्ष से एक औरत 'गूजर' की ओर से बोलती है :—

कोई लो भई, कोई लो दई,
कोई लो गूजर मटकाळी।

और वर उसके उत्तर में कहता है :—

हूं लूं भई,
हूं लू दई,
हूं लूं गूजर मटकाळी।

ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार का टोटका करने से व्यक्ति-विशेष की तीसरी पत्नी की मृत्यु नहीं होती।

ठीक इसी प्रकार के अन्य कई टोने-टोटके एवं लोक-विश्वास हैं, जिन्हें हम यहाँ विज्ञ पाठकों की जानकारी के लिए संक्षिप्त रूप में प्रस्तुत कर रहे हैं :—

छोटे बच्चे को पानी के घड़े अथवा मटकियाँ आदि जहाँ रखी रहती हैं, वहाँ नहीं ले जाते। ऐसा ख्याल है कि उसे वहाँ ले जाने पर टट्टियाँ लग जाएंगी। यह क्रम उसका मुण्डन-संस्कार न किया जाए, तब तक रहता है। यदि ऐसा कहीं असावधानी से हो जाता है कि वह भागकर, पानी की मटकियाँ जहाँ रखी हुई हैं, वहाँ पहुँच जाता है, तो उसे टट्टियाँ लगनी प्रारम्भ हो जाती हैं। इसका प्रतिकार घर के ऊपर से पानी निकलने की मोरी (Coutrlet) से अनाज उड़ेल कर किया जाता है। उस बच्चे के कपड़ों में बाजरी अथवा गेहूँ रात्रि में बाँधकर उसके सिरहाने रख देते हैं। और सुबह घर का कोई भी व्यक्ति चुप-चाप कोठे पर चढ़कर कुछ दाने तो चारों ओर हर दिशा में उड़ाता है और शेष को मोरी, जिसे हमारे यहाँ 'खाळ' कहते हैं, उसके रास्ते से नीचे आँगन में उड़ेलता है।

छोटे बच्चे को कहीं नजर न लग जाय, अतः माताएँ अनेक प्रकार के टोने-टोटके किया करती हैं। बच्चे के गले में घोड़े का खुर, जरख का दाँत, छोटा-सा चाकू मजबूत डोरे में पिरोकर पहना देती हैं। उसके काली-टीकी लगाते हैं और ललाट में एक किनारे पर काजल से चाँद बना देती हैं। बच्चे के दोनों हाथों में भी काजल की टीकियाँ लगा देती हैं। बच्चे को नजर लगने पर उसके ऊपर से रूई की बाती को घी अथवा तेल में भिगोकर सात बार घुमा-फिराकर उसे भीत पर चिपका देते हैं और बच्चे को उस ओर देखने के लिए कहा जाता है नजर लग जाने पर रोटी और एक लोटा पानी का भर कर उसे सात बार बच्चे पर

घोलकर (उसके सिर के ऊपर से घुमा फिराकर) बाहर चौराहे पर रोटी रख आते हैं और रोटी के चारों ओर एक गोल-वृत्ताकार कर दिया जाता है। नज़र के लग जाने पर नमक लेकर उसे सात बार बच्चे के सिर पर से घुमाकर अग्नि में जला देते हैं। नज़र लगने पर पीसी हुई लाल मिर्च भी इसी प्रकार सात बार बच्चे के ऊपर से घुमा-फिरा कर अग्नि में डाल देते है। इसी प्रकार नज़र लगने पर फिटकरी को सात बार सिर पर से घुमा-फिराकर उसे अग्नि में डाल देते हैं। फिटकरी के जल-भुन जाने पर उसे निकाल लेते हैं। फिर उसे अपने पैरो से कुचलकर बाहर गली में फेंक देते हैं। यह समझकर कि अमुक व्यक्ति की कुनज़र बच्चे पर लगी है, उसके पैर की धूल (स्त्री हो तो दायाँ और पुरुष हो तो सीधा पैर) लेकर उसे भी सात बार सिर के ऊपर से घोलकर अग्नि में फेंक देते हैं।

बच्चों के दाँत बड़ी कठिनाई से निकला करते हैं। अतः इस विश्वास से कि इन्हें कष्ट भी न हो और दाँत भी आसानी से निकल सकें, उन्हें हाथी-दाँत की चूड़ियाँ पहना देते है। बच्चों को कांच नहीं दिखाया जाता—ऐसा माना जाता है कि इससे उनके दाँत कठिनाई से निकलते हैं। बच्चे के मुँह में अँगुली भी इसीलिए नहीं डालते कि उसके दाँत कठिनाई से निकलेंगे। हाँ, यदि बच्चे की बूआ मुँह में अंगुली डाल दे तो बच्चे के दाँत आसानी से निकल जाते हैं, ऐसी धारणा है।

छोटे बच्चे अक्सर सूखने लग जाते हैं—वे सूखकर काँटा हो जाते हैं। हमारे यहाँ इसे "सूखणी-पड़ग्यी" कहते हैं। ऐसे मौके पर घर के ऊपर की छत पर दीवार के सहारे एक गोबर का पुतला (बच्चे के बराबर गोबर को तोलकर उतना ही बड़ा) बनाते हैं। ऐसा विश्वास किया जाता है कि जैसे-जैसे यह गोबर का पुतला सूखता जायगा, बच्चा बढ़ता जायगा। बच्चे को गुड़ के बराबर तोलकर, गुड़ गायों को दे देने पर भी बच्चे का सूखना बन्द हो जाता है, ऐसा भी विश्वास है। जंगल में 'खेजड़' के पेड़ की जड़, जो जमीन से काफी ऊपर को उठी हुई हो—बच्चे को उसके नीचे से सात बार निकालने से भी सूखे का रोग हट जाता है—ऐसी मान्यता रही है।

कभी-कभी बच्चों को 'पित्ति' (Articaria) हो जाती है। हमारे यहाँ 'पित्ति' को 'छपाका' कहते हैं। इसके निकल जाने पर बच्चे को बेसन की बनी हुई मिठाई खाट के सुराखों (सांखों) में से सात बार नीचे-ऊपर को लेकर खिलाते हैं। ऐसा विश्वास है कि छपाका इस प्रकार के टोटके से ठीक हो जाता है।

बच्चे की आयु बढ़े, वह लंबे वर्षों तक जीवित रहे, हर माँ-बाप की ऐसी मनोकामना रहती है। उसके गले में बूढ़े व्यक्ति के मरने पर उसके ऊपर से उछाले हुए रुपये-पैसों को लेकर उनमें सुराख बनाकर पहिनाते हैं।

कभी-कभी ऐसा भी देखा जाता है कि एक के बाद एक इस प्रकार व्यक्ति के कई बच्चे मर जाते हैं। अतः बच्चे के नाक में 'बुलाक' अथवा सोने की बाली डाल देते हैं। उसका नाम बहुत ही विचित्र एवं निम्न श्रेणी के व्यक्तियों के समान रख देते हैं। उसे नमक के बराबर तोलकर मोल ले लेते है किसी व्यक्ति को बेचकर उससे दुबारा पैसे देकर मोल ले लेते हैं उसे माँगे हुए कपड़े पहनाते हैं।

अधिक बच्चियाँ—लड़कियाँ ही लड़कियाँ पैदा होने पर उनका नाम 'धापी', 'शान्ति' आदि रखा जाता है। ऐसा विश्वास है कि इस प्रकार के नाम रखने पर बच्चियाँ फिर पैदा नहीं होतीं।

रजस्वला स्त्री द्वारा पापड़ों को बनते हुए देख लेने पर पापड़ बिगड़कर खट्टे हो जाते है। उन्हें सेंकने पर वे लाल रंग के हो जाते हैं—ऐसा विश्वास है।

गर्भवती स्त्री को ग्रहण में बाहर नहीं निकलने दिया जाता। वह चन्द्रग्रहण अथवा सूर्यग्रहण नहीं देख सकती। ऐसा विश्वास है कि उसके ऐसा करने पर ग्रहण की छाया से होने वाले बच्चे के पागल होने की सम्भावना रहती है। गर्भवती की भोजन-सम्बन्धी इच्छाओं पर समुचित ध्यान दिया जाता है। ऐसी मान्यता है कि यदि उसकी इच्छाएँ पूरी न की जाएँ तो होने वाली सन्तान के मुँह में से लार टपका करती है। यह विश्वास बड़ा ही बलग्रास कर चुका है कि गर्भवती यदि काले साँप को देख ले तो सांप अंधा हो जाता है। गर्भवती को बिच्छू आदि काटने पर एवं भूत, प्रेत आदि लगने पर उस पर झाड़ा अथवा मंत्र करने वाले का झाड़ा मंत्र खोटा हो जाता है। गर्भावस्था में किसी स्त्री के मर जाने पर ऐसा माना जाता है कि यह भूतनी ही होगी। यह अशुद्ध अवस्था में मरी है, उसकी सद्गति नहीं हो सकती। ऐसा माना जाता है। इसलिए उसकी अर्थी के पीछे काफी तादाद में राई उछाली जाती है। ऐसा विश्वास किया जाता है कि इसकी प्रेतात्मा न तो इतनी राई बटोर ही सकेगी और न हमारे घर में फिर से प्रविष्ट ही हो सकेगी।

नए गहने पहनने पर कहीं नजर न लग जाय इसलिए उन्हें काले-डोरे से बाँध दिया जाता है। नया मकान बनवाते समय भी नजर के भय के कारण उसके दरवाजों पर, खिड़कियों के किवाड़ों पर, गौखों पर, घर के छज्जों पर काले कपड़े की छोटी-छोटी पट्टियाँ बाँध देते हैं। खीर पकाते समय डर लगा रहता है कि दूध सफेद है और सफेद वस्तु पर हर किसी की कुदृष्टि पड़ सकती है। अतः खीर पकाते समय उसमें एक कोयले का टुकड़ा डाल देते हैं। गाय के बच्चा देने पर कहीं उसके दूध को नजर न लग जाय—उसके थनों को तवे की कलसम से काला कर देते हैं। दूल्हे को शादी के समय नजर न लग जाय इसलिए उसके ललाट में एक किनारे पर काजल से चन्द्रमा का आकार बना देते हैं।

विवाह के समय दूल्हा एवं दुल्हन को हाथ में लोहे की छड़ी, जिसे हमारे यहाँ 'गेडीयो' कहते हैं, दिया जाता है। यज्ञोपवीत के समय भी ऐसा उसे रखने का आदेश रहता है। ऐसा विश्वास किया जाता है, इस प्रकार की क्रिया से प्रेतात्माओं से किसी प्रकार के अनिष्ट होने की आशंका नहीं रहती। बच्चे को खाली झूला नहीं झुलाया जाता। ऐसा करने से बच्चे का पेट दर्द होगा—ऐसा विश्वास किया जाता है। रात्रि में भी बच्चे को झूले में नहीं सुलाया जाता।

रात्रि के समय घर में बाहर से मिष्ठान आदि नहीं लाया जाता। और यदि कभी सम्भव भी हो तो घर में लाने से पूर्व उसमें से हर मिष्ठान का थोड़ा-थोड़ा अंश तोड़कर बाहर फेंक देना होता है

जहाँ गधा लेटा हो उस स्थान पर चलने से पाँवों में 'सरणें'—एक प्रकार का मीठा-मीठा थकान के समान दर्द—चलने लगती हैं—ऐसा विश्वास किया जाता है।

बिल्ली द्वारा रास्ता काट देने पर आगे पाँव धरना लड़ाई को निमन्त्रण देना है। जूता फेंककर, फिर आगे पाँव रखना, इस दोष का प्रतिकार करते देखा गया है।

दीवाली एवं अक्षय तृतीया आदि शुभ-पर्व के दिन बिच्छू आदि का निकलना शुभ माना जाता है। इस दिन बिच्छू को मारा नहीं जाता—मिट्टी की एक हँडिया में गोबर, दही, शक्कर आदि डालकर उसे घर में ही रख दिया है। त्यौहार आदि समाप्त हो जाने पर उसे बाहिर छोड़ा जाता है।

राह चलते रुपया पैसा आदि का मिल जाना शुभ माना जाता है। उसे खर्च नहीं किया जाता—सम्भाल कर भीतर पेटी में रखा जाता है अथवा पूजा में रखा जाता है। चाँदी का इस प्रकार प्राप्त होना शुभ एवं सोने को अशुभ समझा जाता है। सोना मिल जाने पर उसे मन्दिर में भगवान को भेंट कर दिया जाता है।

घी का ढुल जाना अशुभ एवं तेल का ढुल जाना शुभ समझा जाता है।

स्याही की दवात का गिर जाना शुभ माना जाता है।

रसोई करते समय तवा हंसता हुआ दिखाई दे तो उसे शुभ समझा जाता है।

जूती का दूसरी जूती पर चढ़ जाना, कहीं यात्रा करनी होगी, ऐसा विश्वास किया जाता है।

हिचकी आने पर, ऐसा विश्वास किया जाता है, हमारा स्वजन प्रवास में हमें अवश्य याद कर रहा है।

हमने यहाँ कुछ जैसलमेर के लोक-विश्वाश थोड़े में रखे हैं। विज्ञ पाठक इससे सहज मे अनुमान लगा सकते हैं—ये सभी केवल अंधविश्वास मानकर अपेक्षित किए जाएँ, अथवा ये सभी अन्धविश्वास मूलक हैं, ऐसा ही नहीं है। इनमें लम्बी संख्या में बहुत से ऐसे भी हैं, जिन्हें स्वास्थ्य एवं विज्ञान की दृष्टि से सही माना जा सकता है। इन सब पर आज मनोविज्ञान एवं विज्ञान की दृष्टि से मूल्यांकन करना आवश्यक है। इस प्रकार के लोक-विश्वास सैकड़ों खोजने पर मिलते हैं। इन पर स्वतन्त्र रूप से लिखा जाना आवश्यक समझा गया है।

सोवियत संघ में बौद्ध संस्कृति एवं कला

•

उदय नारायण सिंह

•

बौद्ध धर्म एवं संस्कृति ने विश्व-सभ्यता के इतिहास के विकास एवं उत्थान में महत्व-पूर्ण योग दिया है। संसार का शायद ही कोई ऐसा देश हो जो इस धर्म एवं संस्कृति से किसी-न-किसी रूप में प्रभावित न हो। सोवियत संघ में भी बौद्ध धर्म एवं संस्कृति का प्रसार हुआ लेकिन वह भारत से प्रत्यक्ष रूप में नहीं, वरन् दूसरे देश के माध्यम से हुआ। रूस में बौद्ध धर्म बुर्यात-मंगोलियाई तथा तुविनियाई जनता के बीच लामा पंथ के अपने तिब्बती-मंगोलियाई रूप में प्रचलित है। बौद्ध धर्म का सोवियत मध्य एशिया में ईसवी सन् के प्रारम्भ से प्रचार हुआ, जबकि वह कुशान-साम्राज्य का एक अंग था। इस समय सोवियत संघ का कूवा नामक स्थान व्यापार एवं दस्तकारी का मुख्य केन्द्र था। कुशान राजा काडफिज, कनिष्क तथा वासुदेव के समय के सिक्के हाल ही में हुई खुदाई के दौरान सोवियत मध्य एशिया में प्राप्त हुए हैं। ये सिक्के उसी प्रकार के हैं, जिस प्रकार के उत्तरी भारत में पाये गये हैं। इनकी लिपि खरोष्ठी है। आज से दो हजार वर्ष पूर्व सशक्त कुशान-साम्राज्य में उत्तर भारत में गंगा नदी से लेकर आमू दरिया तक के भाग सम्मिलित थे, जो आज के उजबेकिस्तान से लेकर मथुरा तक विस्तीर्ण था। कलकत्ते से करीब ७५ मील की दूरी पर बर्दवान जिले के पांडु राजार धीबी के प्रागैतिहासिक स्थल पर कनिष्क की एक स्वर्णमुद्रा प्राप्त हुई है, जिसका वजन १२ ग्राम है। इसमें कनिष्क सैनिक वेश में लबादा पहने हुए है तथा मुद्रा में एक लम्बी तलवार तथा चतुर्भुज शिव का भी चित्र अंकित है। इससे स्पष्ट है कि कनिष्क के समय भारतीयों, ताजिकों तथा उजबेकों के पूर्वजों में घनिष्ट संबंध था और उजबेकिस्तान से लेकर बंगाल तक का सुविस्तीर्ण क्षेत्र एक ही बौद्ध संस्कृति, सभ्यता तथा राजनीतिक विचारधारा से प्रभावित था।

उजबेक गणराज्य के तरमेज स्थान पर सोवियत वैज्ञानिकों को खोज के दौरान प्राप्त सामग्रियों में एक बौद्ध मंदिर शामिल है। यह गुफा-मंदिर सम्राट् कनिष्क के समय निर्मित बताया जाता है, जबकि मध्य एशिया में बौद्ध धर्म के मानने वालों की संख्या अधिक हो गयी थी। कहने की आवश्यकता नहीं कि कनिष्क बौद्ध मतावलम्बी था और बौद्ध धर्म के सिद्धांतों के प्रति उसकी पूरी आस्था थी। तरमेज की विशाल कारा तेपेह पहाड़ी पर मध्य एशिया के बौद्ध ने तीन गुफाएं बनायीं जिनमें उन्होंने मंदिर तथा भिक्षुओं के निवास करने

के लिए वासस्थान बनाए। इन गुफा-विहारों का शिल्प निस्संदेह भारत से लिया गया था। तेप स्थित विहार का नक्शा तो बिलकुल वही है जैसा कार्ले (महाराष्ट्र) स्थित चैत्य भवन की तरह भारतीय चैत्य भवनों का। विहार की दीवारें अनेक नक्काशियों से सज्जित हैं, जो शैली तथा विषयवस्तु में गांधार कला से बहुत कुछ मिलती जुलती हैं। तरमेज नगर बैक्ट्रिया में बौद्ध धर्म का एक केन्द्र था। खुदाई में एक चट्टानी स्तंभ (जूट माल) की नीवें प्रकाश में आयी है, जो एक स्तूप से अधिक मिलती-जुलती हैं। इसके चौकोर खंभे, गोल खंभे, नक्काशीदार सजावटी पट्टियाँ गांधार कला का स्पष्ट प्रभाव लिये हुए हैं। गुफा के ऊपरी भाग पर मंदिर के अन्य भागों को तैयार कराया गया है। ये खुदाइयाँ सातवीं शताब्दी के चीनी यात्री हुएन-सांग के यात्रा-विवरणों की पुष्टि करती हैं, जबकि उसने भारत की यात्रा की थी। उसने यह लिखा है कि मध्य एशिया के तरमेज स्थान पर कई बौद्ध मठ मौजूद हैं, जहाँ कई हजार भिक्षु निवास करते है। खुदाई में अनेक कमरों, मंदिर में प्रवेश करने के दरवाजों तथा पवित्र अस्थियों की पूजा करने के अवशेष प्राप्त हुए हैं। मंदिर के उस भवन के भी अवशेष मिले है, जहाँ भगवान बुद्ध की प्रतिमा रखी जाती थी। यहाँ पत्थर की खुदाई पर गौतम बुद्ध के जीवन से एक दृश्य अंकित है। पट्टी के ऊपरी भाग पर पलथी मारे बुद्ध की मूर्ति अंकित है। यह आसन गांधार कला का एक सामान्य आसन है। पूरी प्रतिमा शांत एवं सौम्य है। मंदिर की दीवालों पर गांधार शैली की चित्रकारी के, जो कुशान राजाओं के समय प्रचलित थी, चिन्ह मिले हैं। पुरातत्ववेत्ताओं का ऐसा अनुमान है कि मंदिर आज से २ हजार वर्ष पूर्व आये भूकम्प में नष्ट हो गया होगा। मंदिर के एक कमरे में एक भिक्षु के अस्थिपंजर प्राप्त हुए हैं, जो भूकम्प में मर गया होगा। क्योंकि इसके ऊपर कई मिट्टी के घड़े तथा एक दीपक मिला है। इस मंदिर की आकृति एवं शिल्पकला वैसी ही है जैसी कि भारत एवं पूर्वी ईरान के मंदिरों की। बताया जाता है कि छठवीं शताब्दी में तुर्क काल में (५५७-६७३) उजबेक भाषा में बौद्ध सूत्रों का अनुवाद किया गया था।[1]

इतिहासकारों ने कनिष्क का काल-निर्धारण ईसा पूर्व प्रथम शताब्दी किया है। कुशान राजाओ के इतिहास ने इतिहासकारों का ध्यान अपनी ओर बराबर आकृष्ट किया है, क्योंकि इस काल में मध्य एशिया का भारत के साथ प्रत्यक्ष संबंध एवं सम्पर्क स्थापित हुआ था, जो लगभग ४ शताब्दी तक निर्बाध रूप में कायम रहा। कुशान राजाओं का शासन सबसे पहले मध्य एशिया में रहा और वहाँ से वे धीरे-धीरे दक्षिण की ओर बढ़ते गये। अंततः उन्होंने अपना आर्थिक तथा राजनीतिक केन्द्र भारत में कायम किया। उजबेकिस्तान में कुशान-काल के स्मारक प्राप्त हुए हैं। दक्षिण ताजिकिस्तान तथा पूर्वी तुर्कमानियाँ में कुछ कुशान-कालीन अवशेष प्राप्त हुए हैं। इसके अतिरिक्त सोग्दियन क्षेत्र, बुखारा, बाजार-कला के प्राचीन किले, आमू दरिया के दक्षिण तट पर स्थित आयाज कला, काराकोरम के मध्य में गीर कला तथा खोरेजम के अन्य भागों में भी कुशान काल के शिल्प तथा अवशेष प्राप्त हुए है, जो अत्यधिक महत्व के हैं। बिश्केन्त घाटी स्थित तुलहार्स शवदाह स्थल पर ३४८ शवागार प्राप्त हुए हैं, जिनकी खुदाई का कार्य हो चुका है और इन स्थानों पर अनेक बहुमूल्य सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं सोवियत इतिहासकार के मतानुसार तुलहास्क शवदाह स्थल ईसा

पूर्व प्रथम शताब्दी का होगा। इस खोज ने कुशान-काल के इतिहास के एक ऐसे समय पर प्रकाश डाला है जो अब तक अज्ञात रहा और जिसका भारत-सोवियत संबंधों से प्रत्यक्ष संबंध रहा है।[२]

कुशान शासन-काल के दौरान उत्तर भारत की गांधार कला-शैली अपने चरमोत्कर्ष पर थी, जो भारतीय सभ्यता की सर्वोच्च उपलब्धियों में है। गांधार कला-शैली भारतीय कला की स्थानीय परम्पराओं पर आधारित थी, जिस पर यूनानी बैक्ट्रियाई तथा यूनानी-रोमन कलाओं का भी कुछ प्रभाव था। यह कला-शैली कुशान-काल में बौद्धधर्म के प्रभाव में आकर और भी पुष्पित-पल्लवित हुई और इसे न केवल भारतीय क्षेत्र की जनता ने, वरन् सम्पूर्ण मध्य एशिया की जनता ने अंगीकार किया। मध्य एशिया में हुए पुरातत्वीय अनुसंधानों से अनेक ऐसे स्मारक मिले हैं, जो इस बात को प्रकट करते हैं। खोरेज्म में हुए पुरातत्व अनुसंधानों से तोप्राक काला (तीसरी तथा चौथी शताब्दी) की चित्रकलाओं में प्रारम्भिक अजंता की चित्रकला के स्पष्ट प्रभाव दिखायी पड़ते हैं, जिसकी संपुष्टि सोवियत इतिहासकार एस० पी० तात्सतोफ ने भी की है। खोरेज्म की मूल मूर्तियों में बंदर, हाथी आदि की जो मूर्तियाँ पायी गयी हैं, उन पर गांधार शिल्पकला का प्रभाव दृष्टिगोचर होता है। तात्सतोफ के अनुसार कुशान सम्राटों की सरकार ने काफी संख्या में सैनिकों को भारत से खोरेज्म में स्थायी रूप से निवास करने के लिए भेजा था। उनके वंशजो की अनुकृति का इस स्थान पर प्राप्त एक मूर्ति से परिचय मिलता है। खोरेज्म के सिक्कों पर स्वस्तिक के गोलाकार निशान अंकित है, जिससे प्रकट होता है कि तीसरी शताब्दी में भारतीय वंश के शासक इस क्षेत्र मे सत्तारूढ़ हुए थे।[३] किरगीजिया के पर्वतीय भाग स्थित कारावुल्क श्मशान भूमि में एक स्त्री की कांस्य प्रतिमा मिली है, जो एक हाथ बगल में लटकाए हुए है तथा दूसरा अपने नितम्ब पर रखे है। कटि रेखा से कुछ नीचे वह बँधी साड़ी पहने है तथा उसकी केश-राशि सिर से ऊपर तथा लटें कंधों पर बिखरी हैं। स्त्री दो चक्रों वाला मुकुट, एक लम्बा कंठहार, हाथों में कंगन तथा पावों में पायजेब पहने हुए है। अब तक मध्य एशिया में भारत तथा सोवियत संघ के प्राचीन संबंधों से संबंधित कोई भी इस प्रकार की कलाकृति प्राप्त नहीं हुई है। सामान्य शैली, वस्त्र एवं केश-विन्यास आदि को दृष्टि में रखते हुए यह प्रतीत होता है कि यह मूर्ति भारत स्थित अमरावती के स्तूप तथा कन्हेरी के चैत्य-कक्ष में सजावट के लिए प्रयुक्त गांधार शैली की स्त्री-प्रतिमाओं के बिलकुल समान है।

दक्षिण उजबेकिस्तान में एतामि नामक स्थान पर प्रथम शताब्दी का एक बौद्ध मंदिर खोज में प्राप्त हुआ है। यह मंदिर उभरी हुई खुदाई की एक पट्टी से अलंकृत है। इसके मध्य में तीन संगीतज्ञों की मूर्तियाँ अंकित हैं, जो अशोक-पल्लवों द्वारा एक दूसरे से पृथक् की गयी हैं। इनमें से एक स्त्री ढोलक लिए हुए है, दूसरी एक बाँसुरी तथा तीसरी एक भारतीय वीणा। यह भव्य स्मारक लोगों का ध्यान बरबस अपनी ओर आकृष्ट कर लेता है। गांधार शैली की कलाकृतियाँ समरकन्द में प्राप्त हुई हैं, जिनमें बुद्ध को एक प्रस्तर प्रतिमा तथा ताँबे की एक बौद्ध प्रतिमा का विशेष रूप से उल्लेख किया जा सकता है। इनके अतिरिक्त कुशान काल के प्राचीन नगरों से छोटी-मोटी अनेक कलाकृतियाँ मिली हैं, जिनमें से प्रमुख खोरेज्म

की मिट्टी की बंदरों की आकृति से मिलती-जुलती मूर्तियाँ हैं। निस्संदेह ये मूर्तियाँ, विशेषकर हनुमान की प्रतिमूर्तियाँ, मध्य भारत से यहाँ लायी गयी होंगी। नर्तकियों की मूर्तियों के बारे मे भी यही कहा जा सकता है। 'मगर' भारतीय मूर्तिकला का एक विशेष विषय था, जिसकी अनुकृति भी हमें मध्य एशिया की कला में मिलती है। समरकन्द में प्राप्त मिट्टी की चतुर्भुजी की मूर्ति इस बात की द्योतक है कि भारतीय देवी-देवताओं के प्रति श्रद्धा एवं आस्था की भावना सुदूर सोवियत संघ में बहुत पहले पहुँच चुकी थी। मध्य एशिया के यूराल स्थित एक स्थान पर चांदी की तश्तरियों पर अंकित चतुर्भुजी देवी की मूर्ति मिली है। सोवियत विद्वानों के कथनानुसार यह चतुर्भुजी देवी मध्य एशियाई जनता द्वारा गांधार कला के नमूनों से ली गयी है।

मध्य एशिया के गिस्तारवादी स्थान पर दो प्रस्तर-स्तम्भों के शीर्ष भाग मिले है, जिनके चारों हिस्सों पर अनोखे पशु अंकित हैं। इनका शरीर सिंहों का है और इन पर अजदहों के पंख उत्कीर्ण हैं। पुरुषों की आकृतियाँ धोती युक्त हैं तथा स्त्रियाँ मालाएँ पहने, अपने हाथों में गागर लिये हुए हैं। यह स्तंभ पहली शती की गांधार कला (यूनानी-बौद्ध) के स्मारक हैं। इन स्तंभों के अलावा नोवोवाद ग्राम के पास खुदाई में मिट्टी के बर्तनों के टुकड़े तथा अन्य पुरानी सामग्रियां मिली हैं, जिनमें पहली शती के सिक्के भी हैं। इसी प्रकार उजबेकिस्तान में आमू दरिया के तट पर तीसरी शताब्दी का एक बौद्ध मठ एक गुफा के अंदर मिला है। यह मठ नदी के किनारे ही बनाया गया होगा। इस मठ के प्रत्येक मंदिर में एक-एक आंगन तथा इर्द-गिर्द बरामदे हैं। यहाँ भगवान मूर्ति के टुकड़े मिले हैं, जिनमें मेहराबों के नीचे खड़े लोग दिखाये गये हैं। इस स्थल पर जो सबसे महत्व की सामग्री मिली है, वह है दो प्रकार की लिपियाँ। पहली भारतीय काली स्याही से बर्तनों पर लिखी गयी है तथा दूसरी तीर्थयात्रियों द्वारा दीवारों पर लिखी गयी है। कुछ लिपियाँ ब्राह्मी तथा संस्कृत में हैं।

उजबेकिस्तान के ही पूर्वी भाग में स्थित फरगाना घाटी में कूया के खंडहरों में सोवियत पुरातत्ववेत्ताओं ने सन् १९५८ में एक नये बौद्ध मंदिर का पता लगाया। यहाँ की खुदाई में मानव की लम्बाई से दूने आकार की एक वृहद् मूर्ति का शिर मिला है, जो भगवान बुद्ध का है। यहाँ अन्य मूर्तियाँ भी मिली हैं। बताया जाता है कि ये मूर्तियाँ यहीं निर्मित एक मंदिर में थीं। सातवीं तथा आठवीं शताब्दी में कूया नगर अपनी उन्नति के शिखर पर था। सन् १९५८ में जो मंदिर पाया गया है उसका समय छठवीं शताब्दी बताया जाता है। मंदिर में प्राप्त आभूषणों की बनावट एवं मंदिर की शिल्प-कला उत्तर भारत के समान है। इसके चारों ओर चहारदीवारी थी और इसके पश्चिमोत्तर भाग में किलेबंदी की गयी थी, जिससे पता चलता है कि इसके समीप ही इस क्षेत्र में प्रशासक का निवास स्थान था। मंदिर के समीपवर्ती भागों में राजगीरों एवं शिल्पकारों के मकान थे। मंदिर नगर की घनी बस्ती में निर्मित था, जिससे पता चलता है कि इस नगर में बौद्ध मतावलम्बियों की संख्या अधिक थी। बताया जाता है कि यह मंदिर १६ वीं शताब्दी में चंगेज खाँ के आक्रमण से नगर के साथ ही नष्ट-भ्रष्ट हो गया। यहाँ

को निवास करने वाली जनता, शिल्पकार आदि आक्रमणकारियों की तलवार से मौत के घाट उतारे गये और नगर की सारी सम्पत्ति लूट ली गयी। इस प्रकार नगर की श्रीवृद्धि सदा के लिए लुप्त हो गयी और अब यहाँ इसके अवशेष ही इसकी प्राचीन समृद्धि एवं सुखद-स्मृति के रूप में वर्तमान हैं। उजबेकिस्तान में ही खुदाई में एक अन्य प्राचीन बौद्ध-मंदिर का पता चला है, जिसमें भगवान बुद्ध की मूर्ति अच्छी दशा में है। बताया जाता है कि आठवीं शताब्दी के प्रारम्भ में अरब के खलीफा द्वारा मध्य एशिया पर विजय प्राप्त करने के समय यह मंदिर जला डाला गया था। आग लगाने से मंदिर की दीवारें गिर गयी और उसके अंदर की सारी चीजें जमींदोज हो गयीं। वर्तमान समय में इसके ध्वन्सावशेष मिलते हैं। मंदिर की बुद्धमूर्ति के चेहरे तथा अन्य हिस्से अच्छी हालत में है। मंदिर के भीतर की सजावट के अवशेषों से मालूम होता है कि मंदिर की भीतरी छतें और दीवारें बहुरंगी चित्रों और सुनहरी लेप से अलंकृत थीं, जो इसकी उत्कृष्ट शिल्प-कला का परिचायक है।

आज से लगभग १ हजार वर्ष पूर्व सोवियत सुदूर पूर्व में, जहाँ इस समय उस्सरी तैगा का राज्य है, एक फलता-फूलता राज्य था, जो बोहाई के नाम से प्रसिद्ध था। प्राचीन चीनी इतिवृत्तों के अनुसार पूर्वी सागर के तट पर बसा बोहाई समृद्ध राज्यों में से एक था। यह विज्ञान और ज्ञान के प्रकाश से प्रकाशमान था। इसी राज्य के उस्सुरिस्क के दक्षिण-पश्चिम ५० किलोमीटर पर स्थित चार्योगोऊ नदी के निकट एक टीले की सोवियत पुरातत्ववेत्ताओं ने खुदाई की, जिसमें उन्हें बोहाई राज्य का पहला स्थापत्य सम्बन्धी स्मारक एक बौद्ध मंदिर मिला। मंदिर से थोड़ी दूर कुछ मकानों के अवशेष मिले हैं, जिनसे स्पष्ट है कि इस क्षेत्र में भी बौद्ध धर्म एवं संस्कृति का प्रचार था। किरगीजिया की चू घाटी में अकबेशियन के भग्नाव-शेषों की खुदाई में भी रूस के पुरातत्ववेत्ता लियोनिद किजलासोव को बहुत सी ऐतिहासिक महत्व की सामग्रियाँ प्राप्त हुई हैं, जिनसे भारत-रूस के पुराने सम्बन्धों पर प्रकाश पड़ता है। इस स्थान पर सातवीं-आठवीं शताब्दी का एक बौद्ध मंदिर मिला है। जिस स्थान पर यह मंदिर मिला है, वहाँ पर बसे एक प्राचीन नगर के भग्नावशेष मिले हैं। नगर के चारों ओर दोहरी चहारदीवारी—एक बाहरी तथा एक भीतरी—तथा रक्षा के लिए बुर्जियों के अवशेष उपलब्ध हुए हैं। नगर के शासक के किले के चिन्ह भी खुदाई में मिले हैं। यह स्थान कई शताब्दियों तक पहाड़ियों के नीचे दबा रहा। मंदिर कई मंजिलों का था, जिसका मुख भाग तथा प्रांगण मध्य कक्ष के नीचे थे तथा गर्भ गृह इसके ऊपर पश्चिम से पूर्व को जाने वाली ७६ मीटर की धुरी पर निर्मित था। गर्भ-गृह के प्रवेश द्वार पर दो ऊँची वेदियाँ थीं, जिन पर भगवान बुद्ध की मिट्टी की प्रतिमाएँ थीं। एक ओर बुद्ध मैत्रेय की ४ मीटर ऊँची विशाल प्रतिमा खड़ी थी। अब इस मूर्ति के टूटे हुए शरीर के कुछ अंश ही बचे हैं, जैसे—केश गुच्छ और पद्मा की छोटी सीढ़ियों पर बने चरण, जो ८० सेंटीमीटर लम्बे तथा ४० सेंटीमीटर चौड़े हैं। चरणों के ऊपर रंग किया हुआ है तथा पलस्तर की पट्टी है और उनके ऊपर मुक्तमालाओं से भरी थालियाँ रखी हैं। फर्श से थोड़ी ऊँचाई पर मूर्ति के सामने मिट्टी की बनी गोल बलिवेदी थी। दूसरी वेदी पर बुद्ध की बैठी हुई मुद्रा में मूर्ति है मंदिर के प्रांगण में तरंगुर्मों के पत्थरों,

बटखरों और सातवीं-आठवीं शताब्दी के सोग्दोय सिक्कों के सहित कागज पर मुहर लगाने के लिए हाथी की मूर्ति तथा सोग्दीय लिपि युक्त मिट्टी की मुहरें मिली हैं। इससे यह सिद्ध होता है कि प्रांगण पूजा करने वालों का विश्राम स्थल ही नहीं था, वरन् व्यापार और रुपये के लेन-देन का केन्द्र भी था। यहाँ बौद्ध न्यायालय के भी कायम होने के चिन्ह मिले हैं। जिस कक्ष में मुख्य धार्मिक पूजा-अर्चा की जाती थी, उसके फर्श की जली हुई मिट्टी में पिरामिड आकार के आधार पर खड़े आठ सुडौल समान आकृति के खंभों की नीवें मिली हैं। इस कक्ष की दीवालों पर बने भित्ति-चित्र, विनष्ट पलस्तर के छोटे-छोटे टुकड़ों पर हे। इसके अलावा प्राय: सभी नष्ट हो गये हैं। कक्ष सुन्दर पलस्तर की हुई उत्कीर्ण मूर्तियों से अलंकृत था अलकृत बोधिवृक्ष के अवशेष भी प्राप्त हुए है, जिसके बारे में बौद्ध विश्वासों के अनुसार कहा जाता है कि इसका विश्व की सृष्टि के समय सर्वप्रथम आविर्भाव हुआ था तथा प्रलय के सबसे अन्त में नाश होगा। इमारत की शिल्प-कला की कतिपय बातों के अनुसार ऐसा अनुमान किया जाता है कि मंदिर का निर्माण सोग्दियन उपनिवेशवादियों ने कराया होगा। ये छठवीं शताब्दी मे सेमीरेच्ये और पूर्वी तुर्किस्तान में घुस आये थे। नगर के मध्य भाग में हुई खुदाई से पता चलता है कि किसी समय अकबेशीय घाटी में व्यापार, दस्तकारी, कृषि और संस्कृति का विशाल केन्द्र था।

सोवियत किरगीज स्थित फुंजे से प्राय: ४० मील पूर्व आधुनिक नगर तोकयाक के समीप, जहाँ प्राचीन नगर अकबेशियन बसा हुआ था, आठवीं और नवी शताब्दी के बौद्ध मंदिर की हाल ही में खुदाई हुई है। इसकी मूर्तियाँ और दूसरी विशेषताएँ सुप्रसिद्ध गांधार और अजन्ता शैलियों जैसी हैं। चार वर्षों के भीतर इस क्षेत्र में यह दूसरा मंदिर खोज निकाला गया जिसमें भगवान बुद्ध और बोधिसत्व की मूर्तियों के अनेक खंड, भित्ति-चित्र, भास्कर्य संबंधी अलंकरण तथा वेदियाँ हैं। ताजिकिस्तान स्थित वाख्श घाटी में सन् १९६१ में हुई खुदाई में टीले के अंदर प्राचीन दुर्ग, महल, मकान तथा नगर के अवशेष प्राप्त हुए है। इस टीले का नाम अजीना तेपे (जादूगरनी या शैतान का टीला) है, जो केवल ६ मीटर ऊँचा है। इसमें एक बौद्ध मठ प्राप्त हुआ है, जो छठवीं से आठवीं शताब्दी के लगभग का है। मठ में कई बड़े हाल, बरामदे, भिक्षुओं के लिए कोठरियाँ, गलियारे आदि मिले हैं। मठ की दीवारों में सुन्दर चित्रकारी है, जिसमें पुरुष-स्त्रियों के भव्य चित्र हैं। उसमें अनेक ऐसे स्तंभ है, जिनमें मिट्टी की मूर्तियाँ स्थापित हैं। इनमें से एक भगवान बुद्ध की है। आंगन के मध्य में स्तूप मिला है और उसके चारों ओर लम्बे बरामदे तथा छोटे चौकोर कमरे हैं जिसमें पत्थर की भी मूर्तियाँ पायी गयी हैं। इस बौद्ध मठ से विदित है कि मध्य एशिया सातवीं शताब्दी तक भारतीय कला एवं संस्कृति के प्रमुख केन्द्र के साथ ही पड़ोसी देशों की कलाओं का भी एक प्रमुख केन्द्र हो गया था। इस स्थान पर खुदाई में ३६ फुट की एक बुद्ध की प्रतिमा मिली है। इतनी बड़ी मिट्टी की बुद्ध प्रतिमा अब तक मध्य एशिया में अन्य नहीं मिली है। इसी स्थान पर अन्य कई सुन्दर बुद्ध प्रतिमाएँ प्राप्त हुई हैं।

तुर्कमानियाँ में भी १३ मीटर के चबूतरे पर बना एक बौद्ध स्तूप प्राप्त हुआ है, जिसका निर्माण दूसरी शताब्दी के लगभग हुआ होगा इस स्तूप के सामने मिट्टी की बनी

एक विशाल बौद्ध प्रतिमा मिली है, जो अनेक रंगों में रंगी गयी है। यहाँ एक बुद्ध का शिर भी मिला है। इसी के पास मिट्टी के घड़े मे ताम्रपत्र पर लिखी पुस्तकों की पांडुलिपियाँ प्राप्त हुई हैं। इन बौद्ध मंदिरों की चित्रकला पर भारतीय चित्रकला के स्पष्ट प्रभाव हैं। उज-बेकिस्तान के समरकन्द नामक नगर के प्राचीन भाग अफरासियाव में खुदाई के दौरान भित्ति-चित्र मिले हैं, जिन पर स्नान करते और खेलते बच्चो, मछलियों, बतखों और समुद्री कछुओं के चित्र अंकित हैं। सोवियत संघ के एक इतिहासकार सोल्सतोफ ने बताया है कि चित्रो पर अजता की चित्रकला का स्पष्ट प्रभाव है। मृणमूर्तियों में भी खोरेज्म में प्राप्त बंदरों, हाथियों आदि की मूर्तियों पर गांधार शैली का प्रभाव है। इस काल में काश्मीर बौद्ध धर्म एवं सस्कृति का प्रमुख केन्द्र हो गया था, जहाँ से होकर मध्य एशिया का सम्पर्क था। कासगर मे एक बौद्ध बिहार था, जहाँ से मध्य एशिया से चीन के लिए यात्री आते थे। वह प्राचीन काल में बौद्ध धर्म का प्रमुख केन्द्र था और बौद्ध यात्रियों के मध्य एशिया एवं चीन जाने वाले मार्ग का संधि-स्थल था। हुए-न-सांग के समय कासगर में करीब १०० बौद्ध मठ थे, जिसके अवशेष कासगर के निकट तुमशुक में मिलते हैं।[४]

सोयिवत संघ में भारतीय पांडुलिपियाँ भी पर्याप्त मात्रा में मिली हैं। तुर्कमानियाँ के वेराम अली नगर से लगभग ८ मील की दूरी पर कुछ प्राचीन पांडुलिपियाँ मिली है, जो भोज-पत्रो पर हैं। ये भोजपत्र एक टीले में स्थित बौद्ध गुफा के अंदर प्राप्त एक वर्तन के अंदर मिले है। इनका समय पाँचवी शताब्दी बताया जाता है। यह पांडुलिपि ब्राह्मी में है। पर ऐतिहासिक महत्व की सामग्री लेनिनग्राद स्थित एशिया जनगरम संस्थान में रखी गयी है। रूसी प्राच्य-विद्या वेत्ताओं के अनुसार पांडुलिपि में सरस्वतीवादी समाज के नियम, धर्म तथा बौद्ध-भिक्षुओं के आचार-विचार अंकित हैं। मध्य एशिया में अब तक जो बौद्ध मठ प्राप्त हुए है, उनमें कारा-तेपे (तरभेज) का मठ सबसे बड़ा है। कारा-तेपे के निकट जांग-तेपे महल मे तथा अन्य स्थानों मे, जो शिलालेख अथवा मिट्टी के पात्रों में पांडुलिपियां मिली हैं, वे संस्कृत भाषा में और ब्राह्मी एवं खरोष्ठी लिपि में हैं। भोजपत्रों पर लिखी हुई पांडुलिपियों के जो अवशेष प्राप्त हुए हैं, वे अत्यन्त रोचक हैं। एक मिलीमीटर मोटे भोजपत्रों पर लिखी ये पाडुलिपियां स्पर्श करने से ही टूट जाती है, लेकिन वे स्पष्ट है। इसमें बौद्ध धर्म-ग्रंथों, यथा, त्रिपिटक के विनय सर्ग का एक अंश दिया गया है। इससे विदित होता है कि जांग-तेपे महल मे कोई बौद्ध धर्मोपदेशक रहा करता था।

वर्तमान समय में भी सोवियत संघ में बौद्ध धर्म एवं कला किसी-न-किसी रूप मे अवश्य कायम है। सोवियत संघ में बौद्धों का प्रधान धार्मिक केन्द्र 'सोवियत संघ की केन्द्रीय बौद्ध परिषद' है, जिसका मुख्य कार्यालय बुर्यात-मंगोलिया की राजधानी उलान उदे के निकट इवोलगा गाँव में स्थित एक बौद्ध मंदिर में है। सोवियत संघ की केन्द्रीय बौद्ध परिषद तथा बौद्ध धर्म के सुविख्यात नेता बांदो दो खाम्बो लामा लोबसन दर्मायेव बौद्ध धर्म की २५००वी वर्षगांठ के समय मई १९५७ में उपस्थित थे, जिन्होंने गुसीनूज्योस्कं के मठ में २५ वर्षों से ऊपर अध्ययन करके शिक्षा प्राप्त की यह परिषद् रूस में बौद्धों के समस्त धार्मिक कार्यकलापों

का निर्देशन करती है एवं समस्त बौद्ध भिक्षुओं तथा बौद्ध मतावलम्बियों को एक सूत्र मे आबद्ध रखती है। जहाँ कहीं आवश्यक होता है, यह मंदिर कायम करती है। देश के अन्दर समस्त बौद्ध मत का प्रतिनिधित्व करने वाली सरकारी संस्था बौद्ध परिषद् है। रूस में बौद्ध धर्म को मानने वाले सभी लोग मंदिरों अथवा अपने घरों में अपनी इच्छा के मुताबिक स्वतंत्रता के साथ पूजा तथा धार्मिक कृत्य करते हैं। सोवियत संघ में बौद्ध भिक्षुक बौद्ध मंदिरों में रहते हैं और परम्परागत अनुष्ठानों में भाग लेते हैं। प्रस्तुत स्थान पर सेन्टपिटसबर्ग (आज का लेनिनग्राद) विश्वविद्यालय के प्रोफेसर इवान पावलोविच मिनाएव द्वारा बौद्ध संस्कृति, धर्म एवं दर्शन की दिशा में किये गये प्रयत्नों का उल्लेख करना आवश्यक है। इस सुप्रसिद्ध विद्वान् ने १९वीं शताब्दी के अंत में तीन बार भारत की यात्रा कर भारत में बौद्ध पुस्तकों का प्रत्यक्ष अध्ययन एवं मनन किया। मिनाएव की सुप्रसिद्ध पुस्तक 'बौद्ध धर्म' है, जिसके पहले खंड के सिर्फ दो ही भागों का प्रकाशन वे अपनी मृत्यु से पूर्व कर पाये। मिनाएव की कृतियाँ आज भी सोवियत संघ एवं विदेशों में अत्यधिक उत्सुकता के साथ पढ़ी जाती हैं।

सन् १९४६ में सोवियत संघ में एक बौद्ध सम्मेलन हुआ था, जिसमें निर्धारित किये गये नियमों के अनुसार केन्द्रीय परिषद् तथा उसके अध्यक्ष को यह अधिकार प्रदान किया गया कि वह कड़ाई के साथ बौद्ध मतावलम्बियों से अपनी प्रतिज्ञाओं को पूरा कराये। परिषद् के अध्यक्ष बांदीदो खाम्बोलामा लोवसननीमा दर्मायेव शांति के लिए प्रयत्न करने वाले रूस के सक्रिय नेता हैं, जिन्होंने अब तक मास्को में आयोजित प्रायः सभी शांति सम्मेलनों में भाग लिया है। आपने विदेशों से रूस की यात्रा पर आये प्रायः सभी चोटी के नेताओं से भेंट की है तथा बौद्ध धर्म एवं विचारधारा पर वार्ता की है। मई सन् १९५६ से लेकर मई १९५७ तक भगवान बुद्ध की २५०० वीं वर्षगाँठ पर सोवियत संघ में विभिन्न समारोहों का आयोजन किया गया था। मंगोलियाई गणराज्य के खाम्बिन बौद्ध मंदिर में आयोजित सभा में रूसी बौद्धों के प्रधान बांदीदो खाम्बोलामा लोबसननीमा दर्यायेव ने इस मौके पर अपने संक्षिप्त भाषण में कहा था—'इस धर्म में विश्वास करने वाले व्यक्ति समाज के हित के लिए ईमानदारी के साथ काम करें ताकि सभी मानवजाति खुशहाल तथा सुरक्षा के साथ रह सके।'

सोवियत संघ के विभिन्न संग्रहालयों में भगवान बुद्ध से संबंधित ऐतिहासिक सामग्रियों का संग्रह किया गया है। प्राच्य-संस्कृति का मास्को संग्रहालय इस बात का जीता-जागता उदाहरण है। इस संग्रहालय में भगवान बुद्ध, अवलोकितेश्वर पद्मपाणि, मंजुश्री बोधिसत्व, वज्रधारा, बोधिसत्व मैत्रेय, तारा, कुबेर तथा अन्य के चित्र तथा मूर्तियाँ हैं। दूसरी कांसे की मूर्तियाँ अठारहवीं तथा उन्नीसवीं शताब्दी की शिल्पकला को उत्कृष्ट उदाहरण हैं। इस प्रकार हम देखते हैं कि सोवियत संघ में प्राचीन काल से लेकर आज तक बौद्ध धर्म, संस्कृति एवं कला का किसी-न-किसी रूप में अवश्य प्रचार रहा है। यह भारत तथा सोवियत संघ दोनों ही देशों के बीच आध्यात्मिक एवं दार्शनिक संबंध कायम रखने वाली एक सुदृढ़ कड़ी के रूप में वर्तमान है

संदर्भ संकेत

(१) राहुल साकृत्यायन कृत सोवियत मध्य एशिया पृष्ठ ९९ (२) ए० एम० मल्देल्शतम कृत 'नोमाड्स आन देयर वे टू इंडिया।' (३) बी० ए० लितवाइन्स्की का 'इंडिया एन्ड सेन्ट्रल एशिया' लेख 'सोवियत लैंड' फरवरी १९६३ (४) डॉ० प्रबोध चन्द्र बागची कृत 'इंडिया एन्ड चाइना' पृष्ठ १६३।

●

नामदेव की हिन्दी-पदावली की भाषा का स्वरूप

●

डॉ० राजनारायण मौर्य

●

संत नामदेव का काल ई० सन् १२७० से १३५० है। प्रमुख रूप से उनकी रचनाएँ मराठी हैं, किन्तु वे अपने जीवन के उत्तर-काल में पंजाब चले गये थे और उसी समय उन्होंने हिन्दी में रचनाएँ कीं। उनकी हिन्दी रचना सन् १३२५ और १३५० के बीच की है। उस समय मध्य देश (हिन्दी प्रदेश) में भाषाओं के विभिन्न रूप प्रचलित थे। संस्कृत और प्राकृत अब भी साहित्यिक भाषा थी, किन्तु यह जन-सामान्य से दूर, थोड़े से विद्वानों की बुद्धि-विलास की वस्तु रह गयी थी। शौरसेनी अपभ्रंश का साहित्यिक रूप भी प्रचलित था, जिसे जैन लेखक आदर्श अपभ्रंश मानते थे। शौरसेनी के परवर्ती रूप अवहट्ट भाषा में भी सिद्ध लोग रचनाएँ कर रहे थे। कीर्तिलता और सन्देशरासक इसी भाषा में लिखे गये। उस समय चारण शैली की भी एक भाषा प्रचलित थी जिसमें अवहट्ट और राजस्थानी का कुछ मिश्रण-सा था। इसे ही पिंगल भाषा कहा गया है। इसके अतिरिक्त देशी अपभ्रंशों से विकसित जन-भाषाएँ भी थीं, जो विभिन्न जनपदों में आधुनिक भाषाओं का निर्माण कर रही थीं। आधुनिक भाषाएँ बड़ी तेजी से अपभ्रंश के तत्त्वों को छोड़ती जा रही थीं और जनता की बोली के रूप को अपना रही थीं। इस काल की काव्य-भाषा में ब्रजभाषा के अंकुर दिखाई पड़ने लगे थे। विद्वानों ने ब्र का निर्माण-काल १५वीं शताब्दी माना है किन्तु यह तथ्य उल्लेखनीय है कि नामदेव ने चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध में ही में पदों की रचना की है

भाषा के इतिहास में चौदहवीं शताब्दी में रचित ब्रजभाषा की किसी अन्य रचना का प्रमाण नहीं मिलता। एक प्रकार से नामदेव ब्रजभाषा के सर्वप्रथम कवि हैं। इसमें कोई सन्देह नही कि नामदेव की भाषा में मराठी और खड़ी बोली के तत्व हैं, किन्तु यह बिलकुल स्वाभाविक है। ब्रजभाषा और खड़ी बोली पास-पास की भाषाएँ थीं और इनका विकास भी साथ-साथ हो रहा था। सामान्य लोग दोनों के मिले-जुले रूप का प्रयोग करते थे। सत नामदेव ने भी उसी रूप को चुना। मराठी उनकी मातृभाषा थी, जिसके कई शब्द और रूप उनकी हिन्दी-पदावली में सहज ही आ गये हैं। नामदेव के समकालीन अन्य कवियो की भाषा उतनी विकसित ब्रजभाषा नहीं है जितनी नामदेव की पदावली की। अन्य रचनाओ मे अपभ्रंश के तत्व काफी मात्रा में विद्यमान हैं। इसीलिए नामदेव को ब्रजभाषा का प्रथम कवि कहा जा सकता है।

नामदेव की हिन्दी पदावली की भाषा की कुछ सामान्य विशेषताएँ इस प्रकार हैं :—

नव्य भारतीय आर्य-भाषा की सभी ध्वनियों का प्रयोग है, किन्तु अन्य भाषाओं की तरह 'ष' और 'ऋ' ध्वनि का प्रयोग केवल परम्परागत है। उसका उच्चारण 'स' और 'रि' की तरह होता था। कुछ स्थानों पर ष के स्थान पर स और ऋ के स्थान पर रि का प्रयोग भी मिलता है। स्वर-विभाजन में कुछ भिन्न प्रवृत्ति दिखाई पड़ती है।

(१) एँ और ओं केवल शब्दान्त में मिलते हैं।
(२) अँ शब्दान्त में कभी भी नहीं मिलता।
(३) इँ ईं और उँ शब्द के प्रारम्भ में नहीं हैं।
(४) ईं स्वर जब भी शब्द के मध्य में होता है, उसके बाद सर्वदा नासिक्य स्पर्श व्यंजन आता है।
(५) स्वर संयोग में केवल इ ई उ और ऊ दूसरे सदस्य के रूप मे मिलते हैं।
(६) इ, ई और उ प्रथम सदस्य के रूप में बहुत कम आये हैं।
(७) ऊ प्रथम सदस्य के रूप में बिल्कुल ही नहीं आया है।
(८) स्वर संयोग के दूसरे सदस्य के रूप में उं केवल आ ई के बाद ही आया है।
(९) उँ दूसरे सदस्य के रूप में सिर्फ इ के बाद मिलता है।
(१०) ऊपर संकेतित अनुनासिक स्वरों के अलावा अन्य अनुनासिक स्वर, स्वर संयोगो मे नहीं प्रयुक्त हुए हैं।

व्यंजन-विभाजन के सम्बन्ध में नीचे लिखी बातें द्रष्टव्य हैं :—

(१) कोई भी शब्द व्यंजनान्त नहीं है।
(२) ण व्यंजन शब्द के प्रारंभ में कभी नहीं आया है।
(३) फ शब्द के मध्य में नहीं मिलता।
(४) श्र केवल एक शब्द के प्रारम्भ में मिलता है, अन्यत्र नहीं।

रूप रचना की दृष्टि से नामदेव की हिन्दी ब्रजभाषा के रूपों से बहुत साम्य रखती है। सभी नव्य भारतीय ——— की तरह इसमें भी दो वचन हैं। यद्यपि अधिकतर संज्ञाओं का रूप दोनो वचनों में एक ही है किन्तु उनके तिर्यक रूपों में बहुवचन का निर्देश स्पष्ट रूप से

प्राप्त होता है जैसे चन्दहि आँखिन स्वनहिं आदि। करण कारक के रूपों में भी इसी प्रकार का संकेत है। जैसे—भुवंगहि, भंवरहि, नैनों, लोगनि, संतनि आदि। कुछ स्थानों पर बहुवचन प्रगट करने के लिए अनेकतासूचक शब्दों का प्रयोग है। यथा, अन्धा लोग, जोगी जन आदि।

अ उ ऊ ओ और औ से अंत होने वाली संज्ञाएँ प्रायः पुल्लिग हैं तथा आ इ ई से अन्त होने वाली संज्ञाएँ स्त्रीलिंग। इसमें कुछ अपवाद भी हैं।

पुल्लिग से स्त्रीलिंग बनाने के लिए इ या ई प्रत्यय जोड़े गये है। जैसे :—

चींटा—पु० चींटी-स्त्री०

देव—पु० देवी-स्त्री०

भृंग—पु० भृंगी-स्त्री०

कहीं-कहीं 'नी' प्रत्यय भी मिलता है :—

जैसे—नट-पु० नटनी-स्त्री०

कारकीय प्रयोग दो प्रकार के हैं। प्राचीन रूपों का प्रयोग तो है ही, साथ ही नवीन रूपों का भी है। कुछ स्थानों पर संज्ञाओं के तिर्यक् रूप बिना कारक-चिन्हों के ही प्रयुक्त हुए हैं। स्पष्टता के लिये तीनों प्रकार के रूपों को अलग-अलग देखा जा सकता है :—

(१) प्राचीन रचनात्मक रूप :—

(अ) कर्ता कारक :—केवल पुल्लिग बहुवचन में—आन प्रत्यय है। जैसे—साहिबान।

(ब) कर्म कारक :— पुल्लिग बहुवचन में—हि प्रत्यय—जैसे—चन्दहि।

(स) करण कारक :—पुल्लिग एक वचन में—आ-ए-इ-ऐ और ना प्रत्यय। जैसे—मुखा, दाने, मुखि, नादै, करमना।

पुल्लिग बहुवचन में—नि प्रत्यय।

जैसे—नैननि, श्रवननि।

(द) संप्रदान कारक :—पुल्लिग एक वचन में –हिं तथा ऐ प्रत्यय—

जैसे—जमहिं, मनहिं, चितै, सोदै।

(य) अधिकरण :—पुल्लिग एक वचन में —इ-ऐ और-औ प्रत्यय—

जैसे—गालि, देवलि, सुरगै, गगनै, चरणौ।

स्त्रीलिंग एक वचन में—इ प्रत्यय—

जैसे -सरणि, दिसि।

कुछ स्थानों पर संज्ञाओं के तिर्यक रूप प्राप्त होते हैं जो एक विशेष कारक का काम करते हैं। अधिकतर रूप बहुवचन के हैं। जैसे—

कर्म कारक – बहुवचन—आँखिन।

करण कारक—बहुवचन नैननि

सम्बन्ध कारक बहुवचन—सन्तनि

सबसे अधिक प्रयुक्त रूप नीचे लिखे प्रकार के हैं

संज्ञा (मूलरूप) + तिर्यक पदग्राम (एकवचन या बहुवचन) + परसर्ग

इस प्रकार के कर्ता और कर्म कारक के रूप हो ही नहीं सकते। शेष इस प्रकार के है :—

करण कारक के लिए —ना,—ते,—तैं,—थै,—सो,—सौं,—सूँ,—सेती,

सम्प्रदान कारक के लिए———कूँ,—को,—कौ,—कारणि,—कारनि,
—लाग्यो,

स्त्रीलिंग——हेत,—काज,—लागी,—स्वारथ

अपादान कारक के लिए———थैं,—सन,

सम्बन्ध कारक के लिए———का,—की,—कूं,—के,—कै,—कौ,—केरे.—केरी,—
को,——चा,—ची,—चे,—ना,—नै,—नौ

अधिकरण कारक कें लिए—में,—मैं,—महि,—माहि,—माहीं,—मंझि,—मांझ
—मंझा,—मधे,—भीतरि,—मधि,—बीच, —पर,—
परि,—तलि

सर्वनामों के प्रयोग में विविधता है। नीचे के उदाहरणों से विभिन्न रूपों का परिचय मिलेगा :—

व्यक्तिवाचक सर्वनाम —

प्रथम पुरुष,-एकवचन—मैं, मोहि, मो, मोहीं, मम, मेरे, मोरी, म्हारै, मुझा

प्रथम पुरुष-बहुवचन—हम, हामा, हमारे, हमारी, हमारै आमचो, आमची

मध्य पुरुष-एकवचन—तू, तूं, तै, तोहि, तोको, तेरा, तेरी, तेरे, तेरो, तोरा, तुझ,
तुझा, तो

मध्यम पुरुष-बहुवचन—तुम, तुम्हथैं, तुम्हारा, तुम्हारी, तुम्हारो, तुमारे, तुमचो,
(आप, आब)

अन्य पुरुष-एकवचन—वो, सु, इनि, ताकी, ताकौ, वाको, तास, ताका, ताकी
ताको, तामें

अन्य पुरुष-बहुवचन—ते, वै, तिनि, तेन्हैं, तिन

संकेत वाचक सर्वनाम-एकवचन—इहि, इनकी, सो, सोई, ताहि

,, ,, ,, बहुवचन—ये, ते

अनिश्चय वाचक-एकवचन—को, कोइ, कोई, काहू, किनहू, केई, कोई, आन, और

,, ,, बहुवचन—सब, सबै, कुछ, अवर, और, सकल, अनेक, सबहिन

सम्बन्ध वाचक-एकवचन—जे, जो, जिनि, जु, जा, जाहि, जास, जाका, जहिका,
जाके, जाकी, जाकै, जाको, जेनहि, जाचै

,, ,, बहुवचन जिनि, जिन, जे, जोइ, जोई

प्रश्न वाचक— को, कोन, कौन, कोने, क्या, का, काय, कहा

विशेषण तथा क्रिया-विशेषण के रूपों में कोई विशेष उल्लेखनीय बात नहीं है किन्तु परसर्गों का प्रयोग अवश्य द्रष्टव्य है। चौदहवीं शताब्दी के पूर्वार्द्ध की इस भाषा में परसर्ग का अत्यधिक प्रयोग प्रारम्भिक हिन्दी की वियोगात्मक प्रवृत्ति का सूचक है। नामदेव की भाषा में निम्नलिखित परसर्ग प्रयुक्त हुए है —

अन्तरि, आगे, आगैं, काज, कारणि, तलि, नाई, निकटि, पर, बिच, बिचि, बिन, बिना, भाँति, भीतरि, मधि, मधे, महि, मंझि, मारे, माहि, माहीं, रहित, रहिता, लगि, लागि, लाग्यो, स्वारथ, संगि, संगे, सनमुष, सरि, सहित, सहिता, सा, सों, से, सौंह, सो, ही, हेत।

संयुक्त परसर्ग—के अन्तरि, के आगे, के निकटि, के मारे, की नाई, कै संगि।

नामदेव की हिन्दी भाषा में क्रिया के रूपों में काल (वर्तमान, भूत, भविष्य) भाव (विधि, अनिश्चय) वचन (एक-बहु०), लिंग (पुल्लिग, स्त्रीलिंग) और पुरुष (उत्तम, मध्यम, अन्य) का निर्देश मिलता है। इसके अतिरिक्त कृदन्त, प्रेरणार्थक, संज्ञार्थक क्रिया और सामान्य क्रिया के रूप अलग-अलग हैं।

वर्तमान काल के रूप दो प्रकार के हैं। पहला आर्यभाषा की पुरानी परम्परा से अपभ्रंश का विकसित रूप है। प्राचीन और मध्य-कालीन आर्यभाषा के क्रियारूपों में लिंग का कोई निर्देश नहीं है। वे पुल्लिग और स्त्रीलिंग दोनों के लिये प्रयुक्त हुए हैं। इसी प्रकार उत्तम और मध्यम पुरुष में कोई बहुवचन का रूप नहीं मिलता, जब कि अन्य पुरुष में दोनो अलग-अलग रूप प्राप्त होते हैं।

वर्तमान काल के लिए प्रयुक्त प्रत्यय और रूप ये हैं :—

उत्तम पुरुष-एकवचन ——उँ—ऊँ—ओं
जाउँ, कहऊँ जानूँ, पीऊँ, मांगों, डोलौं

मध्यम पुरुष-एकवचन ——अइ—ई—उ—ओ,—ये—सि,
धरइ, करइ, आई, फिरई, करउ, बसउ, बोलो
पहिरो, बोलिये, मरिये, करसि, गरसि।

अन्य पुरुष-एकवचन —— ऐ—ए—ई,—ही,
नाचै, पूजै, करे, बूड़े, भरई, लोई, फलही, करही।

अन्य पुरुष-बहुवचन —— ऐं—हिं,—हीं
करें, जानैं, मिलहि, बाजहिं, भजहीं, लेहीं।

दूसरा रूप है कृदन्तीय। क्रिया के इस रूपों में कर्ता के वचन और लिंग का संकेत होता है।

कृदन्तीय रूप निम्नलिखित हैं : —

पुल्लिग—देत, हसत, बसता, भरता,

स्त्रीलिंग—बहती, करन्ती

वर्तमान कृदन्त से बने क्रिया के वर्तमान काल के रूप वर्तमान कृदन्त के रूप से बिलकुल साम्य रखते हैं किन्तु संदर्भ और प्रयोग के आधार पर ये अलग पहचाने जा सकते हैं। वर्तमान

कृदन्त रूप प्राय: विशेषण की तरह प्रयुक्त हुआ है और उसी वाक्य में दूसरी क्रिया भी होती है। उदाहरणार्थ —

हरि नांव लेत मिटै सब पीरा।—वर्तमान कृदन्त

प्राण नाथ को नांव न लेता।—वर्तमान कृदन्त से बना
वर्तमानकालिक रूप।

भूतकाल की क्रिया में पुरुष का कोई निर्देश नहीं है किन्तु वचन और लिंग का निर्देश अवश्य है। भूतकालिक क्रिया के लिए चार प्रकार के प्रत्यय हैं :—

१— पुल्लिग

एकवचन	बहुवचन
—आ पोढ़ा, कहा	—ए, थाके, बैठे
—या गँवाया, रह्या	—ये पाये, बुलाये
—औ शंच्यौ, व्याहियौ	

स्त्रीलिंग

—ई बैठी-पूगी	=ई, पाई देखी,

२— पुल्लिग

—ला, राखिला, काटीला	—ले, छूटिले, मानिले
—लै, आणिलै, खेलिलै	

स्त्रीलिंग

—ली, मरैली, कहैली	×

३— पुल्लिग

—न्हा, कीन्हा, लीन्हा	×

स्त्रीलिंग

	—न्हीं, लीन्हीं, दीन्हीं

४— पुल्लिग

—ना, बिलाना, लुकाना	×

स्त्रीलिंग

—नी, जानी, समानी।

भविष्य काल के रूपों का भी निर्माण दो प्रकार से हुआ है। पहला विभक्त्यात्मक रूप है, जिसमें लिंग का कोई निर्देश नहीं है। वैसे इन रूपो का प्रयोग नामदेव की भाषा में बहुत कम है। उदाहरण नीचे दिये गये हैं :—

प्रथम पुरुष-एकवचन—औं, करिहौं, खाइहौं

अन्य पुरुष-एकवचन—ऐ, करिहै, पढ़िहै

दूसरा संयुक्त रूप है, जिसमें क्रिया का रूप तथा गा, गे, गी, गो प्रत्यय होता है। इसमें लिंग का निर्देश प्रत्यय द्वारा तथा वचन और पुरुष का निर्देश खुद क्रिया के मूल रूप में होता है जैसे प्रथम पुरुष एकवचन पुल्लिग

—गा जाऊगा सताऊगा

प्रथम पुरुष बहुवचन पुल्लिग—

—गे, जायेंगे, करेंगे

मध्यम पुरुष एकवचन पुल्लिग—

—गे, पछिताउगे, औतरोगे

—गो, तिरेगो, जाउगो

अन्य पुरुष बहुवचन पुल्लिग—

—गे, जाहिगे, धरेंगे

अन्य पुरुष एकवचन स्त्रीलिग—

—गी, जाइगी

इसके अलावा भविष्य के लिए एक तीसरा रूप भी मिलता है जो कई दृष्टियों से विचित्र है। इसमें क्रिया के मूल रूप में—ला प्रत्यय जोड़ा हुआ है। संभवतः यह मराठी भविष्यकाल के प्रत्यय—ल का प्रभाव है। मराठी मे करील, जाईल, राहील आदि रूप हैं। नामदेव की भाषा के कुछ उदाहरण ये हैं:—

करीला, खेलीला, गाईला, पाईला आदि।

पूर्ण वर्तमान की क्रियाओं के रूपों को भूत कृदन्त और होना क्रिया के वर्तमान रूप 'है' को संयुक्त करके बनाया गया है। जैसे —

लिये है, मिल्या है, धार्या है, भई है आदि।

इसका संकेत किया जा चुका है कि नामदेव की हिन्दी में संशयार्थक और विध्यर्थ दोनों रूपों में अन्तर मिलता है। ये रूप कर्ता के वचन और पुरुषों से प्रभावित होते है। सन्देहार्थ भाव के रूप इस प्रकार के हैं:—

प्रथम पुरुष-एक वचन— —ऊँ, आऊँ बिलमाऊँ

—औं, हेरौं, पूजौं,

अन्य पुरुष-एकवचन— —ऐ, आवै, पावै,

—ई, समाई, पाई

—उ, खाउ, जाउ

विध्यर्थ के रूपों का बहुत अधिक प्रयोग मिलता है। उनके रूप दो प्रकार के हैं:—

(१) —उ, मोचउ, छोड़उ, करउ

—औ, उठौ, सुनौ, गावौ,

—हु, करहु, देषहु,

—ओ, उतारो, आओ, छोड़ो

—व, आव, पाव,

(२) —इ, जपि, जागि, चेति

—ये गाइये मिलिये जाइये

—ऐ पीजै कीजै लीजै

क्रियार्थक संज्ञाओं का निर्माण निम्नलिखित प्रत्ययों से हुआ है

—ना, जाना, मारना

—णा, देणा, लेणा, तिरणा

—न, तिरन, सारन, सींचन

—नी, खपनी, रटनी,

—बौ, सुनिबौ, जपिबौ, कहिबौ

सहायक क्रियाएँ जो इसमें प्रयुक्त हैं, वे ये हैं :—

वर्तमान—है, हैं, होइ, होइबौ, होई, होत

भूत—होते, हुता, था, भया, भये, भयेला, भयो, भैला, हवा

एक अन्य प्रकार का रूप 'आछि' और 'आछै' का प्रयोग भी हुआ है।

कृदन्तीय रूप निम्नलिखित प्रकार के हैं :—

वर्तमानकालिक — —अ, अछत, लेत, करत

—आ, करता, लेता, चढ़ता

—औ, भरमतौ,

भूतकालिक— —आ, भूला, उभा

—या, उपज्या, बांध्या

—यौ, खरच्यौ, लख्यौ

पूर्वकालिक क्रिया की प्रकृति क्रियाविशेषण जैसी है और कर्ता या कर्म के वचन, लिंग या कारक से प्रभावित नहीं होती। इनका निर्माण इस प्रकार हुआ है :—

—इ, करि, बाँटि, निरखि

—ई, समाई, लगाई, फेरी

—ए, धरे, दे, ले,

—ये, लीये, दीये

—ऐ, ह्वै, कै

—यै, दीयै,

नामदेव की भाषा में संयुक्त क्रियाओं का प्रयोग बहुत अधिक संख्या में हुआ है। इनमें से मुख्य क्रिया या पूर्वकालिक क्रिया के रूप में या क्रियार्थक संज्ञा के रूप में या कृदन्त रूप में है। जिन संयुक्त क्रियाओं में पूर्वकालिक क्रिया मुख्य क्रिया या क्रियार्थक संज्ञा है उनमें पूर्वकालिक क्रिया में कोई परिवर्तन नहीं होता। वचन लिंग और काल का निर्देश गौण क्रिया द्वारा होता है—

पूर्वकालिक क्रिया मुख्य क्रिया है—

फिरि आवै, समझि, परी, करि आई

उतरि गैला, मिलि रहिया, करि जानौ

क्रियार्थक संज्ञा मुख्य क्रिया है—

खान लागी सीचन लागा, सारन लायो

ऐसे रूप केवल लगना गौण क्रिया के साथ ही मिलते हैं।

कृदन्तीय रूप मुख्य क्रिया है—

घूमत आया, आवती देखी, लहर्‌या जाइ, लर्‌यो जाई।

नामदेव की हिन्दी में कुछ प्रयोग ऐसे हैं जो रूप और अर्थ दोनों में विशिष्ट हैं। कई शब्दों का ऐसे अर्थों में प्रयोग हुआ है जिन अर्थों में वे सामान्यतः प्रयुक्त नहीं होते। इसी प्रकार कुछ प्रयोग व्याकरण और रचना की दृष्टि से विशिष्ट हैं। शब्दावली के कुछ उदाहरण ये हैं:—

अधिकाई—विशेषता	रजबल—राज्यबल
कविलास—कैलाश	रैनी—रहनी
करवा—शरीर	वरलणी—आज्ञाकारी
कापट—कपट	सायर—सागर
कालकुष्ट—विष (कालकूट)	सोवनी—स्वर्णिम
गोठि—मित्रता (गोष्ठि)	अछता—रहते हुए
चन्दल—चन्द्र	चौघला—देखना
जलहरि—जलधर (तालाब)	थाया—जाना
तिरी—नाव	वषै—जलना
नाग—गांठ	लाधो—प्राप्त करना
पयाना—लक्ष्य	बूठा—डूबना
पालिक—पालना	षपली—बिताना
पिछोकड़ि—पीछे	षेलै—व्यवहार करना
पूठि—पीठ	एकल—एक
पैज—दरवाजा	कृत्य—कृत्रिम
बीहो—बिठ्ठल	पेटाबलू—पेटू
भंजन—शरीर	भगरा—पागल
मनिषा—मनुष्य	सरजीव—जीवित
माषण—दूध	परहा—दूर
	अनन्तर—अन्यत्र

कुछ विशिष्ट व्याकरणिक रूपों का प्रयोग भी मिलता है। कई हिन्दी मूल शब्दों में मराठी का प्रत्यय जोड़ा गया है। मराठी का प्रत्यय-ला क्रिया का भूतकालीन प्रत्यय है किन्तु नामदेव की हिन्दी में इसे—लै बनाकर जोड़ा गया है। उदाहरणार्थ—

आँणिलै—आनना	जोइलै—तैयार करना
गुंथिलै—गूंथना	साजिलै—सजाना
खेलिलै—खेलना	मूँदिलै—मूँदना

कुछ स्थानों पर तो भूतकाल को प्रगट करने के लिए हिन्दी और मराठी दोनों प्रत्यय एक साथ लगाये गये हैं जैसे

आईला आई + ला (आया या आयी)

कटीला—काटी + ला (काटा या काटी)

समाईला—समाई + ला(समायी या समाया)

इसके साथ ही देली, बईठा, करिया, उघरिया आदि रूप भी कुछ विशिष्ट ही है।

नामदेव की हिन्दी में अरबी, फारसी, मराठी, गुजराती, राजस्थानी और पंजाबी के शब्द पाये जाते हैं। यह उनकी घुमक्कड़ी वृत्ति का ही परिणाम है।

भक्तियुगीन हिन्दी-काव्य में नारी भावना

अदूर आयसी

प्राय: विद्वानों की यह धारणा रही है कि भक्तिकाल में नारी की अत्यधिक उपेक्षा की गई है। नारी को माया समझकर भक्तियुगीन कवियों ने उसे निन्द्य तथा त्याज्य बताया है। इस कथन में सत्य का अंश तो अवश्य है किन्तु संपूर्ण धारणा सत्य नहीं है। इसको सिद्ध करने के लिए भक्तिकालीन चार धाराओं—सन्त, सूफी, कृष्ण तथा राम—पर अलग-अलग विचार किया जाएगा।

सन्त कवियों ने नारी की कल्पना मायारूप में की है। कबीर के दार्शनिक सिद्धान्तों में माया का विस्तृत वर्णन मिलता है। कबीर ने जहाँ सृष्टि की उत्पत्ति का वर्णन किया है, वहीं माया की उत्पत्ति का भी वर्णन किया है। उनके अनुसार प्रारम्भ में केवल एक निर्गुण या निराकार तत्व था, जब उसे सृष्टि करने की इच्छा हुई तो उसने सात श्रुतियाँ, पाँच ब्रह्म, एक निरंजन की उत्पत्ति की। सृष्टि की रचना के लिए निरंजन ने एक स्त्री की आवश्यकता समझी, जिससे ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश—तीन पुत्रों की उत्पत्ति हुई। निरंजन की अनुपस्थिति में वह ब्रह्मा पर ही अनुरक्त हो जाती है—

तब बरम्हा पूंछत महतारी,
को तोर पुरुस काकर तुम नारी[1]

माया उत्तर देती है

तुम हम हम तुम और न कोई,
तुम मोर पुरुस हम है तोर जोई।

इसी नारी को कबीर ने माया कहा है। यद्यपि पुत्र पर आसक्त होने वाली यह नारी सर्वथा त्याज्य है, किन्तु इसका त्यागना सरल नहीं। इसने समस्त संसार को अपने पंजे में कर रखा है—

एकै नारी जाल पसारा, जग में भया अँदेसा।
खोजत काहू पार न पाया, ब्रह्मा विष्णु महेशा।[2]

साधक के मार्ग में मुख्य दो वस्तुएं बाधक हैं कनक एवं कामिनी। इसी हेतु सन्त कवियों ने इन दोनों - कंचन एवं कामिनी—को त्यागने का उपदेश दिया है। यद्यपि मनुष्य ईश्वर का साक्षात्कार करने के लिए बारंबार प्रयास करता है तथापि इन दो बाधक वस्तुओं के कारण विरले ही व्यक्ति अपने गन्तव्य पथ तक पहुँच पाते हैं :

चलौं चलौं सब कोई कहै पहुँचा विरला कोय।
एक कनक एक कामिनी दुरगम घाटी दोय॥[3]

सन्तों की धारणा थी कि नारी की संगति ही दोषयुक्त है, क्योंकि भक्ति तथा ध्यान में सदैव वही बाधक ठहरती है :

नारी नसावै तीन गुण, जो नर पासै होय।
भक्ति मुक्ति निज ध्यान मे पैठ सके नहिं कोय॥[4]

उपर्युक्त कथन के उपयुक्त पोषक प्रमाण भी उपलब्ध होते हैं। कवियों का विचार है कि नारी की छाया मात्र से ही सर्प अन्धा हो जाता है तो जो व्यक्ति नित्य नारी के संपर्क मे रहता है, उसकी क्या दशा हो सकती है। इसका अनुमान सहज ही लगाया जा सकता है—

नारी की झाईं परत, अन्धा होत भुजंग।
कबिरा तिनकी कौन गति, नित नारी के संग॥[5]

सन्त-साहित्य में नारी का दूसरा पक्ष भी वर्णित हुआ है। भारतीय परंपरा के अनुसार सन्त कवियों ने अपने को नारी तथा ईश्वर को नर के रूप में कल्पित किया है। इसका कारण यह है कि भारती पद्धत्यानुसार सन्त-काव्य में माधुर्य-भाव की प्रधानता है। जिस प्रकार एक स्त्री के हृदय में अपने पति के प्रति श्रद्धा होती है।

वास्तव में यह बात तो आश्चर्यजनक ही प्रतीत होती है कि नारी की निन्दा करने वाले को भी अपनी मुक्ति के लिये नारी ही बनना पड़ता है। दाम्पत्य प्रेम के सहारे एक पति की अनुरागिनी नारी अपनी अभिलाषाओं एवं इच्छाओं को अपने प्रियतम के प्रति किस प्रकार व्यक्त करती है, उसमें अपने प्रियतम से मिलने की कितनी उत्सुकता है—इसका अनुमान निम्न पंक्तियों के आधार पर सहज ही लगाया जा सकता है :

तलफै बिन बालम मोर जिया।
दिन नहिं चैन रात नहिं निंदिया कर मोर किया[6]

इस नारी का विधिपूर्वक विवाह भी होता है जिसके लिये बारात माना वेदी का बनना तथा मंत्रोचार भी आवश्यक है :

दुलहिन गावहु मंगलाचार,
हमारे घर आए राजाराम भरतार ।[७]

सन्त काव्य में नारी की प्रेम त्याग तथा सहृदयता को स्पष्ट व्यंजना वहाँ होती है, जहाँ नारी अपने प्रियतम के वियोग में रोते-रोते नेत्रों में झांइ पड़ा लेती है, तथा जिभ्या जला लेती है—

आंखड़िया झाईं पड़ी पंथ निहारि निहारि ।
जीहड़िया छाला पड़्या नाम पुकारि पुकारि ॥[८]

इस नारी को रात में स्वप्न में उसका पति मिलता है। प्रेयसी अपने नेत्रों को बन्द किए रहती है कि कहीं उसका प्रियतम स्वप्न-भंग के कारण उससे विलग न हो जाय। नारी की सहृदयता-व्यंजक कितना स्पष्ट उदाहरण सन्त-काव्य में मिलता है –

सपने में साईं मिले सोवत लिया जगाय ।
आंखि न खोलूं डरपता, मतिसपना हो जाय ॥[९]

जब उस प्रेयसी की वियोगावस्था पराकाष्ठा पर पहुँच जाती है तो जायसी की नागमती की भाँति वह कह उठती है—

यह तन जारौ मसि करौ, लिखौ राम को नाउं ।
लेखन कारो करंक को, लिखि लिखि राम पठाउँ ॥[१०]

इस प्रकार सन्त काव्य में दो प्रकार के नारी चित्रण मिलते हैं। पहले के अनुसार नारी एक माया है, जो सर्वथा त्याज्य और निंद्य है। दूसरे प्रकार के चित्रण के अनुसार वह प्रेम एवं त्याग की साकार मूर्ति है। वास्तव में दोनों प्रकार के चित्रणों में नारी संबन्धी कल्पनाएं प्रतीक स्वरूप ही ग्रहण की गई है। ये दोनों प्रकार की भावनाएँ प्राचीन पद्धति के कारण आई है। यदि यह कहा जाय कि सन्त काव्य में नारी-निन्दा है, तो यह विचार भी एकपक्षीय है। इतना अवश्य है कि नारी माया के रूप में साधक के मार्ग में बाधा बन कर आती है, किन्तु वही अपने कुछ विशेष गुणों के कारण पुरुषों की अपेक्षा भक्ति की अधिक अधिकारिणी है। तभी तो सन्त-कवियों को ईश्वराधानार्थ नारी-रूप ग्रहण करना पड़ा।

सूफ़ी-काव्य का प्रेरणा-स्रोत फारस था, अतः भारतीय परम्परा के विरुद्ध पुरुष को आत्मा तथा स्त्री को परमात्मा माना गया है। किन्तु आश्चर्य की बात तो यह है कि नारी की कल्पना माया से भी की गई है। यह भावना भारतीय कल्पना से प्रभावित ज्ञात होती है। कुछ भी हो, नारी यदि एक ओर माया की प्रतिनिधि है तो दूसरी ओर ईश्वर की भी। जायसी ने इसी रूप को अपनी शब्दावली में इस प्रकार व्यक्त किया है :

तन चितउर, मन राजा कीन्हा, हिय सिंघल बुधि पदमिनि चीन्हा ।
गुरु सुआ जेहि पन्थ दिखावा, बिनु गुरु जगत को निरगुन पावा ।
नागमती यह दुनिया धन्धा बाचा सोइ न एहि चित बन्धा ।[११]

इस प्रकार सूफी-काव्य में दो प्रकार के नारी-चित्रण उपलब्ध होते हैं। इन पर हम यहाँ अलग-अलग विचार करेंगे।

नागमती को माया रूप में कल्पित कर जायसी ने यह दिखाना चाहा है कि नारी-रूप माया जाल में फँसा रहने वाला नराधम ईश्वर को नहीं प्राप्त कर सकता किन्तु गुरु की सहायता से ज्यों ही उसे ईश्वरानुभूति हो जाती है, वह नारी रूप माया को त्याग कर ईश्वराभिमुख चल पड़ता है। जायसी के पद्मावत में ही जब रतनसेन हीरामन तोते के उपदेश से जोगी बनकर चलने को उद्यत होता है तो नागमती भी उसके साथ चलने का आग्रह करती है, किंतु रतनसेन कहता है—

तुम तिरिया मतिहीन तुम्हारी, मुरुख सो जो मतैथर नारी।
राघव जो सीता संग लाई, रावन हरी कवन सिधि पाई ॥[१२]

नागमती अपने पति द्वारा तिरस्कृत होने पर भी उसके प्रति अगाध निष्ठा रखती है। नागमती के विरह की तो अति-सी हो गयी है। यही कारण है कि नागमती का विरह हिन्दी-साहित्य में अपना महत्वपूर्ण स्थान रखता है। नागमती जब काग से अपने प्रियतम को सदेश भेजती है तो उस समय उसकी विरहजन्य दयनीय अवस्था का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है।

सूफी काव्य में एक भारतीय नारी के त्याग का उत्कृष्टोदाहरण उपलब्ध होता है—

यह तन जारौ छार कै, कहौं कि पवन उड़ाव।
मकु तेहि मारग उड़ि परै, कन्त धरै जहँ पाँव ॥[१३]

नागमती अपने विरह से व्याकुल होकर पक्षी द्वारा संदेश भेजती है तो रतनसेन भी बिना प्रभावित हुये नहीं रह पाता। वह अपनी पत्नी की सहसा याद कर कहता है—

कहाँ सो नागमती तै देखी। कहेसि बिरह जस मनहि बिसेखी ॥
हौं सोई राजा भा जोगी। जेहि कारन वह ऐसि बियोगी ॥
जस तू पांखि महूँ दिन भरौं। चाहौं कबहि जाइ उड़ि परौं ॥[१४]

यह ठीक है कि कवियों ने नारी को माया के रूप में कल्पित करके उसे त्यागने का उपदेश दिया है, किन्तु जहाँ तक उसके नारीगत आदर्शों का संबन्ध है, वह सर्वथा सराहनीय है। यही नहीं, रतनसेन की मृत्यु के पश्चात वह सती हो जाती है। एक नारी का इससे उच्चादर्श और हो ही क्या सकता है।

सूफी-काव्य में नारी का दूसरा पक्ष भी उपलब्ध होता है—वह है पद्मावत जैसी आदर्श नारियों का चरित्र। जायसी ने पद्मावत का ईश्वर के रूप में कल्पित किया है। यद्यपि यह फारसी प्रभाव है तथापि नारी को ईश्वर के रूप में कल्पित करने से नारी सन्त-साहित्य में ही नहीं, अपितु सभी भक्तिकालीन परम्पराओं में अपना विशिष्ट और उच्चतम स्थान रखने लगी

महाकाव्य पद्मावत की रचना का कारण यही नारी है, जैसा कि जायसी ने स्वय लिखा है—

पद्मावत सिंहल के रानी । रतनसेन चित उर गढ़ आनी ।।
अलाउद्दीन दिल्ली सुलतानू । राघव चेतन कीन्ह बखानू ।।
सुना साहगढ़ छेका आई । हिन्दू तुरकन भई लराई ।। [५]

पद्मावत् का नख-शिख वर्णन प्रत्यक्षतः एक स्त्री का ही नख-शिख वर्णन है। हीरामन द्वारा उसके नख-शिख वर्णन को सुनकर राजा रतनसेन मूर्च्छित होकर गिर पड़ता है और वह पारलौकिक सुख का अनुभव करने लगता है। जब वह होश में आता है तो उसकी दशा अत्यधिक दयनीय हो जाती है। जिस प्रकार बालक जन्म लेते ही रो पड़ता है, क्योंकि वह आत्मा परमात्मा का एक अंश होने से कष्ट की अनुभूति करता है, ठीक उसी प्रकार से रतनसेन नख-शिख वर्णन को सुनकर परमात्मा के मधुर मिलन की मिठास का अनुभव करने लगता है :

जब भा चेत उठा बैरागा । बाउर जनौं सोई उठि जागा ।
आवत जस बालक जग रोआ । उठा रोइ हा ज्ञान सो खोआ ।।[१६]

भारतीय परंपरा के अनुसार प्रेम केवल रतनसेन में ही नहीं, पद्मावती में भी होता है, वह जब हीरामन से सुनती है कि राजा उसके लिये जोगी हो गया तब वह स्वयं चातक की भाँति दुखानुभूति करती है—

जब हुत कहिगा पंछि संदेसी । सुनिउँ कि आवा है परदेसी ।
तब हुत तुम बिनु रहै न जीउ । चातक भइउँ कहत पिउ पीउ ।।[१७]

चित्तौड़ में आने के पश्चात् नागमती और पद्मावत दोनों सुख से रहती हैं। दोनों मे विवाद हो जाने पर रतनसेन उन्हें समझाता है—

एक बार जेइ पिय मन बूझा । सो दुसरे सौ काहेक जूझा ।।
अस गिआन मन आवन कोइ । कबहुक राति कबहुँ दिन होइ ।
जूझ छांड़ि अब बूझहु दोऊ । सेवा करहु सेब पल होऊ ।।[१८]

इतना समझाने पर दोनों नारियाँ फिर कभी भी विवाद नहीं करतीं।

इस प्रकार सूफी-काव्य में नारी का स्थान बहुत महत्वपूर्ण रहा है। नारी प्रेम, त्याग एवं पति की आज्ञा के पालनार्थ सदैव प्रस्तुत ही नहीं रहती अपितु काव्य में तो वह पुरुषों की अपेक्षा अधिक गुणशालिनी भी कही गई है। जहाँ वह ईश्वर की प्रतीक बनकर आई है, वहाँ तो उसकी समानता करने वाला दूसरा रहा ही नहीं।

कृष्ण काव्य में इष्टदेव की भक्ति चार प्रकार की मिलती है। वात्सल्य, दांपत्य सख्य और दास्यभाव की भक्ति। इनमें सख्य और दास्य भाव की भक्ति का स्थान गौण है। वात्सल्य और दांपत्य भाव दो ही विशेष रूप से दृष्टिगत होते हैं। यद्यपि कृष्ण काव्य धारा के मुख्य प्रवर्तक सूरदास का बाल-वर्णन हिन्दी-साहित्य में अद्वितीय माना गया है तथापि

दाम्पत्य-भाव का वर्णन भी उच्च कोटि का है। इसी दाम्पत्य व माधुर्य भाव के संबन्ध में डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा लिखते हैं —"मनुष्य की विषयासक्ति और तज्जन्य काम भाव का सबसे अधिक तीव्र और घनिष्ठ रूप स्त्री-पुरुषों के परस्पर आकर्षण में होता है। अतः श्रीमद्भागवत् के सूक्ष्म संकेत के आधार पर तथा भगवद्गीता के काम भाव संबन्धी उपर्युक्त तथ्य सिद्धान्त के अनुकूल कृष्ण भक्तों ने दांपत्य रति का रूपक बांधा। इस संबन्ध में कृष्ण भक्ति के लिए सूरदास की देन अत्यन्त महत्वपूर्ण है।"[१९] आगे वे पुनः लिखते हैं—"श्रीमद्भागवत् में भी गोपियों के माधुर्य-भाव का क्रमिक विकास दिखाया गया है और यह व्यंजित किया गया है कि गोपियाँ अपने समस्त व्यक्तिगत संबन्धों में पति-पुत्र, बन्धु-बान्धव आदि की तिलांजलि देकर लोकापवाद और शास्त्रीय विधि-निषेध की तनिक भी चिन्ता न करके तथा अपने गर्व अर्थात् अहम् का सर्वथा नाश करके श्री कृष्ण की शरण में जाती है। अपने मन के सब गहरे कलुष-काम की वासना श्री कृष्ण के प्रेम में लय कर देती है तभी श्री कृष्ण उन्हें प्राप्त होते हैं और उन्हें विशुद्ध आनन्द की उपलब्धि होती है।[२०] इस प्रकार देखने से ज्ञात होता है कि गोपियाँ अपना सर्वस्व त्यागकर परमभक्ति की अधिकारिणी होती हैं।

कृष्ण-काव्य में सूरदास जी ने राधा को जीव तथा गोपियों को शरीर माना है। इसका परिणाम यह होता है कि संयोग तथा वियोग दोनों शरीर की भांति अपनी आत्मा राधा का अनुसरण करती हैं। इस दृष्टि से ये नारियाँ अपने प्रेम-प्रदर्शन में किसी से भी पीछे नहीं रहतीं। यहाँ एक उदाहरण दिया जा रहा है जिससे यह सिद्ध हो जाता है कि इन नारियों के हृदय में कृष्ण के प्रति कितनी प्रेम-व्यथा है। कृष्ण की माखन चोरी का समाचार जब गोपियों को मिलता है तो वे प्रेमोल्लसित होकर यह धारणा बना लेती हैं—

> **ब्रजबनिता यह सुनि मन हरषित, सदन हकारे आवै।**
> **माखन खात अचानक पावै, भुज भरि उरहि लगावै॥**[२१]

कृष्ण-काव्य में नारी को त्याज्य नहीं माना गया। एक तो उसे आत्मा का प्रतीक समझकर ईश्वर-प्राप्ति का साधन माना गया, दूसरे उसी के माध्यम से प्रेम-प्रदर्शन भी किया गया। यदि कृष्ण-भक्ति कवि नारी की निन्दा करते तो उनमें माधुर्य-भाव आ ही नहीं सकता था। इसी माधुर्य-भाव का एक उदाहरण लीजिए—

भौंरा और चक की डोरी का खेल खेलते समय जब कृष्ण और राधिका से भेंट हो जाती है उस समय दोनों में किस प्रकार से प्रेम-भाव का जागरण होता है, देखिये—

> बूझत स्याम कौन तैं गोरी।
> कहाँ रहति काकी है बेटी, देखी नाहिं कहूँ ब्रज खोरी॥

राधा उत्तर देती है—

> **काहे कौं हम ब्रज-तन आवति खेलति रहति आपनी पोरी।**
> **सुनति रहति स्रवननि नंद ढोटा, करत फिरत माखन दधि चोरी॥**

और इतनी बात के बाद ही —

> **'सूरदास प्रभु रसिक सिरोमनि बातन भुरई राधिका भोरी**[२२]

चीर-हरण, दान-याचन, रास-लीला आदि में नारी का स्थान महत्वपूर्ण है। चीर-हरण-लीला उनके आत्म-समर्पण की प्रारम्भावस्था है। गोपियों का सांसारिक पतियों का त्याग तथा कृष्ण के प्रति सहज प्रेम इन शब्दों से प्रगट होता है—

जान दै स्याम सुन्दर लौं आजु
सुनिहौं कंत लोक लज्जा तै बिगरत है सब काजु ॥[२३]

नारी-सुलभ स्वाभाविक गुणों के कारण ही इन गोपियों के स्वाभाविक गुणो का वियाग में अधिक विकास हुआ है। डॉ० हरवंशलाल शर्मा ने लिखा है—"संयोग की अपेक्षा वियोग शृंगार को साहित्यिकों ने अधिक उच्च स्थान दिया है, क्योंकि जहाँ संयोग मे प्रिय-सान्निध्य से प्राप्त सुख हृदय की अनेक सात्विक वृत्तियों को तिरोहित किए रहता है, वहाँ वियोग उन्हें उद्बुद्ध कर भावों के प्रसार के लिए समस्त विश्व का क्षेत्र खोल देता।"[२४] गोपियाँ ऊधो जी से कहती है –

ऊधौ इतनी कहियौ जाइ।
अति कृस गात भईं ये तुम बिनु परम दुलारी गाइ।[२५]

ये गोपियाँ जायसी की नागमती की भाँति इतना ही कहकर सन्तुष्ट नहीं हो जाती। उनके हृदय में तो अनेक अभिलाषाओं का खजाना भरा पड़ा है—

नैना भए अनाथ हमारे,
मदन गुपाल यहां ते सजनी सुनियत दूरि सिधारे।[२६]

इस प्रकार हम देखते हैं कि कृष्ण-काव्य में नारी हमारे सामने प्रेम, दया एवं त्याग की साकार मूर्ति के रूप में ही उपस्थित हुई है। यद्यपि सूफी-काव्य में उसकी निन्दा भी नहीं की गई है। कृष्ण-काव्य में नारी पुरुष की अनुचरी के रूप में आई है। यदि बिना पुरुष के नारी की कल्पना असंभव है तो बिना नारी के पुरुष की कल्पना भी एकांगी ही होगी। इसी तथ्य को यदि कुछ विस्तार देते हुए कहा जाय तो कहा जा सकता है कि बिना नारी की कल्पना के ईश्वर की कल्पना ही व्यर्थ होगी :—

राम-काव्य के मुख्य प्रवर्तक श्री रामानन्द जी थे। महाकवि तुलसीदास इन्हीं के शिष्य थे। इस परम्परा के कवियों में कृष्णदास पयहारी, लाल दास, प्रियादास कलानिधि आदि प्रमुख कवि थे। इस संप्रदाय में दास्य-भाव की उपासना सर्वाधिक मिलती है। शायद जितनी दास्य-भावना इस संप्रदाय में है, उतनी अन्य किसी संप्रदाय में नहीं। 'विनय पत्रिका' इसका ज्वलन्त उदाहरण है। उपर्युक्त कथन से स्पष्ट हो जाता है कि शास्त्रीय मर्यादा-प्रधान काव्यों में स्त्रियों का स्थान गौण होगा। दूसरे इस मर्यादा को काव्य में लाने के लिए लोक-रंजक पक्ष को दबाकर भगवान के लोकरक्षक पक्ष की स्थापना की गई। इसीलिए राम-काव्य में नारी का स्थान न तो जायसी के पद्मावत के ही समान हो सका और न सूर की राधा के ही समान। इस संप्रदाय के कवियों ने सन्तों की आत्माप्रधान नारी को भी स्थान न देकर उसकी घोर निन्दा की। इसका परिणाम यह हुआ कि जितनी नारी-निन्दा राम-काव्य में हुई उतनी शायद ही किसी अन्य काव्य में हुई हो

राम-काव्य में, यदि देखा जाय तो दो प्रकार की स्त्रियाँ मिलती हैं। उदाहरणार्थ रामचरितमानस में एक तो सीता, अनुसूया आदि आदर्श नारियाँ तथा दूसरे, शबरी इत्यादि निम्न कोटि की स्त्रियाँ मिलती हैं। यद्यपि सीता जी लक्ष्मी की अवतारस्वरूपा हैं तथापि उन्हे एक आदर्श नारी के रूप में चित्रित किया गया है। वे विद्या, माया का प्रतिनिधित्व करने वाली हैं। भगवान रामचन्द्र लक्ष्मण को माया संबन्धी उपदेश देते हैं—

गो गोचर जहँ लगि मन जाई। सो सब माया जानहु भाई ।।
तेहिकर भेद सुनहु तुम्ह सोऊ । विद्या अपर अविद्या दोऊ ।।[२७]

यदि यह मान लिया जाय कि विद्या माया का प्रतिनिधित्व करती हुई सीता जी हमारे सामने आदर्श नारी के रूप में आती हैं, तब भी आदर और सम्मान उन्हें इसलिए मिला कि वे पतिसेवा में रत हैं। यही बात अनुसूया के संबन्ध में भी कही जा सकती है। अनुसूया जी ने स्वयं इस बात को सीता जी से स्पष्ट शब्दों में कहा है—

सहज अपावनि नारि, पति सेवत सुभ गति लहइ।
जस गावत स्रुति चारि, अजहुँ तुलसिका हरिहि प्रिय।।[२८]

इस दोहे में यह कहा गया है कि नारी जाति स्वभावतः अपवित्र है। मुक्ति उसको तभी मिल सकती है जब वह पति-सेवा-संलग्ना हो। यह सिद्धान्त ईसाई धर्मानुयायियों से मिलता-जुलता-सा है।

श्री आदम और श्रीमती हव्वा के स्वर्ग से निकाल दिये जाने पर उनसे जितनी सन्तानों की उत्पत्ति हुई, वे सभी स्वभावतः अपवित्र हैं। उन सन्तानों के दुःख निवारणार्थ हजरत ईसा ने उनके पापों को अपने कन्धे पर लेकर अपने सिर का बलिदान कर दिया। अतः मनुष्य पाप से मुक्ति तभी पा सकता है, जब उसे हजरत ईसा की शरण मिले।

राम-काव्य में कहीं तो 'अधम ते अधम अधम अति नारी'[२९]—कहा गया और कहीं 'ढोल गँवार सूद्र पशु नारी। ये सब ताड़न के अधिकारी।।'[३०] कहकर उनकी घोर निन्दा की गई है। यह अधम शब्द यद्यपि शबरी के प्रसंग में आया है तथापि वास्तव में यह शबरी के लिए ही नहीं अपितु समस्त नारी जाति के लिए प्रयुक्त हुआ है। अतः इन विचारों के आधार पर राम-काव्य में नारी का स्थान निर्धारित करने में कोई विशेष कठिनाई न होगी।

यही नहीं, इस काव्य में नारी के प्रति सन्देहात्मक दृष्टिकोण भी मिलता है। श्री रामचन्द्र जी लक्ष्मण से वर्षा ऋतु की उत्कृष्टता का वर्णन करते हुए कहते हैं कि नारी स्वतन्त्रता पाकर कलुषित हो जाती है। श्री रामचन्द्र जी जैसे महान् पुरुष नारी की स्वतंत्रता के विरोधी हैं, जब कि आधुनिक युग में श्री मिल (Mill) के स्वतन्त्रता संबन्धी सिद्धान्त को मानने वाले नारी को अधिकाधिक स्वतंत्रता देने के पक्ष में है। उदाहरण के लिए श्री रामचन्द्र जी कह रहे हैं—

महावृष्टि जल फूटि किआरी। जिमि स्वतंत्र भए बिगरहिं नारी।।[३१]

यदि यह बात यहीं तक रह जाती तब तो कुशल था। नारी जाति को तो सन्देह की दृष्टि से भी देखा गया। श्री रामचन्द्र जी लक्ष्मण से कहते हैं

राखिअ नारि जदपि उर माहीं। जुबती सास्त्र नृपति बस नाहीं [३२]

श्री रामचन्द्र जी ने नारी को कामदेव का बल भी बताया है—

एहि के एक परम बल नारी। तेहि ते उबर सुभट सोई भारी॥[३३]

नारी के संमान का अन्त वहाँ हो जाता है जहाँ वह भाई, पिता पुत्रादि को कुदृष्टि से देखती है। शूर्पणखा के प्रसंग में काकभुशुण्डि जी कहते है—

भ्राता पिता पुत्र उरगारी। पुरुष मनोहर निरखत नारी॥[३४]

इस प्रकार यह ज्ञात हो जाता है कि नारी की जितनी निन्दा इस वर्ग के कवियो ने की है उतनी संभवतः किसी युग के किसी भी वर्ग के कवियों ने नहीं की। यदि नारी को परमगति की आवश्यकता हो तो रामभक्ति करना अनिवार्य है, जैसा कि रामराज्य का वर्णन करते हुए गोस्वामी तुलसीदास जी ने कहा है—

राम भगति रत नर अरु नारी। सकल परम गति के अधिकारी॥[३५]

ज्ञात होता है कि राम भक्ति कवियों ने नारी की निन्दा दिल खोल कर की है, जबकि कृष्ण-भक्त कवियों ने नारी को महत्वपूर्ण स्थान दिया है। सन्त-साहित्य में नारी की निन्दा करते हुए भी उसकी आवश्यकता का अनुभव किया गया था। सूफियों के काव्यों में नारी को ईश्वर के रूप में भी देखा गया है। नारी से कामक्रीड़ा को केवल पारलौकिक आनन्द-मात्र मानते हैं। निष्कर्ष रूप में संपूर्ण भक्ति-काव्य में नारी निन्दा उतनी नहीं हुई, जितनी कि लोग समझते हैं।

संदर्भ-संकेत

(१) कबीर वचनावली : अयोध्या सिंह उपाध्याय, पृ० सं० १९३ (२) वही, पृ० स० १९३ (३) कबीर ग्रन्थावली : डॉ० पारस नाथ तिवारी, पृ० सं० १७३ (४) वही, पृ० सं० २३२ (५) कबीर वचनावली : अयोध्या सिंह उपाध्याय, पृ० सं० १७ (६) वही, पृ० सं० २१३ (७) वही, पृ० सं० ४४ (८) वही, पृ० सं० १०७ (९) वही पृ० सं० १५३ (१०) कबीर ग्रन्थावली : डॉ० पारस नाथ तिवारी, पृ० सं० १४४ (११) जायसी ग्रन्थावली : संपादक प० रामचन्द्र शुक्ल, पृ० सं० २०१ (१२) वही, पृ० सं० ५५ (१३) वही, पृ० सं० १५५ (१४) वही, पृ० सं०१६२ (१५) वही, पृ० सं० ९ (१६) वही, पृ० सं० ४९ (१७) वही, पृ० सं० १३९ (१८) वही, पृ० सं० १९७ (१९) सूर मीमांसा : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० सं० १४७ (२०) वही, पृ० सं० १४७ (२) वही, पृ० सं० १५१ (२२) वही, पृ० सं० १५० (२३) वही, पृ० सं० १५१ (२४) डॉ हरवंश लाल शर्मा, पृ० सं० १२० (२५) सूर मीमांसा : डॉ० ब्रजेश्वर वर्मा, पृ० सं० १२० (२६) वही, पृ० सं० १२२ (२७) रामचरित मानस छोटा आकार गीता प्रेस गोरखपुर द्वारा संपादित, पृ० सं० ६१४ (२८) वही, पृ० सं० ६०२ (२९) वही, पृ० सं० ४३४ (३०) वही, पृ० सं० ५०१ (३१) वही, पृ० सं० ४५५ (३२) वही, पृ० सं० ४३६ (३३) वही, पृ० सं० ४३७ (३४) पृ० सं० ६०८।

तीन विषय तीन पुस्तकें | एक प्रतिक्रिया

मेरे सामने तीन विभिन्न विषयों की तीन विविध पुस्तकें हैं। वैसे तीनों के न तो लेखक ही समान हैं और न ही विषयों में कोई साम्य है पर तीनों ग्रन्थ अपने-अपने क्षेत्रों की गवेषणात्मक कृतियाँ हैं। पहली पुस्तक डॉक्टर सम्पूर्णानन्द कृत 'हिन्दू देव परिवार का विकास' है। दूसरी श्री रामगोपाल कृत 'स्वतन्त्रतापूर्व हिन्दी के संघर्ष का इतिहास' है तथा तीसरी किताब डॉक्टर वीरेन्द्र सिंह का शोधग्रन्थ 'हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास' है। ये तीनों पुस्तकें ही विभिन्न प्रतिष्ठित साहित्यिक प्रकाशन संस्थानों से प्रकाशित हुई हैं। पहली के प्रकाशक हैं मित्र प्रकाशन, प्रा० लि०, दूसरी के हिन्दी साहित्य सम्मेलन प्रयाग तथा तीसरी के हिन्दी परिषद, प्रयाग विश्वविद्यालय। पहली पुस्तक के प्रणेता देश के सुप्रसिद्ध नेता, ख्यात विद्वान्, निर्भीक चिन्तक एवं कर्मठ पत्रकार हैं। दूसरी के लेखक एक प्रख्यात पत्रकार हैं तथा तीसरी के शोध विद्यार्थी, जो अब प्राध्यापक भी हैं। तीनों पुस्तकों के चुनते समय मुझे हार्दिक प्रसन्नता थी कि इन्हें पढ़ने के समय विचारों के आदान-प्रदान का बहुत-कुछ सुअवसर मिलेगा। प्रथम दो पुस्तकों के सन्दर्भ में अवश्य ही ऐसा लगा पर तीसरे शोधग्रन्थ के समय कुछ अजीब-सी प्रतिक्रिया हुई, जिसकी चर्चा यथास्थान की जाएगी। इन तीनों पुस्तकों का यह क्रम इनके महत्व की दृष्टि से रखा गया है। पहली पुस्तक विद्वान् लेखक के गहन अध्ययन, मनन एवं चिन्तन का फल है। दूसरी पुस्तक हिन्दी भाषा के सम्बन्ध में एक ऐतिहासिक दस्तावेज है तथा तीसरी पुस्तक का महत्व इस बात में है कि हिन्दी विभागों में किस प्रकार शोधग्रन्थ तैयार करवाये जाते हैं इसका यह प्रतिनिधि उदाहरण है। अस्तु

हिन्दू देव परिवार का विकास

प्रस्तुत पुस्तक भारतीय विद्या भवन, बंबई के तत्वावधान में दिये गये अँग्रेजी के तीन भाषणों पर आधारित है। सम्पूर्णानन्द जी इस प्रकार के गहन, तात्विक एवं सांस्कृतिक विषयों पर प्रायः लिखते रहे हैं। 'आर्यों का आदि देश' जैसी समर्थ कृति पढ़ते समय भी मुझे यह लगा था कि विषय का निरूपण जिस सर्वांगीणता के साथ किया जाना चाहिए था, वैसा नहीं संभव हुआ। मेरी इस बात का यह अर्थ कदापि नहीं है कि सम्पूर्णानन्द जी विषय को पूरी तरह नहीं जानते, बल्कि एक पाठक के नाते मुझे उनसे यह शिकायत बराबर रही है कि उनकी राजनीतिक क्षिप्र गतिविधियों के फलस्वरूप जिस प्रशान्त भाव से इन विषयों पर लिखने के लिए वह समर्थ एवं सक्षम हैं, ऐसा वह प्राय. नहीं कर सके हैं। इसीलिए यह पुस्तक भी विवेचन की अपेक्षा व्याख्यापन अधिक लगती है। वैसे पुस्तक के तीन खंड हैं—वैदिक काल, पौराणिक काल तथा पुराणोत्तर काल। लेकिन यदि सम्पूर्णानन्द जी इस आधारभूत समस्या पर विस्तृत ग्रन्थ प्रणीत कर सकें तो उनका यह कार्य महान महत्व का सिद्ध होगा।

इस पुस्तक का मेरु विषय यह है कि हम आर्य या वैदिक से हिन्दू किस क्रम से हुए। इस विषय को इस पुस्तक में प्रमुख रूप से देव-भावना के विकास-क्रम के माध्यम से प्रस्तुत किया गया है। साम्राज्यों, सम्राटों के उत्थान-पतन की भाँति देवताओं का भी उत्थान-पतन सर्वदा होता आया है। तब प्रश्न यह उठता है कि ऐसा क्यों हुआ? संभवतः इस क्यों में ही सारा इतिहास, उसके कारण आदि निहित होते हैं। एक प्रकार से विद्वान् लेखक ने इतिहास की इस निर्मम-यात्रा की ओर हमारा ध्यान भी दिलाया है। पर कुल मिलाकर यह ग्रन्थ प्रश्न अधिक खड़ा करता है, उनका उत्तर अथवा कहें सटीक उत्तर अपने निष्णात रूप में कम ही देता है। पुस्तक की भूमिका में उनका मत है कि आर्य कहलाने वाले जो लोग थे वे किसी विशेष उपजाति के थे, इसका कोई प्रमाण उन्हें नहीं मिलता। बल्कि मानवीय आदिम यायावरी वृत्ति एवं भौगोलिक कारणों वश वे सप्तसिंधु में एकत्र हो गये थे। इसी प्रकार उनका कहना है कि सभी आर्यों की संस्कृति एक समान थी। ऐसा नहीं माना जा सकता। अलग-अलग समुदाय थे तथा वे कालान्तर में अलग अलग दिशाओं मे चले गये। साथ ही कुछ नागरिक आर्य थे तथा कुछ अनागरिक। अनागरिकों के लिए प्राचीन ग्रन्थों में 'व्रात्य' शब्द प्रयुक्त हुआ है। अतः नागरिक आर्य संस्कृति का इन व्रात्यों की घूमन्तु-संस्कृति का प्रभाव भाषा, आचार-व्यवहार एवं जीवन दृष्टि सब पर पड़ा। इन बातों का निष्कर्ष तब यह निकला कि आर्य संस्कृति को जिस रूप में हम जानते है उसमें भी वर्णसंकरता रही। अतः संस्कृति का आदि रूप भी शुद्ध नहीं कहा जा सकता। इस तथ्य को उन्होंने भाषा के उदाहरण से दिया है। लेकिन अच्छा होता कि इसके लिए और भी प्रमाण दिये जाते। वैसे इस बारे में प्रमाणों की कमी नहीं हो सकती है क्योंकि अनार्य, दास तथा घूमन्तु जातियों का परिचय तब के इतिहास में मिलता है। साथ ही भारतीय दर्शन के विकास में जो स्वविरोधी चिन्तन-पद्धतियाँ तथा हिन्दूतर चिन्तन मिलते हैं, उनसे भी इस बात की पुष्टि की जा सकती है जहाँ तक आर्य शब्द का अर्थ है, वह जातिवाचक इस

काल में नहीं था क्योंकि तबका मूलमंत्र था कृण्वन्तो विश्वम् आर्यम । अतः आर्य न केवल जन्मते ही थे वरन् दीक्षित भी किये जाते थे।

इसके साथ ही दूसरा गंभीर प्रश्न यह उठता है कि आर्यों का काल कौन-सा था? विदेशियों का मत नितान्त असंगत ही नहीं वरन् घोर पक्षपातपूर्ण है। वहाँ के क्या मैक्समूलर और क्या सार्त्र सबके सब ईसा रूपी सीमारेखा से इतने प्रताड़ित एवं प्रतिश्रुत होते हैं कि उन्हें ईसा पूर्व से सभ्यता को स्वीकारने में घोर कष्ट होता है। अस्तु, इसके विपरीत रूढ़िवादी के लिए वेद अनादि है। लेकिन वेदों का अध्ययन ज्योतिष के आधार पर करने पर ऋग्वेद की आयु, यदि पूरे की नहीं तो कुछ मंत्रों की आयु अथवा उन मंत्रों में उल्लिखित बातों की आयु दस से पन्द्रह हजार वर्ष पूर्व की सिद्ध होती है। इस सम्बन्ध में सम्पूर्णानन्द जी ने अपनी पुस्तक 'आर्यों का आदि देश' में अधिक प्रकाश डाला है। इस कालनिर्णय के बारे में प्रायः एक और पुस्तक का सहारा लिया जाता है और वह है—अवेस्ता। ऐसा समझा जाता है कि आर्यों और पारसियों के पूर्वज एक ही समुदाय के थे। ऋग्वेद एवं अवेस्ता की भाषा एवं उपास्यों में साम्य मिलता है। लेकिन मूल अन्तर दो बातों का है। एक तो इन्द्र को लेकर है तथा दूसरे असुर को लेकर है। अवेस्ता में असुर पूजा का प्राधान्य है। ईश्वर का सम्बोधन ही 'असुर महत' (अहुर मज्द) है तथा वह इन्द्र विरोधी है। अतः विद्वानों का अनुमान है कि देवासुर संग्राम संभवतः आर्यों और पारसियों का युद्ध था और उपरान्त पारसियों को तब यह देश छोड़ देना पड़ा हो। लेकिन देव और असुर शब्दों के प्रयोग में हमारे यहाँ किसी प्रकार की कट्टरता बाद में नहीं मिलती। देव और असुर कोई जातियाँ नहीं थीं बल्कि पदवियाँ थीं। दोनों में विवाह आदि सम्बन्ध विद्यमान थे। महर्षि कश्यप की विभिन्न पत्नियों से देव, असुर तथा मनुष्यों की उत्पत्ति बतायी गयी है। अतः सुर या असुर विशेषण जातिवाचक संज्ञाएँ न होकर गुणवाची विशेषण ही थे। रावण, बाणासुर, हिरण्यकश्यपु आदि असुर राजा थे। पर क्या कोई पुराणकार या रूढ़िवादी कह सकता है कि वे अनार्य थे? लगता है कि इन भारतीय तथाकथित असुरराजों से भी तथाकथित सुरों का कुछ सैद्धान्तिक मतभेद था। यद्यपि यह पारसियों जैसा उग्र तो न था पर कालान्तर में यह अवतारवाद के युग में देवताओं एवं राक्षसों के रूप में अभिव्यक्त होता है। जो हो, यह विषय अपने आप में स्वतंत्र एवं निष्पक्ष तथा निर्भीक चिन्तन, अध्ययन एवं शोध की अपेक्षा रखता है। तभी हम राम-रावण की कथा के धार्मिक रूप में से वास्तविकता को प्राप्त कर सकने में सक्षम होंगे। इतिहास को धर्म से पृथक करना होगा। अस्तु, वैदिक युग के इतिहास की कैसी भी रूपरेखा जानने के लिए हमें भारत के बाहर की भी जानकारी आवश्यक होती है। विशेषतः पश्चिमी एशिया का यह भाग जिसे एशिया माइनर के नाम से पुकारा जाता है। यह वह क्षेत्र है, जहाँ मध्ययुग के पूर्व तक प्राचीन अनेक लुप्तप्राय संस्कृतियों में धार्मिक युद्ध हुए। अनेक संस्कृतियाँ, धार्मिक दृष्टियाँ आपस में टकरायीं और कालान्तर में कुछ अवशेषों, ग्रन्थों, उल्लेखों को छोड़कर शेष हो गयीं। एक अर्थ में भारतीय वैदिक शाखा अधिक भाग्यवान सिद्ध हुई कि उसका लगभग एक क्रमागत इतिहास भले ही टूटा-फूटा सा है एशिया माइनर की इन टकराहटों का उल्लेख

वहाँ के खंडहरों से स्पष्ट है। साथ ही ईंटों पर लिखी गयी पुस्तकों के द्वारा ज्ञात होता है। ऐसी पुस्तकों में आर्यों की एक खिच्ची शाखा का उल्लेख मिलता है। इन खिच्ची राजाओं के पराक्रमों का उल्लेख तथा इनके उपास्य देवों से पता चलता है कि वैदिक देवों की व्यापकता कितनी अधिक थी। अभी इन सारे सूत्रों को जोड़कर कोई व्यवस्थित मत प्रस्तुत किये जाने की चेष्टा भारतीय विद्वानों के द्वारा कम हुई है। और यह तब तक संभव नहीं लगता जब तक कि भारतीय विद्वान अपनी मेधा, विवेक को काम नहीं लाते। पश्चिम जहाँ कई मामलों में हमारा सहायक है, वहाँ किन्हीं आधारभूत मामले मे निश्चय ही विरोधी ही नहीं, सबसे बड़ी बाधा है। इसका मूल कारण हमें समझना होगा कि आर्यों के मूलस्थान वाले प्रश्न को लेकर विशेषकर पाश्चात्य का मानस बहुत परेशान रहा है। वह भारत को यह श्रेय कभी नहीं देना चाहता अतः अनेक तर्क दिये जाते है। अपनी भूमिका में डॉ० सम्पूर्णानन्द जी ने कुछ तर्कों पर तर्कपूर्ण पद्धति से विचार भी किया है। इस एक बात का किसी के पास कोई प्रत्युत्तर नहीं है कि जब अवेस्ता, ईंटों वाले ग्रंथ तथा अन्य सारे स्रोत यही बताते हैं कि उनके आर्य कहीं से आकर वहाँ पहुँचे थे पर ऋग्वेद में कहीं बाहर से आने का न तो कोई संकेत ही है और न ही उल्लेख। अतः सम्पूर्णानन्द जी का कथन है कि यदि भारतीय आर्य भी कहीं से आये थे तो वह इतनी पुरानी बात हो गयी थी कि उसकी स्मृति तक नहीं रह गयी थी। फलतः भारतीय वैदिक संस्कृति का विकास करने का श्रेय सप्तसिंधु प्रदेश को ही प्राप्त है। सम्पूर्णानन्द जी ने एक और महत्वपूर्ण बात की ओर संकेत किया है कि पुराणों में उल्लिखित असुर एवं वैदिक असुरों में एक अंतर है, वह यह कि पुराणकालीन असुर कोई बाहरी व्यक्ति न थे तथा दोनों के उपास्यदेव एक ही थे। जबकि वैदिक सुरों-असुरों का मुख्य संघर्ष उपास्य देवों की प्रधानता को लेकर हुआ था।

एक कठिनाई वेदज्ञ लोगों के सामने प्रायः रही है कि वेद मंत्रों का लगभग सही अर्थ जानने के लिए किस शैली का अनुसरण किया जाए? कुछ लोग, जो वेद में इतिहास भी खोजना चाहते है, वे ऐतिह्य शैली का काम में लाते हैं, फलतः इन्द्र और वृत्र का संघर्ष केवल प्राकृतिक वर्णन न होकर ऐतिहासिक घटना को भी वर्णित करता है। दूसरी शैली यास्क की निरुक्त शैली है, जिसके आधार पर ऐतिहासिक उपाख्यानों का अर्थ प्राकृतिक वर्णन के रूप में ले लिया जाता है। तीसरी स्वामी दयानन्द सरस्वती जी की यौगिक शैली है, जिसके आधार पर वेदों में रूढ़ि शब्द नहीं हैं। इसके अतिरिक्त कुछ लोग वैदिक भाषा मे समाधि भाषा का प्रयोग मानते है। इस मत के अनुसार इस प्रकार के वाक्यों में योग की किसी अनुभूति का वर्णन है लेकिन कहने का मतलब कुल इतना ही है कि वेदों का अर्थ करते समय किसी एक शैली से पूरा अर्थ या तो साम्प्रदायिक हो जाएगा अथवा अनेक ऐतिहासिक तथ्य अन्धकार में ही पड़े रहेंगे।

भूमिका में एक और विचारणीय बात सम्पूर्णानन्द जी ने उठायी है, वह देव शब्द विषयक है। उनके मत से देवगण वस्तुतः और जीवों से भिन्न नहीं हैं। केवल अपने तप के द्वारा उन्होंने अपने को ऊंचे पद पर प्रतिष्ठित किया साथ ही यह पद भी नित्य नहीं है

अर्थात् देवयोगी भी कर्मों से शासित है देवाय मोक्ष नाचा न्त्र भी न्यी प्रकार के है—साध्य देव, काम्य देव। उपासना साध्य देवों की ही की जाती है। मुख्यतः यही उपास्य देव आर्यों के उपास्य थे तथा इसी सूची में कालान्तर में फेर-फेर परिवर्तन हुआ। इसी परिवर्तन को इस पुस्तक में विकास की संज्ञा दी गयी है। यह बात दूसरी है कि आया यह परिवर्तन सचमुच ही विकास स्वीकारा जाए अथवा न स्वीकारा जाए। स्वयं लेखक का इस बारे में कोई मत है या नहीं, इसे हम आगे देखेंगे।

यहाँ हमें एक और बात पर भी विचार कर लेना चाहिए। वह यह कि भारतीय सांस्कृतिक मनस को सम्पूर्णरूपेण समझने के लिए पुराणों का महत्व समझना अत्यावश्यक है। ऐसा कहा भी गया है कि 'आत्मा पुराणम् वेदस्य' अर्थात् पुराण, वेद की आत्मा है। स्वयं सम्पूर्णानन्द जी भी इस आप्तवाक्य को स्वीकारते हैं। मूल पुस्तक में उन्होंने जहाँ भी पुराणों का खण्डन किया है, वह उसके वर्तमान स्वरूप पर है। यह सम्भव है कि कभी पुराण इतने मूलरूप में बड़ा ही प्रामाणिक ग्रन्थ रहा होगा पर कालान्तर में इसका स्वरूप बड़ा ही विचित्र हो गया है। और जगह-जगह सम्पूर्णानन्द जी ने पुराणों के मिथ्यात्व को बड़े सटीक ढंग से प्रस्तुत किया है। पुराणकारों की मनोवृत्ति एवं आज के कम्युनिस्ट विद्वानों में उन्हें उद्देश्याग्रह की अहंता का सादृश्य दिखलायी देता है। जिस ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में इन पुराणों का निर्माण हुआ, वह भारतीय इतिहास के पतन का युग है। देश का केन्द्रीय स्वरूप नष्ट हो चुका था। एक राष्ट्रीय मनस का अभाव था। छोटे-छोटे प्रादेशिक, सांप्रदायिक, जातिवादी दायरों में भारतीय मनस कार्य कर रहा था। फलतः प्रत्येक पुराण एवं पुराणकार एक पंथ, एक देव के यशोगान में दत्तचित्त हो उठा। और अपनी इस हठधर्मिता में वह यह भूल गया कि अपने देव-देवी की स्तुति के साथ-साथ अन्य देवताओं को नीचा दिखा रहा है। अतः पुराणों का आदि लक्ष्य 'यतो धर्मस्ततो जयः' भ्रष्ट हो गया। और फलतः अनेक पंथ, देवी-देवता आदि में हिन्दू धर्म का विभाजन ही होता चला गया। लेखक का पुराणों के बारे में यह मन्तव्य विचारणीय है। इसे मात्र आक्रोश नहीं कहा जा सकता वरन् इस कटु विश्लेषण के पीछे तथ्यपरकता है।

वैदिक काल कब था? ऋग्वेद की आयु कितनी है? आदि प्रश्न सभी विद्वानों के लिए सिरदर्द रहे हैं। पाश्चात्यों के लिए तो बाइबिल का यह कथन कि ईश्वर ने ईसा से ६००० वर्ष पूर्व सृष्टि की रचना की, अतः उन्हें तो सारी मनुष्यता का इतिहास ही इन ८००० वर्षों में ठूँसना था। और चूँकि वह मिस्री सभ्यता को भारत से प्राचीन मानते हैं अतः भारत की संस्कृति अर्थात् वैदिककाल को ईसा से १५०० से २००० वर्ष देते हैं। क्यों का प्रश्न ही नहीं है। लेकिन इधर कुछ लोगों ने नये-नये ढंग से मंत्रों, श्लोकों का अध्ययन किया है, फलतः वैदिक काल के बारे में पता चलता है। एक बात तो निर्विवाद है कि वैदिक भाषा एवं काव्य का सौष्ठव सैकड़ों वर्षों की प्रगति एवं साधना के बिना संभव हो ही नहीं सकता। ऋग्वेद के प्रथम मंत्र में ही कहा गया है कि अग्नि की उपासना पूर्व के ऋषि भी करते थे और नये भी करते हैं। गीता में भगवान ने अपनी विभूतियों की चर्चा करते हुए कहा है कि मासाना मार्गशीर्षोऽहं ऋतूना कुसुमाकर और ज्योतिषशास्त्र के अनुसार

मार्गशीर्ष में वसन्तागम आज से २० सहस्र वर्ष पूर्व ही हुआ करता था। इसी प्रकार और भी उदाहरण देकर लेखक ने वैदिक काल की वास्तविक स्थिति बताने की चेष्टा की है। भौगोलिक स्थिति का वर्णन वेदों में उल्लिखित है, उसका भूगर्भ-शास्त्रीय उत्तर देते हुए उन्होंने सिद्ध किया है कि वेदों का तत्कालीन स्वरूप भले ही २०-२५ सहस्त्र वर्ष पुराना न हो, पर उसमें इतनी प्राचीन स्मृति तक सुरक्षित है।

पहले संकेत किया जा चुका है कि वेदों का अर्थ करना सहज काम नहीं है। अनेक बार बड़ी स्थूल बातों की चर्चा मिलती है। ऐसे समय प्रायः यह प्रश्न उठता है कि 'बल नाम के असुर ने गउओं को बंद कर दिया जिसे इन्द्र ने मार कर छुड़ाया।' जैसी बातें क्या कोई विशिष्ट अर्थ भी रखती हैं या केवल स्थूल घटना की सूचना भर हैं? इसीलिए मानना पड़ता है कि मंत्रों के द्रष्टा ऋषियों ने साभिप्राय समाधिभाषा का प्रयोग किया है। सत्य को सदैव सुगम भाषा में व्यक्त किया भी नहीं जा सकता तथा आवश्यक भी नहीं हुआ करता अतः यह विवेक पर निर्भर करता है कि कब और कहाँ कौन सा अर्थ लगाया जाए। यदि सर्वत्र गंभीर आध्यात्मिक अर्थ अभीप्सित नहीं होता तो सर्वत्र स्थूल अर्थ करना भी भूल है। वेद में योगी का गोप्य अनुभव भी है तथा साधारण बोलचाल भी। प्रायः ऋग्वेद में आये दार्शनिक आध्यात्मिक चिन्तन वाले मंत्रों को क्षेपक करार देते रहे हैं पश्चिमी लोग। जैसे, दशम मंडल में नासदीय एवं पुरुष सूक्त जैसे अनेक सूक्तों में दार्शनिक विचार किया गया है। इन्हें क्षेपक कह कर पश्चिमी विद्वानों ने तथा अनेक आधुनिक भारतीय लेखकों ने तोष कर लिया है। पर ऋग्वेद एवं दूसरे सारे वेदों में स्थान-स्थान पर स्पष्ट दार्शनिक चिन्तन मिलता है। तब भला किस-किस को क्षेपक कहकर काटा जाएगा? कहा गया है कि 'एकं सद्विप्रा बहुधा वदन्ति—पदार्थ तो वह एक ही है पर विद्वान उसे अनेक नामों से पुकारते है। वह मूल पदार्थ 'रूपं रूपं प्रतिरूपं बभूव' होता गया। सारा विश्व उसी पदार्थ का सत्तारूप है। जगत की रचना के आरंभ में ही वह एक तीन में विभक्त हुआ। एक देव में तीन हुए—अग्नि, वायु और सूर्य। अग्नि नीचे के भूलोक का, वायु बीच के भुवर्लोक का और सूर्य ऊपर के स्वर्लोक का संचालन करने लगा।

देवों की उत्पत्ति मनुष्य के यायावरी या आरण्य जीवन से निकल कर बसने की स्थिति की यात्रा है। उसी आदिम काल में प्रकृति की अनेक बातों की ओर सहज ध्यान गया होगा। तथा उनमें एक क्रम का बोध भी हुआ होगा लेकिन फिर भी अनेक बातें ऐसी रही होंगी, जैसे, जन्म, मृत्यु, बीमारी, अकाल आदि जिनके बारे में कोई पूर्वाभास नहीं हुआ करता। इस प्रकार देखा जा सकता है कि आरंभिक देवगण भी बिजली, बादल, सूर्य, अग्नि, मरुत आदि के रूप में विद्यमान हैं। इनकी अभ्यर्थना तथा इनसे भय उस काल से देखा जा सकता है। लेकिन इस पूजा भावना में उत्तरोत्तर विकास हुआ और वह यह कि बिजली या आग स्वयं उपासना की वस्तु नहीं हैं। कोई शुद्ध अदृश्य शक्ति है जो इन स्थूल वस्तुओं के माध्यम से कार्य करती है। इस प्रकार देव शब्द के अर्थ में क्रमिक विकास हुआ। स्थूल से सूक्ष्म की ओर यह प्रथम वैचारिक अपसरण था परन्तु क्रान्तिकारी कदम था। कोई भी शक्ति अपने शक्तिमान से पृथक संभव नहीं अतः कोई महापुरुष आदि सन्त है

जो इन विभिन्न प्रकृति-शक्तियों, उपादानों के माध्यम से स्वयं को अभिव्यक्त करता रहता है और यही देव है। लेकिन हमें यह बात स्पष्ट हो जानी चाहिए कि मानवीय विकास के जिस क्रम की तार्किक पद्धति खोजी गयी वह लगभग यही है कि मनुष्य जांगलिक से गुहावासी, शिकारी, गुल्मवासी, पत्थरयुग, धातु युग से होता हुआ सभ्य बनता चला गया। लेकिन यह भी ज्ञात होना चाहिए कि आर्य लोग ऋग्वेद के समय जिस समय इतिहास के मंच पर आते है उस समय जब वह यह सारी यात्रा जाने कबके पार कर चुके थे जबकि तत्कालीन पृथ्वी के अन्यवासी उसी आदिम स्थिति में थे क्योंकि ऋग्वेद में जिस आध्यात्मिक दर्शन की झलक मिलती है वह ग्वालों के गीतों से संभव नहीं।

मंत्रों के अर्थ के संबंध में बहुत कुछ कहा जा सकता है। विद्वान लेखक ने किसी भी अतिवादी पद्धति का पक्ष न लेकर मध्यम मार्ग की ओर बारंबार संकेत किया है, जो बहुत तर्कपूर्ण है। वेदों में देवों की संख्या ३३ बतायी गयी है—८ वसु, १२ आदित्य, ११ रुद्र, १ इन्द्र और १ प्रजापति। आगे चलकर 'देवता' शब्द पर विचार करते हुए इस शंका का समाधान किया गया है कि हिन्दुओं में क्यों और कैसे असंख्य देवताओं की कल्पना हुई। शक्ति के भेदों को देवता कहा गया है। चूंकि शक्ति के भेद अनन्त है अतः देवता भी असंख्य है। इसी संदर्भ में एक बहुत ही महत्वपूर्ण बात की ओर सम्पूर्णानन्द जी ने ध्यान दिलाया है। वह यह कि मंत्र, देखने में तो वाक्य, शब्दों का समूह होता है जिसका अर्थ सामान्यत व्याकरण और कोप की सहायता से निकाला जा सकता है परन्तु मंत्र मात्र इतना ही नही हुआ करता। मंत्र, शब्दों का ही नहीं प्रत्युत ध्वनियों का समूह माना जाता है। ठीक-ठीक उच्चारण करने से मंत्र के अक्षरों से जो संयुक्त ध्वनि निकलती है उसी में मंत्र का मंत्रत्व निहित हुआ करता है। अर्थ तो दूसरे शब्दों से व्यक्त किया जा सकता है परन्तु दूसरे शब्दो में वह ध्वनि नहीं मिल सकती इसीलिए मंत्रों का अनुवाद फलदायक नहीं माना जाता, अर्थबोधक भले ही हो। ध्वनि वह प्रतिक्रिया है जो कम्पन से हमारे मस्तिष्क में होती है। कम्पन भेद से ध्वनिभेद हो जाता है। संगीत के स्वर तो हवा में कम्पन का परिणाम हैं परन्तु कम्पन हवा तक ही सीमित नहीं है। जहां गति है वहां कम्पन है। गति ही कम्पन है। प्रत्येक गति, प्रत्येक कम्पन, प्रत्येक क्षेत्र हमारे अन्तःकरण में अपने को नाद, ध्वनि, शब्द रूप से व्यक्त करता है। सृष्टि के आरंभ में परमात्मा-पराशक्ति आत्मिक युगलतत्व में जो पहला क्षोभ हुआ वही 'प्रणव' कहलाता है। ऐसा माना जाता है कि जब कोई मंत्र ठीक विधि से कहा जाता है तो उससे पर्यावरण में जो कम्पन होता है उसका द्विधा प्रभाव होता है। एक ओर तो पाठ करने वाले के नाड़ि-जाल और मस्तिष्क को विशेष रूप से प्रभावित करता है दूसरी ओर शक्ति के सर्वव्यापी विशाल सागर को क्षुब्ध करके तरंगित करता है। वायुमंडल में मंत्र पाठ से जो क्षोभ उत्पन्न होता है वहाँ विशेष प्रकार की शक्ति वैसे ही प्रकट होती है जैसे जहाँ घर्षण किया जाता है वहाँ अग्नि उत्पन्न होती है। इसीलिए प्रत्येक वैदिक मंत्र के साथ विशेष देवता का निर्देशन दिया गया है यदि मंत्रपाठ में त्रुटि हुई तो मंत्रो हीन स्वरतो वर्णतोवा वाग्वज्र के समान यजमान को ही मार सकता है

वैदिक देव-परिवार मे अग्नि, प्रजापति, बृहस्पति, विष्णु, रुद्र, इन्द्र, मरुत, वरुण, अश्विद्वय, यम, कुबेर, देवियाँ और पतिगण आते हैं। ऋग्वेद का प्रथम मंत्र भी अग्नि के लिए है। अनेक दृष्टियों से अग्नि का स्थान बहुत उच्च है। वह हव्यवाहन है। इनको रुद्र से अभिन्न माना गया है। किसी भी अर्घ-अनुष्ठान के पूर्व उनसे इस प्रकार की प्रार्थना की जाती है --

अग्ने व्रजपते, व्रतं चरिष्यामि, तच्छकेयं तन्मे राध्यताम इदमहमनृतात्सत्यं मुपैमि।

प्रजापति हिरण्यगर्भ का नाम है। हिरण्यगर्भ वस्तुतः परमात्मा से अभिन्न हैं। प्रजापति ही विश्वकर्मा है। पर पुराण-काल में प्रजापति की भी दुर्दशा कर दी गयी और वह बेचारे मिस्त्री या घर बनानेवाले कारीगर के स्तर पर गिरा दिये गये। कृष्ण के आदेश पर सुदामा का घर बनाने पहुँचे थे। बृहस्पति के बारे में कोई स्पष्ट स्वरूप सामने नहीं आता, पर यही आगे चलकर देवों के पुरोहित बनाकर बैठाल दिये गये। विष्णु वेदों में 'इन्द्रस्य युज्यः सखा' माने गये हैं। इन्द्रपरज हैं; इन्द्र के साथ हैं। विष्णु के तीन पग चलने की अनेक जगह चर्चा है। विष्णु उपास्य हैं परन्तु उनकी उपासना सुकर नहीं मानी गयी है। रुद्र का रूप घोर भी है तथा सदाशिव भी। ये दोनों ही रूपों में वेदों में वर्णित हैं। लेकिन इन्द्र ही वेदों के प्रमुख देव हैं। इस प्रकरण में सम्पूर्णानन्द जी ने एक आधारभूत समस्या की ओर हमारा ध्यान दिलाया है। मैं अनेक वर्षों से इस बात को अपने में अंकुर रूप में देखता था, जिसकी ओर इस पुस्तक ने एक ऐसा प्रश्न खड़ा किया है जिसका उत्तर दिया जाना चाहिए। हम जानते है कि पुराण-काल में वैदिक देवताओं के क्रम, महत्व में घोर परिवर्तन किया गया। लेकिन इनमें भी इन्द्र के साथ जो व्यवहार हुआ, वह घोर आश्चर्यजनक लगता है। इस प्रकार का व्यवहार तो विधर्मी ही कर सकता था, वैदिक युग का सबसे जाज्वल्यमान मेधावी पुराण-काल में आकर क्यों और कैसे लम्पट, दुराचारी, भीरु, प्रपंची बना दिया गया, यह एक रहस्य है। पर यह ऐसा रहस्य है जिसका उत्तर दिया जाना चाहिए। इस महत्वपूर्ण समस्या की ओर ध्यान दिया जाना चाहिए। सम्पूर्णानन्द जी का कथन है कि इन्द्र को तो स्थान-भ्रष्ट कर दिया गया, उसका स्थान कोई अन्य न ले सका। राम, कृष्ण ऊपर उठे, परन्तु इन्द्र जैसा ओज, वीर्य, तेज, जिजीविषा उनमें नहीं है। ये दोनों दासता में जकड़े हुए निस्तेज हिन्दू को दुःख भुला देने में सहायक होते हैं परन्तु विजय का सन्देश नहीं सुनाते। आज का हिन्दू 'कर्ता राम करे सोई होय' कह कर रोता है। वह कर्ण की इस उक्ति से दूर चला गया है— दैवायत्तं कुले जन्म मदायत्तं तु पौरुषम्। देव ने जिस कुल में चाहा जन्म दे दिया परन्तु पौरुष मेरे हाथ की वस्तु है। इस दृष्टि से भक्ति आन्दोलन, वैष्णव सम्प्रदाय आदि को पुनः परखने की आवश्यकता लगती है। इन्द्र को छोड़कर हम स्वत्वहीन हो गये। 'स जनास इन्द्रः' 'लोगो! वह इन्द्र है' नामक मंत्र या उद्बोधन में इन्द्र की व्यापकता, महत्ता, तेज, वीर्य, सक्षमता दर्शनीय है। इन्द्र की महिमा में वेद अघाते नहीं दिखते उसी की भ्रूण हत्या पुराणकारों ने क्यों की? यह एक सांस्कृतिक हत्या है। इसका उत्तर दिया जाना चाहिए। इसी उत्तर में हमारा वह राष्ट्रीय व्यक्तित्व जो दबा हुआ है वह सामने आएगा मरुत का

पर्याय वायु है। इनका भी बड़ा ही व्यापक, विराट स्वरूप अंकित किया गया है। मरुत की भाँति ही वरुण भी अब जलदेवता बन कर उपेक्षित हैं। कभी इनका स्थान इन्द्र के बाद समझा जाता था। वैदिक देवताओं में सबसे उपेक्षित अश्विद्वय हुए। पुराणों में ये जुड़वाँ सहोदर हैं। देवलोक में चिकित्सक थे पर आयुर्वेद के आचार्यों में इनकी कोई पूछ नहीं है। वेदों में इन्हें नासत्य भी कहा गया है। वे वेदों में दीन-दुखियों की सहायता करने वाले परोपकारी जीव हैं। ऐसे परोपकारी देवों को भी हम भूल गये जो मनुष्य ही नहीं, जीव मात्र के लिए करुणावतार-वत् थे। यम का स्वरूप वैदिक युग में पुराण-काल से भिन्न था। इसी प्रकार कुबेर, जो अब यक्षों के राजा माने जाते हैं, पर वैदिक युग में वह महत्त्वपूर्ण थे। आज भी जब कोई वैदिक या अर्ध वैदिक कृत्य होता है तो कुबेर को प्रणाम वाला मंत्र पढ़ा ही जाता है। देवियाँ देवों से पृथक नहीं। पितरों के बारे में अनेक विभाजनों के द्वारा वर्णन की गयी है।

पुराण, वेदों के भाष्य कहे जाते हैं। वेदों में तथा बाद में उपनिषदों में सभी गंभीर एवं सात्विक विषयों पर विचार किया गया है, पर उनके संकेत भर हैं। पुराणों ने उन्हीं संकेतों को जनसुलभ करवाने का काम किया। पुराणों में सूर्यवंशी और चन्द्रवंशी राजाओं के अतिरिक्त अनेक वैदिक आख्यान चरित्रों के बारे में विस्तार से इतिहास बताया गया है, जैसे विश्वामित्र, शुनःशेप, पुरूरवा, सुदास आदि। यह कहना कि पुराणों ने इनकी सबकी कहानियाँ गढ़ी हैं, गलत हैं। क्योंकि आर्य जाति का सहस्रों वर्षों का इतिहास किसी अन्य जगह जब लिखा नहीं मिलता तब वह कहाँ गायब हो गया ? इस संबंध में भले ही कोई पुस्तक हो या न हो परन्तु निश्चय ही उस प्राचीन इतिहास की जनश्रुतियाँ, अनुश्रुतियाँ लोक में प्रचलित रही होंगी। घरों, परिवारों में ऐसी कथाएँ (दंतकथाएँ) सुनी-सुनायी जाती रही होंगी। पुराणों ने उन्हें भी लिपिबद्ध कर दिया। इन कथाओं से न सही इतिहास ना कम से कम झलक तो दिखलायी पड़ती ही है। वैसे पुराणों का लक्ष्य इतिहास लिखना नहीं रहा बल्कि यतो धर्म-स्ततो जयः का सिद्धान्त-निरूपण करना ही लक्ष्य था। सम्पूर्णानंद जी ने पुराणों के महत्त्व का सब प्रकार से स्वीकार करते हुए एक बात की ओर हमारा ध्यान दिलाया है कि वेदों में पृथक देवताओं को सद्दिष्ट करके मंत्र हैं पर पार्थक्य-भावना नहीं आ पायी, पर पुराण ऐसा न कर सके। फलतः विभिन्न देवताओं के साथ लोगों में भी पार्थक्य की भावना सीमातीत हो गयी। जिसका दुष्परिणाम मुस्लिम आक्रमण के समय हम देखते हैं। पुराण एक भी ऐसा केन्द्रीय ग्रंथ न प्रस्तुत कर सके जिसके सामने सभी सम्प्रदाय के उपासकों का मस्तक नत होता। पुराणों ने जो दूसरा बुरा कार्य किया वह यह कि वेदों को अपदस्थ किया तथा महापुरुषों के चरित्रों के द्वारा नीच से नीच कार्य करवाया गया। सम्पूर्णानंद जी के मत से मैं पूरी तरह सहमत हूँ कि वैदिक मतों को अनुपयोगी तथा वैदिक देवों के प्रति जनता में घृणा उत्पन्न करवा कर पुराणों ने इस देश का, संस्कृति का तथा धर्म का क्या और कौन सा भला किया ? इस मूर्खतापूर्ण कृत्य के क्या-क्या ऐतिहासिक दुष्फल हुए, इनकी चर्चा इस समीक्षा में करना सुकर न होगा।

इस पुराण-काल में त्रिदेव का सिद्धान्त बलवान हुआ। वेदों में त्रिदेव की ओर संकेत मिलता है अग्नि वायु और आदित्य यह गये कर्मकाण्ड गया वैदिक दर्शन

गया, वैदिक देव दुर्दशा को प्राप्त हुए तथा वैदिक त्रिदेव परित्यक्त हुए परन्तु परम्परा फिर भी बनी रही। त्रिदेव के सूने आसनों पर ब्रह्मा, विष्णु तथा महेश स्थापित हुए। सृष्टि के उदय, पालन एवं विनाश के सिद्धान्त के आधार पर मनन-चिंतन के द्वारा इन त्रिदेवों का महत्त्व, स्वरूप आदि निर्मित हुआ। इस निर्मिति के दौरान भी पुराणकारों की कुछ महान मूर्खतापूर्ण कथाओं की चर्चा लेखक ने की है जिनसे क्या लाभ हिन्दू धर्म को तथा पुराण-कारों को हुआ यह समझ में नहीं आता। इस काल में देवी शक्तियों का अभ्युदय हुआ। पौराणिक देवताओं के बड़े-छोटेपन को लेकर भले ही झगड़ा चलता रहा पर तीनों महा-विद्याओं में यह स्वीकारा गया कि कोई भी किसी से छोटी या बड़ी नहीं है। सभी देवियाँ उस पराशक्ति की ही भेद हैं। इन पौराणिक देवी-देवताओं के स्वरूप, आयुधों तथा वाहनों आदि के पीछे गभीर चिन्तन मनन किया गया तथा यह स्वीकारना पड़ेगा कि इसके दार्शनिक आधार है। उदाहरण के लिए शंकर का वाहन वृषभ है। यह बल का प्रतीक है। उसके चार पाँव धर्म के चार स्तम्भ हैं। त्रिशूल में तीन फलक होते हैं जिसमें आधिभौतिक, आधिदैविक तथा आध्यात्मिक शूलों को नाश करने वाली शक्ति निहित होती है। इस काल में गणेश, हनुमान, शीतला आदि अनेकानेक उपदेवों की सृष्टि भी हुई।

पौराणिक युग की एक और महत्त्वपूर्ण देन है अवतारवाद। सम्पूर्णानंद जी ने अवतारवाद के सिद्धान्त पर बड़ा ही विवेकपूर्ण तर्क दिया है, उस पर ध्यान दिया जाना चाहिए। विस्तार-भय से उसकी समीक्षा यहाँ संभव नहीं, पर एक मौलिक बात को पुन. दोहराना चाहूँगा कि वैदिक जीवन-दृष्टि या धार्मिक दृष्टि थी —कृण्वन्तो विश्वमार्यम् अर्थात् जो आर्य नहीं है उन्हें भी आर्य बनाएँगे, लेकिन पुराण-काल में अवतारवाद का कारण यह दिया जाता है कि राक्षसों ने यज्ञ तथा वेदाध्ययन शुरू किया था अत: अवतार उनका नाश करने के लिए हुआ। कमाल है, यज्ञ या वेदाध्ययन करना बुरी बात थी ? यदि कोई दूसरा वेद का अध्ययन करने लगे तो प्रसन्नता की बात होनी चाहिए या उसके लिए सेना लेकर आक्रमण किया जाना चाहिए ?

इसी काल में तंत्र आदि का भी प्राबल्य हुआ। इस मंच पर शैव, शाक्त तथा बौद्ध महायान सम्प्रदायों के अतिरिक्त अन्य अवैदिक दर्शनों का भी किस प्रकार मिलन हुआ, इसकी ओर सम्पूर्णानंद जी ने संकेत किया है।

अंत में पुराणोत्तरकाल के बाद देश, धर्म की क्या दुरवस्था हुई तथा इस्लाम के बढ़ते प्रवेग को हिन्दू किस प्रकार नहीं झेल सका, इसका विवेचन ऐतिहासिक पृष्ठभूमि में किया गया है। मैं आशा करता हूँ कि भविष्य में कोई इस विषय पर कोई विशाल सांगोपांग ग्रन्थ रच कर, हिन्दी भाषा, हिन्दू धर्म तथा आधुनिक चिन्तन को आगे बढ़ाएगा।

स्वाधीनतापूर्व हिन्दी के संघर्ष का का इतिहास

प्रस्तुत पुस्तक अपने नाम से ही अपनी सीमा अवगत करा देती है। असल में १८५७ के बाद जब अंगरेजी सत्ता के पैर इस देश में मजबूत हो गये तब भारत की विभिन्न

भाषाओं ने फारसी का स्थान ग्रहण किया सन १८१० से लेकर १९५० तक का काल ही इस पुस्तक की प्रतिपाद्य सीमा है। इसमें भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र का भी भाषा के संबंध में एक राजकीय प्रपत्र के उत्तर में दिया गया एक महत्त्वपूर्ण वक्तव्य है जिससे स्पष्ट लगता है कि वह भाषा-समस्या के बारे में कितने चिन्तित तथा जागरूक थे। प्रस्तुत पुस्तक में १२ अध्याय हैं। आरंभ में ही एक बात कहना चाहूँगा कि यदि लेखक ने इस संघर्ष की सीमारेखा १९५० तक नहीं की होती तथा आज के वास्तविक एवं जीवंत परिपार्श्व में भी निर्भीक तरीके से प्रस्तुत किया होता तो यह पुस्तक ऐतिहासिक दस्तावेज न होकर ज्वलन्त ग्रन्थ हो जाती। लेखक ने ऐसा क्यों नहीं किया इस बारे में संप्रति चर्चा करना व्यर्थ है।

लेखक ने संस्कृत के पतन के बाद प्राकृत भाषाओं के उद्भव, उपरान्त विभिन्न मुस्लिम शासकों के काल में हिन्दी की अनिवार्यता का संक्षिप्त इतिहास-सा दिया है। असल में हिन्दू कर्मचारियों के लिए भी फारसी की अनिवार्यता अकबर के शासनकाल में उनके वित्तमंत्री टोडरमल की कृपा से हुआ। इन्हीं दिनों उर्दू किस प्रकार जन्मी यह हम सब जानते हैं। इस राजकीय उपेक्षा, उर्दू-फारसी के प्राधान्य का नतीजा हिन्दी के लिए यह हुआ कि १९वीं शती तक आते-आते हिन्दी में पद्य तो उन्नत दशा में मिलता है लेकिन गद्य का सर्वथा अभाव है। यह अभाव दोतरफा है। गद्य साहित्य तो नहीं ही था पर कोर्ट कचहरी के काम के योग्य भी वह अनेक वर्षों की मुगल शासकों की उपेक्षा के कारण न रहा। जब अंग्रेज शासक बने तब स्थिति और भी विषम हो गयी। नवाबी युग में उर्दू-फारसी के साथ कहीं-कहीं पर नागरी अक्षरों में हिन्दी (भ्रष्ट रूप में) दिख जाती थी पर अंग्रेज शासन धीरे-धीरे इस समस्या को नया ही रूप देने लगा। आरंभ में वह हिन्दू-मुसलमान किसी को भी असन्तुष्ट नहीं करना चाहता था अतएव कलकत्ते में पहले फारसी का मदरसा खोला, उपरान्त काशी में दस वर्ष बाद संस्कृत कालेज की स्थापना की। तत्कालीन अंग्रेजी शासन अभी तय नहीं कर पाया था कि शिक्षा का माध्यम संस्कृत रहे या अंग्रेजी। गवर्नर जनरल मिंटो ने १८११ में संस्कृत की ओर ईस्ट इण्डिया कम्पनी के डाइरेक्टरों का ध्यान दिलवाया था। फलस्वरूप १८२१ में कलकत्ता में एक संस्कृत कालेज की स्थापना की गयी। लेकिन संस्कृत का विरोध प्रसिद्ध नेता राजा राममोहन राय ने किया। सुधार का उपयुक्त माध्यम उनकी दृष्टि में अंग्रेजी थी। उस समय तक ईसाई मिशनरियों ने अपना जाल काफी फैला लिया था। उनके स्कूलों से पढ़े-लिखे लोगों को अंग्रेजी के कारण बहुत शीघ्र नौकरियाँ मिल जाया करती थी। अतः अंग्रेजी को प्राधान्य देकर देश में क्रमशः कालेज खुलने लगे। अतः सबसे पहले बंगाल सरकार ने कम्पनी के डाइरेक्टरों ने शासन की भाषा अंग्रेजी ही का सुझाव दिया। लेकिन तब कोर्ट-कचहरी की भाषा तत्संबंधी जिले की भाषा ही चलती रही, लेकिन १८३५ में मैकाले के कारण अंग्रेजी के पक्ष में निर्णय हो गया। राजा राममोहन राय जैसे व्यक्तियों के दृष्टिकोण की यह विजय हुई, जो यह समझते थे कि अंग्रेजी समृद्ध, आधुनिक तथा वैज्ञानिक भाषा है। फलतः उन्नत होती हुई सारी भारतीय भाषाओं की प्रगति न केवल रुक गयी वरन् कुछ तो और भी निर्धन होती गयीं

भाषा का यह प्रश्न कि अदालत में किस तथा भाषा का स्थान दिया जाए, सबसे कठिन था हिन्दी प्रदेश में। उर्दू प्रमुख रूप से अपने जन्म तथा प्रकृति दोनों से ही विदेशी फारसी भाषा की पुत्री थी। फारसी उर्दू को मुगलकाल से शासकीय भाषा का श्रेय प्राप्त था, यद्यपि फारसी उर्दू कभी भी जन-भाषा नहीं रही। अब जब देशी भाषा को चुनने का सवाल हिन्दी प्रदेश में आया तो वह उर्दू के पक्ष में गया। चूँकि हिन्दी प्रदेश के मुख्यतः कायस्थ, कश्मीरी नौकरियों के कारण उर्दू-फारसी सीखते थे अतः यह कहा गया कि उर्दू तो हिन्दू, मुसलमान सबकी भाषा है। ऐसा नहीं कि उर्दू भाषा तथा फारसी लिपि की अवैज्ञानिकता, अधिकमिलना की ओर अंग्रेजों ने ध्यान नहीं दिलाया। न्यायाधीश फ्रेडरिक जान शोर ने बड़े ही सटीक, तर्कयुक्त तथा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष में हिन्दी का पक्ष लेकर उर्दू का विरोध किया। इनका नतीजा यह हुआ कि नागरी लिपि का भी प्रयोग कोर्ट-कचहरियों में भ्रष्ट हिन्दी के रूप में किया जाने लगा। लेकिन मुसलमान, कायस्थ तथा कश्मीरी अहलकारों की कृपा के कारण जान शोर की पूरी मंशा तो पूरी कभी नहीं हुई बल्कि उर्दू की और अधिक विजय हुई। लेकिन इस बीच कभी भी अपनी भाषा के उचित अधिकार के लिए कोई संघर्ष नहीं हुआ। संभवतः यह मुसलिम शासन की गुलामी से ही मनोवृत्ति पैदा हुई कि अपनी भाषा छोड़कर शासकों की भाषा सीखने में गति-मुक्ति है। श्री रामगोपाल जी ने बिहार मे किस प्रकार उर्दू-हिन्दी के प्रश्न पर अदालती स्तर पर संघर्ष किया, इसे अलग अध्याय में वर्णन किया है। बिहार में उत्तर प्रदेश की अपेक्षा हिन्दी आन्दोलन ने अधिक सक्रियता दिखलायी। पर उत्तर प्रदेश में सरकार के जनभाषा, जनलिपि प्रयोग वाले आदेशों का बारंबार पालन नहीं किया गया। उर्दू के विरोध में भारतीयों के अतिरिक्त अंग्रेज मन्त्री, प्रिन्सीपल, विद्वानों ने भी अनेक तर्क दिये पर कोई नतीजा नहीं निकला। १८५७ की क्रान्ति के बाद हिन्दी का प्रबल पक्ष लेकर बंगाल के प्रमुख नेता डॉक्टर राजेन्द्र लाल मित्र ने चर्चा उठायी। शासकवर्ग एक सीमा तक हिन्दी के पक्ष में दिये जाने वाले तर्कों से प्रभावित भी होते थे, पर मुसलमान अहलकारों की बदनियती के कारण उर्दू का ही साम्राज्य बना रहा। लेकिन इस सबमें दोष हिन्दीभाषी जनता का भी था। जैसा कि आज भी है कि अपनी भाषा के लिए कोई प्रबल भाव था ही नहीं। विद्वान् लेखक ने अपनी इस पुस्तक में अनेक प्रमाण एकत्र कर सिद्ध किया कि हिन्दी में अपने सघर्ष में अत्यधिक विनयशीलता का परिचय दिया।

आठवें दशक में आकर हिन्दी का आन्दोलन कुछ व्यवस्थित स्वरूप ग्रहण करता है और विशेष रूप से यह भी राजा शिवप्रसाद सितारे हिन्द तथा भारतेन्दु बाबू हरिश्चन्द्र के नेतृत्व में। राजा साहब सा ही भाषा पर नागरी लिपि के पक्षपाती थे। भारतेन्दु ने १८८२ के राजपत्र के उत्तर में जो जवाब दिया था, जो कि आज तक अनुपलब्ध था, वह पहली बार दर्शाता है कि भारतेन्दु जी की भाषा के प्रश्न के बारे में कितनी तीव्र प्रतिक्रिया थी। बड़े ही तर्कपूर्ण ढंग से पर्यवेक्षण करते हुए आक्रोश व्यक्त किया कि उर्दू तो वेश्याओं की भाषा है।

अन्तिम दशक का आन्दोलन व्यापक युग का आंदोलन है। एक ओर काशी नागरी प्रचारिणी है तो व्यापक स्तर पर किस प्रकार हिन्दी का प्रश्न भारतीय राजनीतिक जागरण

आंदोलन के साथ जुड़ जाता है। शायद इसी [illegible] के आन्दोलन के प्रारम्भ में अंग्रेज जो एक दुस्साहस करना चाहते थे वह नहीं कर सके कि हिन्दी के लिए भी रोमन वर्णमाला चला दी जाए (जैसा कि स्वतंत्र भारत में अनेक बड़े नेताओं का आग्रह रहा है)। कालान्तर में गाँधी जी, जो कि हिन्दी के व्यापक आन्दोलन के कर्णधार थे, किन कारणों से 'हिन्दुस्तानी' के समर्थक बने—श्री लेखक ने निस्पृहता से दिखाया है। इस अंतिम दशक की अनेकानेक राजनीतिक धाराओं का प्रभाव, कुप्रभाव हिन्दी आन्दोलन पर भी पड़ा।

पुस्तक भारतीय संविधान में हिन्दी की स्वीकृति पर खत्म हो जाती है। लेकिन कितना अच्छा होता कि इतनी ही निर्ममता से लेखक ने बाद के कांग्रेसी शासकों, नेताओं के भी असली स्वरूप को सामने रखा होता। इससे पाठकों को बेचारी हिन्दी की घोर असफलता, उपेक्षा अपने ही शासन के संदर्भ में भी स्पष्ट हो जाती। फिर भी पुस्तक बड़े काम की है। एक शब्द गलत छपा है—शब्द 'पृथक' है, 'प्रथक' नहीं।

हिन्दी-काव्य में प्रतीकवाद का विकास

तीनों पुस्तकों में सबसे भारी-भरकम ग्रन्थ यही है। बहुत सोचता रहा कि इतने विशाल ग्रन्थ पर बहुत कुछ कहा जाना चाहिए था पर बार-बार यही सोचता रहा कि वस्तुत इतने बड़े ग्रन्थ को कोई आद्यन्त पढ़ भी सकेगा ?

हिन्दी-काव्य के सन्दर्भ में जिस प्रतीकवाद की बात उठायी गयी है उसकी मुद्रा इतनी गंभीर है कि उस पर क्या कहा जाय ? इसके लिए जिस वैदिक, दार्शनिक, तांत्रिक, यौगिक प्रतीकवाद की पृष्ठभूमि तैयार की गयी, उसकी सार्थकता समझ में नहीं आयी। क्योंकि 'प्रतीकवाद' से जो तात्पर्य आधुनिक सन्दर्भ में लिया जाता है क्या वह उसी सन्दर्भ में प्राचीन-काल अथवा ऐतिहासिक परिप्रेक्ष्य में लिया गया था ? तब प्रतीक योजना को प्रतीकवाद के साथ जोड़ना क्या अर्थ रखता है ? एक मनोवृत्ति हिन्दी शोध-ग्रन्थों की प्राय: देखने में आती है कि आज की हर बात की पुष्टि के लिए प्राचीनकाल तक का मार तूमार खड़ा कर दिया जाता है। और मजा यह कि इस प्रकार की बातों पर स्वयं शोध-छात्रों का विश्वास नहीं हुआ करता, पर बेचारे वे लोग अपने तथाकथित इन गुरुओं के भय के कारण करते हैं। पता नहीं यह हिन्दी प्राध्यापक नाम का जो जीव होता है यह इतना बेतुका क्यों होता है ? यह बेतुकापन इन गुरुओं द्वारा संपादित, संकलित, निर्देशित कृतियों में भली प्रकार देखा जा सकता है। इसी का नतीजा यह होता है कि हिन्दी विभागों के प्राध्यापक, छात्र-छात्राएँ इतने 'विद्वान' होते है कि बस। 'हिन्दी काव्य में प्रतीकवाद का विकास' शीर्षक है और दुहाई वेदकाल से दी गई है। जैसे कि हिन्दी भाषा, साहित्य का सम्पर्क वैदिक मनन, चिन्तन, दर्शन तथा साहित्य से रहा हो। एक और भी मनोवृत्ति नहीं समझ में आती कि संस्कृत के मनन-चिन्तन की परंपरा को केवल हिन्दी किस प्रकार अधिकृत करती है ? पृष्ठभूमि के रूप में, नैरन्तर्य का आभास देने के लिए संभव है कुछ प्रयुक्त किया जा सकता है पर हिन्दी के शोध-ग्रन्थों में जो रूप दिखता है वह निरा हास्यास्पद होता है। अन्य भाषा-भाषी साहित्यो में यह मनोवृत्ति इस मात्रा में नहीं मिलती

इस ग्रन्थ की एक विशेषता यह है कि इसमें भूमिका डॉ० रामकुमार वर्मा की है, जो कि इसके 'गाइड' भी हैं। छायावाद के प्रकरण में उनकी जो स्तुति हुई है वह भी दर्शनीय है। इसके अलावा इसमें एक इंटरव्यू भी उनका मुद्रित है। जिसके बारे में स्पष्ट कहा जा सकता है कि उसे पढ़कर प्रतीकवादी काव्य के बारे में ही नहीं, किसी भी प्रकार का कोई अर्थ कविता के बारे में नहीं निकलता। भला इस प्रकार की तथाकथित गुरु वंदनाओं से शोध का क्या लाभ होता है, नहीं जानता। यहाँ से वहाँ तक ऐसी भाषा प्रयुक्त हुई है कि उसे समझने की चेष्टा ही व्यर्थ है। ऐसे ग्रन्थों के लिए गुरु और शिष्य 'एकलव्य' दोनों ही प्रणम्य हैं।

श्री नरेश मेहता
९९ ए, लूकरगंज
इलाहाबाद

खोया हुआ प्रभामंडल उपेन्द्रनाथ अश्क की कविताएँ

प्रकाशक : नीलाभ प्रकाशन, इलाहाबाद
पृष्ठ संख्या : ७९
मूल्य : चार रुपये

'खोया हुआ प्रभामंडल' अश्क की सन् १९६० से ६५ तक की लिखी २६ कविताओं का संकलन है। कालक्रम की दृष्टि से यह पुस्तक कवि का सृजन-विकास समझने में पर्याप्त सहायता कर सकती है। अश्क का कवि छायावादी वायुमंडल में साँस लेकर तरुण हुआ है और नयी कविता को उसने अनुभव की आँखों से देखा है। परिणामतः इन दिनों की रचनाओं में वह दोनों की कमजोरियों को बचाता हुआ अपने काव्य को यथार्थ की आधारभूमि पर प्रतिष्ठित करने में सचेष्ट दिखाई पड़ रहा है।

उत्तरकालीन छायावादी कविता जिस प्रकार अपनी काव्य-वस्तु में सीमित होकर रह गई थी उसी प्रकार नयी कविता भी व्यक्तिमूलक एकान्तवादी स्वर में संकीर्ण हो गई। यद्यपि दोनों की सृजन प्रेरणा भिन्न-भिन्न प्रकार की है, लेकिन यह ध्रुव सत्य है कि वर्तमान विषमताओं के बीच मार्ग खोजने का सामर्थ्य दोनों ही के पास नहीं है। अश्क की प्रस्तुत कविताओं में पलायनवादी भाव कहीं-कहीं पकड़े जा सकते हैं, यथा—

मैं नहीं उड़ता
अरे हिम-शिखर पर गाते हुए
मुझको बुलाते
साथियो मेरे

परन्तु कवि का न उड़ना उन सबके कारण है—

जो कि उड़ना चाहते थे
उड़े भी
पर उड़ न पाये।

दूसरे शब्दों में यह दैहिक अगति वस्तुतः मानसिक प्रगति की सूचक है, दृढ़ संकल्प और उद्‌बुद्ध सहानुभूति का परिणाम है :—

मैं नहीं उड़ता...........
कभी यों सोचता हूँ—
साथ ही लेकर इन्हें गिरि-शृंग पहुँचूँगा
मगर जब देखता हूँ बेबसी इनकी
उड़ानें भूल जाता हूँ।

पाठक देखेंगे कि छायावादी 'स्वप्न नीड़' ने कवि को नहीं रोक रखा, प्रत्युत उसकी यथार्थवादी दृष्टि ने गति अवरुद्ध कर दी है। सामाजिक स्थितियों और वर्जनाओं के व्यूह-जाल में फँसे बुद्धिवादी के लिए दमघोंटू जीवन की उमस का अनुभव करना स्वाभाविक है, लेकिन उस जीवन को ज्यों-का-त्यों स्वीकार कर लेना आंतरिक संघर्ष के अभाव का परिचय देता है :—

मैं समझता था—
इसी कमरे की
यह नियति है
देखता हूँ—
इसके गिर्द जितने भी कमरे हैं
ऐसे ही लोगों से
घुटे हैं
ऐसी ही फुसफुसाहटों से भरे हैं
इसी नियति से
बँधे हैं।

इस प्रकार की रचनाएँ, जिनकी परिणति निराशा में है और जो पाठक को कहीं भी नहीं ले जातीं, गतयुगीन काव्य की अवशेष कही जा सकती हैं। यह संतोष की बात है कि ऐसे किंकर्त्तव्यविमूढ़ विचार अश्क की थियरी नहीं बने। एक समय था जब कवि के व्यक्तित्व में अपूर्व प्रकाश था। उसकी आस्थाएँ, उसके विश्वास, उसकी साधें, उसके सपने गहरे अंधकार में भी हतदर्प नहीं होते थे :—

मेरी आस्थाएं और मेरे विश्वास
मेरी साधें और मेरे सपने
अपने हाथों में रंग-बिरंगी मशालें लिये
रात की तनहाइयों का मन बहलाते थे।

परन्तु अब

ये रातें, अरग बादल
तुम्हारे और मेरे बीच जिन्होंने
दृष्टियों का विनिमय तक असंभव बना दिया है,
मेरे ही महासागरों से उठकर
मुझी को शराबोर करते हुए
रीतकर, चुककर
गफ़िल
गफ़
मेरे सारे अस्तित्व पर छा गये हैं।

उम्र की यह माँग, समय का यह परिवर्तन एक अन्य कविता में भी व्यंजित है, मगर यहाँ असफलता स्वीकार करने अथवा मृत्यु के आगे घुटने टेकने का दौर्बल्य नहीं है। इस कविता में मानवीय जिजीविषा का स्वर अत्यंत उच्च तथा दुर्दमनीय है :—

तभी शब्द के बीज बो दिये मैंने अगणित
ताकि मुझे जब रौंद चला जाये
लोहे का गोला
बीज कोष में धरती की
बेगिनती परतें
मेरा ही प्रतिरूप विटप फिर-फिर लहराए।

नयी कविता की बौद्धिक दुरूहता तथा छद्मानुभव इन कविताओं में नहीं मिलता। यह प्रसन्नता का विषय है। मगर नयी कविता का सौन्दर्य-बोध भी कवि ने नज़रअन्दाज कर दिया है। सौन्दर्य-बोध का प्रमाण है बिम्ब, जो कवि के अप्रस्तुत-योजना-कौशल पर निर्भर रहता है। पृष्ठ ७५ पर—

···ओ रुपहरे चाँद
बौर के गुच्छे सरीखा
गंध की किरणें उड़ाता
रुक गया तू इस घने राजाम्र पर !

एक-दो उदाहरण छोड़कर हृदय को अपनी ओर आकृष्ट करने वाले बिम्बों का इस संग्रह में अभाव है। हाँ, कविता-कथ्य प्रायः प्रतीक के सहारे अभिव्यक्त किया गया है, उदाहरणार्थ 'ओ प्रमथ्यु के वंशजो', 'बबूल', पत्तियाँ तो झर गयी हैं' और 'लोहे का गोला' कविताएँ द्रष्टव्य है। प्रतीक रूढ़ हैं, लेकिन कथ्य नया है।

यथार्थ-दृष्टि बाह्य परिस्थितियों एवं मानवीय परिवेश का अन्तर्भेदन करने में एक श्लाघ्य सीमा तक सफल हुई है। 'तब इसका क्या होगा' कविता में टूटे-हारे थके मानव की तस्वीर इन शब्दो में खींची गई है

मैं जो एक बवंडर की नियति लेकर आया था
रमकती
हवा बनकर रह गया हूँ !

कवि चिन्तन करता है कि :—

यह मेरा अहं
जो सबसे बड़ी
   कड़ी
मजबूत बेड़ी है
मुझे भुलावा देता है

फलस्वरूप "हाँ यह सब मेरा है'—मैं सोचता हूँ" । अब कवि प्रश्न करता है कि—

वह जिसने मुझे बनाया है
यह सारा साज जिसने फैलाया है
क्या वह भी यही सोचता है ?
लेकिन यह रमकती हवा तो एक दिन
थम जाएगी
तब उसका क्या होगा ?

पाठक महसूस करेंगे कि दर्शन-अदर्शन के इस बेमेल-मेल से काव्य-लक्ष्य पंक्चर होकर रह गया है । अहं भौतिक क्षेत्र में प्रगति, मगर अन्यात्म जगत की नियति है । यहाँ 'तब उसका क्या होगा' पंक्ति में दर्शन एवं विश्लेषण दोनों ही चुक गए हैं ।

इस संग्रह का सबसे अधिक प्रखर स्वर व्यंग्यात्मक है । प्रजातंत्र का खोखलापन, नालायकों का अधिकारदर्प एवं पद-लोलुपता आदि बहुत सशक्त शब्दों में व्यक्त हुए हैं :—

मैं जब पहुँचा
वे अपने पशु-श्रेष्ठ होने के दर्प में
                                    चूर
                        नशे में मख़मूर
जश्न मना रहे थे ।
बकरियाँ (जो कभी थीं)
उनकी संगिनियाँ
हाथों में जाम लिये
शेरनियाँ बनीं
सियारों से चुहलें कर रही थीं ।
सरदार अपने बाप की दाढ़ी नोच रहा था ।
दो बंदर एक बया का घोंसला खसोट रहे थे ।
उन्हें गिला था—
कि जब वे बोये मारे लगा रहे थे

वह कम्बख्त
कला की बारीकियों में जान खपा रहा था।

'लकड़बग्घे' कविता भी इसी प्रकार संघर्ष-विहीन जीवधारी रियाकारों पर चोट करती है।

कहने की आवश्यकता नहीं कि यथार्थवादी रचना अधिकाधिक वर्णनात्मकताविल हो जाती है। यह प्रकथन-प्रधानता अश्क की इन कविताओं में है। प्रकथन भाव-गांभीर्य एवं व्यंजना की गहराई का असहगामी है। फिर भी इन रचनाओं में वर्तमान परिस्थितियों के प्रति जागरूकता, सड़ी-गली धारणाओं पर चोट करने की शक्ति तथा व्यंग्य के माध्यम से प्रबल संदेश देने की क्षमता है। कवि की दृष्टि पैनी तथा भाषा सजीव है।

डॉ० मोहन अवस्थी
हिन्दी विभाग
इलाहाबाद यूनीवर्सिटी

आधुनिक उर्दू काव्य-साहित्य
जाफ़र रज़ा का आलोचना-ग्रंथ

प्रकाशक : पी० सी० द्वादशश्रेणी एण्ड कम्पनी, इलाहाबाद
पृष्ठ संख्या : २०४
मूल्य ६'५०

हिन्दी साहित्य के विकसित रूपों और उसके व्यापक विस्तार को देखते हुए यह आवश्यक हो जाता है कि वह भारत की सभी भाषाओं के उत्कृष्ट साहित्य और उसके विभिन्न प्रयोगों और प्रवृत्तियों से न केवल परिचित रहे वरन् वह उनके स्वस्थ-तत्त्वों से प्रभावित होकर निखरे और बने। हिन्दी भारतीय जन मानस की समग्रता का प्रतिनिधित्व बिना इस कठिन साधना के नहीं कर पाएगी और उसमें वह अजनबीपन रहेगा जो अन्य भाषाओं से पृथक किये रहेगा। मैं समझता हूँ, स्वातंत्र्योत्तर काल की संकलानिष्ठा भी इसी समग्रता में अभिव्यक्ति पा सकती है।

"आधुनिक उर्दू काव्य साहित्य" का प्रकाशन हिन्दी में हुआ है और पूरी पुस्तक को पढ़ने के बाद स्वातंत्र्योत्तर की अवधि में उर्दू के आधुनिक काव्य ने जितनी करवटें ली हैं, जिन-जिन परिस्थितियों और संवेदनाओं का साक्षात्कार किया है उसका विश्लेषणात्मक परिचय इससे मिलता है साहित्य की विभिन्न प्रवृत्तियों का विवेचन और उनके प्रस्तुत

संदर्भ के आधार पर राष्ट्रीय एवं सांस्कृतिक कारणों का अध्ययन इस पुस्तक में काफी दायित्वपूर्ण ढंग से किया गया है। इस पुस्तक के नियोजन और उसके रचनात्मक गठन में इस बात का विशेष ध्यान रखा गया है कि सारी उर्दू कविता का भारत के राष्ट्रीय जीवन और उसके विभिन्न पक्षों के साथ साम्य बैठ जाय। यद्यपि यह इस पुस्तक का एक विशेष गुण है, लेकिन यही इसकी कमी भी है। साहित्यिक प्रवृत्तियां, मात्र किसी राष्ट्रीय और सामाजिक परिस्थितियों के कारण ही नहीं विकसित होती हैं। इनका घात-प्रतिघात साहित्य पर पड़ता जरूर है, लेकिन यह आवश्यक नहीं है कि उनका ऐसा प्रभाव पड़े कि किसी भी नयी साहित्यिक प्रवृत्ति के लिये साहित्यक कारण गौण हो जायँ और मात्र व्यापक परिवेश ही मुख्य हो जाय।

डॉ० जाफ़र रजा की प्रस्तुत पुस्तक से जहाँ सहमति हो सकती है, वहीं मेरे जैसे लेखक की गहरी असहमति भी होगी। साहित्यिक प्रवृत्तियों के जन्म का मुख्य कारण एक प्रचलित शैली का चुक जाना, भाषा के प्रचलित मोहावरों (idioms) का निरर्थक हो जाना, शिल्प-विधान में रूढ़ियों का विकसित होना और विषय का इतना अधिक साधारणीकरण हो जाना कि वह सरलीकरण के स्तर पर व्यवहृत होने लगे—होता है। डॉ० जाफर रजा की इस विश्लेषणप्रधान पुस्तक का नाम 'व्यापक राष्ट्रीय और सांस्कृतिक संदर्भ में आधुनिक उर्दू काव्य का विवेचन' होता तो संगति अधिक बैठती, लेकिन एक सामान्य शीर्षक 'आधुनिक उर्दू काव्य साहित्य' दे देने से पूरे आधुनिक उर्दू साहित्य के सम्पूर्ण का बोध होता है। लेखक द्वारा विवेचित उन साहित्यिक प्रवृत्तियों को, जो स्पष्टतः दीख पड़ती हैं और उन्हें केवल वाह्य लक्षण ही कहा जा सकता है, साहित्यिक और सैद्धान्तिक आधार पर जब मैं इन प्रवृत्तियों का विश्लेषण इस पुस्तक में ढूंढ़ने की कोशिश करता हूँ तो निराशा होती है। क्योंकि मेरे जैसा व्यक्ति यह मानने को तैयार नहीं है कि गजल के माध्यम को छोड़कर नज्म और मसनवी कुरुद्दस और कतों की शैली छोड़कर आज़ाद नज़्र में लिखी गई सारी कवितायें केवल इसलिए महत्त्वपूर्ण हैं कि देश में साम्प्रदायिक दंगे हो गये या गान्धी जी को गोली लग गई या देश का बँटवारा हो गया।

ठीक इसी प्रकार उर्दू के वाक्यों के बारे में भी कहीं-कहीं कहा गया है। क्या यह कहना उचित होगा कि फिराक और फैज या कि नून मीम राशीद और मीराजी ने उर्दू की चिर-परिचित बिम्ब-योजना और प्रतीक योजना में एकदम क्रान्तिकारी परिवर्तन इसलिये किये कि उनपर देश और समाज और संसार का बड़ा गहरा प्रभाव पड़ा? क्या उसका कोई सौन्दर्यात्मक कारण और अभिरुचि (test) और गठन (structure) या यह कि सम्पूर्ण रचना-प्रक्रिया (creative process) में कोई ऐसी आन्तरिक तहरीक काम कर रही थी कि जिसने उन्हें चिर-परिचित शैलियों और विधाओं के अतिरिक्त भी नये तरीके पर सोचने-समझने तथा परिवर्तन लाने की आवश्यकता अनुभव हुई। मैं समझता हूँ कि केवल एक यही कमी है जो डॉ० रजा की सारी चेष्टा को अधूरी बना देती है। यह कहना तो उचित नहीं होगा कि डॉ० रजा ने केवल कुछ मोटी-मोटी सतही सुर्खियों के अन्तर्गत पूरे काव्य आन्दोलन को रख कर देखने की कोशिश की है लेकिन यह जरूर है कि मेरे जैसे पाठक के लिये यह

प्यास फिर भी शेष रहती है कि मैं उनके कलात्मक तत्वों और विशेषताओं की गहराई भी पा लूँ जो किसी भी साहित्य की मूल प्रवृत्तियों के अध्ययन के लिये नितान्त आवश्यक है।

वस्तुतः मुझे उर्दू समीक्षा में यह कमी बराबर खटकती रही है। आधुनिकता का अर्थ उर्दू में अभी तक केवल सामाजिक तत्वों को समाहित कर लेना ही माना गया है। डॉ० एहतशाम हुसैन ने भी पुस्तक की भूमिका में जिस पक्ष को प्रस्तुत किया है वह केवल राजनैतिक, आर्थिक और औद्योगिक ही हैं। शायद डॉ० एहतशाम साहब ने भूमिका में उन कलात्मक अनिवार्यताओं पर प्रकाश इसलिये भी नहीं डालना चाहा क्योंकि स्वयं डॉ० रजा ने अपनी पुस्तक में उस पक्ष को लिया ही नहीं है। ऐसी स्थिति में डॉ० एहतशाम हुसैन की भी एक सीमा बँध जाती है। लेकिन डॉ० रजा जब तक उर्दू काव्य-साहित्य के उस पक्ष का भी समावेश नहीं करते या एक दूसरी पुस्तक उस दृष्टि से नहीं रखते, तब तक यह अध्ययन पूर्ण नही माना जायगा।

उपर्युक्त कमी का उल्लेख करने के बाद इस पुस्तक के प्रस्तुत विषय विवेचन, अनुशीलन और अध्ययन पर विचार करने से यह स्पष्ट हो जाता है कि उर्दू काव्य का आधुनिक युग राष्ट्रीय जीवन में व्याप्त अनेक तथ्यों के प्रति अपेक्षाकृत अधिक जागरूक रहा है और अपनी प्रतिक्रियाओं को बड़ी सफलता के साथ साहित्य में चित्रित करने की भी कोशिश की है। डॉ० रजा की यह पुस्तक कुल दस अध्यायों में बँटी है। पहला अध्याय "स्वतंत्रता के पूर्व उर्दू काव्य की रूपरेखा" है। दूसरा अध्याय "स्वतन्त्रता की उत्सर्ग वेदी" है। चौथा अध्याय "महात्मा गान्धी की हत्या" और उससे प्रभावित उर्दू काव्य है, पाँचवाँ अध्याय "विश्व शान्ति आन्दोलन" से सम्बन्धित कविताओं पर है, छठा अध्याय "अन्तर्राष्ट्रीय विवेक" पर आधारित काव्य पर है। सातवाँ अध्याय देश की समस्यायें और असफलतायें हैं, जिसमें राष्ट्र की योजना और उनकी धड़कनों को चित्रित किया गया है। आठवाँ अध्याय "रोमांस एवं प्रेम सम्बन्धी प्रवृत्तियों" पर है। नवाँ अध्याय हास्य एवं व्यंग्य सम्बन्धी प्रवृत्तियों पर है और दसवाँ अध्याय "स्वस्थ मूल्यों की आकाशगंगा" पर है, जिसमें आधुनिक युग के मूल्यों और प्रतीकों आदि पर प्रकाश डाला गया है।

यदि कोई इस पुस्तक की विषय-सूची पढ़े तो उसे उर्दू काव्य के विषय में कम, लेकिन विभिन्न आन्दोलनों का अच्छा खासा विवरण मिल जायगा। अन्तिम तीन अध्यायों को छोड़कर शेष सात अध्यायों में केवल आन्दोलनों और समस्याओं का विवरण है, जिसमें साहित्य गौण हो जाता है, विषय प्रमुख हो जाते हैं। मेरा अपना अनुभव यह है कि कम-से-कम आज के युग में किसी बड़े विषय के नाम पर साहित्य बड़ा नहीं हो सकता। यदि किसी ने गंगा पर कविता लिखी है तो मात्र गंगा के नाम से कविता बड़ी हो नहीं जायगी। कविता में काव्य-तत्वों के संयोजन और निरूपण से ही काव्य बड़ा हो पाएगा। लेकिन उर्दू की प्रतिभाएं, जो केवल विषय की महानता से साहित्य की महानता मान लेते हैं प्राय, यही भूल कर बैठते हैं। वह यह भूल जाते है कि काव्य का पक्ष अनुभूति की गहराई उतारना है न कि विषय की बड़ाई यही कारण है कि डॉ० रजा भी उर्दू काव्य-साहित्य के विश्लेषण में अनुभूतियों की विविधता के आधार पर प्रवृत्तियों का विकास प्रस्तुत करने के बजाय विषय की नवीनता से

ही चौंक जाते हैं। साहित्य का इतिहास या उसकी प्रवृत्तियों की विवेचना करते समय हमें उसकी नवीनता से ही बँधे नहीं रहना चाहिये वरन् उसके कलात्मक पक्ष को प्रतिष्ठित करने की चेष्टा करनी चाहिये।

गत बीस वर्षों पूर्व उर्दू साहित्य पर प्रगतिवादी विचारधारा (जो १९४० के आस-पास बड़ी तेजी से आई थी) हावी हुई थी, उसने पूरे दृष्टिकोण को ही एक सतही रूप दे दिया था। साहित्यिक और कलात्मक मार्मिकता की ओर उर्दू शायरों का ध्यान कम गया। जिन्होंने उधर कुछ ध्यान दिया भी, वह प्रगतिवादी विचारधारा के शोर-शराबे में बगल में खड़े रह गये और सारी बौद्धिक प्रगति का एक रुख सुभाषित की तलाश से बहकता रह गया। ऐसी स्थिति में किसी भी इतिहास लेखक के लिये कठिनाई हो सकती है, क्योंकि जितनी सामग्री उपलब्ध होती है वह केवल सामग्री ही नहीं होती, वह अपनी प्रकृति के अनुसार इतिहासकार को प्रभावित भी करती है। हिन्दी साहित्य में भी काल-विभाजन की परम्परा में जो कतिपय दोष चले आ रहे हैं, उनका भी यही कारण है। लेकिन इस स्थितिविशेष के कारण इतिहास लेखक क्षमा नहीं किया जा सकता, क्योंकि इससे उसकी जिम्मेदारी और भी बढ़ जाती है। विशेषतः इस दृष्टि से कि वह अधिक विश्लेषण और विवेचन की अपेक्षा रखता है। आधुनिक काल मे यह विवेक पैदा करना और भी क़ठिन होता है, क्योंकि हम उस काल-बोध के वर्तमान और नितान्त समसामयिकता के केवल साक्षी ही नहीं होते, वरन् उसके निर्माता और कुछ अर्थों में सहभोक्ता भी होते हैं। मैं समझता हूँ कि यदि किसी इतिहास लेखक में उपर्युक्त कमियाँ रह जाती है, तो वह क्षम्य भी समझी जा सकती हैं।

इस दृष्टि से देखने पर, बावजूद इस एक कमी के, डॉ० रजा का प्रयास नितान्त सराहनीय है, क्योंकि वर्तमान के पिघलते और ढलते हुये क्षणों को पकड़कर उसको एक ऐतिहासिक तटस्थता के साथ देखने और परखने का काम जितना साहस का हो सकता है, उतना ही दुस्साहस का भी परिचय दे सकता है। इसमें सन्देह नहीं कि डॉ० रजा ने इस पुस्तक के लिखने में बड़े धैर्य और साहस का परिचय दिया हैं। डॉ० रजा ने इस पुस्तक में जिन तत्त्वो को संग्रहीत करके प्रतिष्ठित करने की चेष्टा की है, उन्हें हम इस प्रकार रेखांकित कर सकते हैं :

(१) उर्दू का आधुनिक काव्य-साहित्य देश और काल की अनिवार्यताओं का परिणाम है और उर्दू के कवि उसके प्रति सतर्कता के साथ अपना दायित्व निभाते रहे हैं। यही नही, उर्दू के कवियों ने इस जागरूकता का परिचय भी दिया है और उसका आलेखन भी किया है।

(२) उर्दू का आधुनिक काव्य-साहित्य प्रगतिवादी विचारधारा का समर्थक होने के नाते व्यापक मानववादी पृष्ठभूमि को उभारने की चेष्टा करता रहा है।

(३) उर्दू का आधुनिक काव्य-साहित्य यदि राष्ट्रीय संदर्भ में राष्ट्रीय समस्याओ के प्रति जागरूक रहा है और उसमें गान्धी की हत्या से लेकर शरणार्थियों तक की समस्यायें रही है। यदि एक ओर चीन के आक्रमण के प्रति उर्दू का शायर रहा है तो दूसरी ओर उसने मानवीय दायित्वों को भी निभाया है

(४) एक विश्व व्यापक दृष्टि भी आधुनिक उर्दू-काव्य का मुख्य अंग रही है। यह विश्व व्यापकता जहाँ भावुक होकर अनेक नये संदर्भों का निर्माण करती है, वहाँ यह केवल रूढ़ार्थ रूप में भी प्रयुक्त दीख पड़ती है।

(५) आधुनिक उर्दू काव्य की अन्य नयी प्रवृत्तियों का भी उल्लेख इस पुस्तक में किया गया है। विशेषकर प्रयोगवाद को उर्दू में स्थापित करने की चेष्टा की गई है। इन नयी प्रवृत्तियों का विश्लेषण करने की भी चेष्टा इस पुस्तक में की गई है।

प्रस्तुत दृष्टियों से देखने पर इस पुस्तक का महत्व इसलिए और भी बढ़ जाता है क्योंकि हमें इस बात की एक हलकी सी झलक मिल जाती है कि आधुनिकतम प्रवृतियो को उर्दू साहित्य में किस प्रकार ग्रहण किया जा रहा है। स्वतंत्रता के बाद निश्चय ही उर्दू काव्य-साहित्य में एक नया मोड़ आया है और वह मोड़ धर्मनिरपेक्षता के संदर्भ में साहित्यिक और सांस्कृतिक विचारों के विकास और उनमें मौलिक रूप से परिवर्तनों की अनिवार्यता का द्योतक है। जाफ़र रज़ा निश्चय ही इस दृष्टि से पुस्तक के संयोजन और लेखन में सफल हुये हैं कि इन्होंने विचारों के अन्तर्द्वन्द्व और संघर्षों के प्रतिबिम्बों को सफलता के साथ अभिव्यक्त किया है। डॉ० रज़ा की जागरूकता और उनकी दृष्टि कई अर्थों में विश्लेषणात्मक शैली का परिचय देती है और उनमें यह क्षमता है कि वह तथ्यों का विवेचन करके उसका मूल्यांकन कर सकें। जैसा मैंने ऊपर कहा है, नितान्त समसामयिकता और वर्तमान को एक परिधि में रख कर लिखना कठिन होता है। इसमें सन्देह नहीं कि केवल दो एक पक्षों को छोड़कर शेष सभी पक्षो मे रज़ा साहब अपनी योजना में सफल रहे हैं।

उर्दू शायरी का बहुत बड़ा अंश ग़ज़ल में व्यक्त हुआ है। प्रायः उर्दू-साहित्य के पाठको को ऐसा लगता रहा है कि उर्दू को ग़जल से मुक्ति नहीं मिल सकती। जाफ़र रज़ा की इस पुस्तक से जो एक स्पष्ट बात दिमाग़ में आती है, वह यह है कि बावजूद इसके कि ग़ज़ल उर्दू-साहित्य का एक अभिन्न अंग है, आज यह कहा जा सकता हैं कि उर्दू में ग़ज़ल के अतिरिक्त विभिन्न शैलियों में लिखने की पद्धति शायद ग़ज़ल से भी आगे बढ़ चुकी है, खासकर आधुनिक युग की जटिल और विभिन्न स्तरों की अनुभूतियों को व्यंजित करने की दृष्टि के उपयुक्त नये छन्दों की योजना और मुक्त छन्द का प्रयोग भी किया जा रहा है। जाफ़र रज़ा की इस पुस्तक में उपलब्ध इन सूचनाओं के आधार पर हमें अर्थों के नये संदर्भो से जुड़ने और सम्पृक्त होने की अनिवार्यता में सहायता मिलती है।

इतिहास और विवरण में एक मौलिक अन्तर यह होता है कि इतिहास सम्पूर्ण देश-काल के साथ व्यक्ति की अनुभूतियों के द्वन्द्वात्मक शक्तियों के विवेचन के साथ-साथ उपलब्ध का मूल्यांकन करता है और विवरण केवल बाह्य आकार-प्रकार को अपने में समाहित करके उसे ग्रहण करने की चेष्टा करता है। इतिहास का दायित्व और उसका क्षेत्र इसीलिये अधिक महत्वपूर्ण माना जाता है। मुझे यह कहने में सन्देह नहीं है कि डॉ० जाफ़र रज़ा के पास वह दृष्टि है जो व्यापक और बिखरे हुये तथ्यों को इकट्ठा करके उसमें इतिहास की दृष्टि पिरो सकती है इस पुस्तक में दो एक पक्षो को छोड़कर शेष में उन्हें काफी मिली है।

ही दूषित हो जाता है। डॉ० रज़ा की सफलता यह रही है कि तथ्यों के संचयन और विवेचन से लेकर उनके विश्लेषण तक में वह उस तटस्थता को बनाये रखने में सफल हुये हैं। डॉ० एहतशाम हुसैन के शब्दों में हम यह कह सकते हैं कि—"ऐसा करने में उन्होंने किसी विशेष विचारधारा का आश्रय नहीं लिया है, बल्कि उन कवियों को भी लिया है जिनके विचार एक दूसरे के विरुद्ध हैं।" इस पुस्तक की सबसे बड़ी सफलता यही है कि लेखक इस तटस्थता को आदि से अन्त तक निभा सकने में सफल रहा है।

लेकिन इसी के साथ-साथ साधारण पाठक के मन में कुछ जिज्ञासाएँ भी उठती हैं और वह यह जानना चाहता है कि क्या उर्दू में भाषा और काव्य-रूपों के स्तर पर वे प्रयोग नहीं हो रहे हैं जो अन्य भारतीय भाषाओं में और काव्य-रूपों में हो रहे हैं। श्री रज़ा की इस पुस्तक में यह भी होना चाहिये था कि उर्दू की आधुनिक काव्य-भाषा कहाँ-कहाँ ग़ालिब, मीर, और दाग़ की ज़बान की बन्दिशों और तरकीबों को तोड़कर एक कलात्मक सृजन के स्तर पर भाषा की सर्वथा नयी हैसियत लेती है। इसके प्रमाण तो उद्धरित काव्य अंशों में मिलते है लेकिन उनका विश्लेषण करने में लेखक ने जैसे संकोच का अनुभव किया है।

इसी के साथ-साथ उर्दू में जो प्रयोग हो रहे हैं उनका केवल हवाला मात्र जाफ़र रज़ा ने दिया है। भाषा और भाव के स्तर पर यह प्रयोग आज के संदर्भ में उर्दू साहित्य में विशेष स्थान रखते हैं। यह बात और है कि वह प्रयोग भारत में हो रहा है या पाकिस्तान में, क्योंकि उर्दू में यदि कोई प्रयोग पाकिस्तान में हो रहा है तो वह हमारे लिये उतना ही महत्त्वपूर्ण है जितना कि भारत में। हो सकता है कि राष्ट्रीय और भावनात्मक स्तर पर हमारी भारतीय भिन्नता धारा से विपरीत उनकी प्रतिक्रियायें हों लेकिन यह भी संभव हो सकता है कि पाकिस्तान में कुछ नये साहित्यिक प्रयोग और भाषागत प्रयोग हो रहे हों। इस पुस्तक में यह एक कमी भी खटकती है।

यह सही है कि इतिहास ग्रन्थ में शिल्प विवेचन अधिक संभव नहीं हो सकता लेकिन उस पक्ष का भी एक क्रमिक इतिहास होता है और उसके परिवर्तनों में भी देश काल का प्रभाव होता है। हमारे भारतीय साहित्य में रेलगाड़ी, हवाई जहाज़, राकेट और इसी प्रकार के यन्त्रों का उल्लेख तो मिलता है लेकिन हमारी भाषा में गति, छन्द में नियोजन आदि अभी उन औद्योगिक और सांस्कृतिक चेतनाओं से उद्भूत नहीं हो सका है। किस सीमा तक हमारे शिल्प पर इनका प्रभाव पड़ा है और किस सीमा तक हमारी आन्तरिक चेतना में इन बाह्य उपकरणों का संगठनात्मक तत्व विकसित हुआ है, इसका भी मूल्यांकन आवश्यक है। मैं समझता हूँ कि फ़िराक़ की बौद्धिकता बहुत अंशों में इसीलिए उतनी प्रभावशाली नहीं हो पाती क्योंकि वह है तो इस युग की लेकिन भाषा और छन्द है आज से दो सौ साल पुराना। उनकी और उनके जैसे अनेक कवियों की चाहे वह, फ़ैज़ ही क्यों नहीं, बहुत सी गतिशीलता फंसकर रह जाती है।

फिर भी कुल मिलाकर "आधुनिक उर्दू काव्य साहित्य" की यह पुस्तक हमारे लिये उपयोगी होने के साथ-साथ महत्वपूर्ण भी है

हिन्दुस्तानी एकेडेमी, इलाहाबाद
के
महत्त्वपूर्ण प्रकाशन

पाश्चात्य साहित्यालोचन के सिद्धान्त श्री लीलाधर गुप्त	नैषध परिशीलन डॉ० चण्डिकाप्रसाद शुक्ल
चन्दबरदायी और उनका काव्य डॉ० विपिनबिहारी त्रिवेदी	मध्यकालीन हिन्दी सन्त : विचार और साधना डॉ० केशनीप्रसाद चौरसिया
साहित्य की मान्यताएँ श्री भगवतीचरण वर्मा	बालकृष्ण शर्मा 'नवीन' : व्यक्ति एवं काव्य डॉ० लक्ष्मीनारायण दुबे
श्री शंकराचार्य पं० बलदेव उपाध्याय	प्राचीन भारत में नगर तथा नगर जीवन डॉ० उदयनारायण राय
खड़ीबोली का लोकसाहित्य डॉ० सत्या गुप्त	पूर्वी पाकिस्तान के अंचल में सूर्य प्रसन्न वाजपेयी
मध्यकालीन भारतीय संस्कृति डॉ० गौरीशंकर हीराचन्द ओझा	कश्मीर भगवतीशरण सिंह
ग्रह-नक्षत्र डॉ० सम्पूर्णानन्द	भ्रष्टाचार और लोकसतर्कता नित्येन्द्रनाथ शील

- **एकेडेमी द्वारा प्रकाशित पुस्तकों की जानकारी के लिए विस्तृत सूचीपत्र निःशुल्क मँगावें।**
- **पुस्तक विक्रेताओं को विशेष सुविधा। नियमावली के लिए लिखें**